संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ५५

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के समयसार ग्रन्थ पर

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का उपदेश

समयोपदेश

(भाग-१)

(१-७३ गाथा)

जैन विद्यापीठ

प्रस्तुति

आर्यिका दृढ़मति ससंघ

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

समयोपदेश (भाग-१)

(आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के समयसार ग्रन्थ पर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का उपदेश)

प्रस्तुति : आर्यिका दृढ़मति ससंघ

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

सविनय समर्पण

तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी महाश्रमण की

मूलाम्नाय में

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन्त रूप

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक

रत्नत्रय के उत्कर्षक

श्रुत–आराधक समयसार एवं

मूलाचार के मूर्तिमान आध्यात्मिक संत

भारत देश की गरिमामयी ऋषि–परम्परा के

धर्मप्राण लोकप्रिय विश्वविख्यात महाकवि

दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी

महामुनिराज की आत्मान्वेषी, तत्त्वान्वेषी

इष्टोपदेशी पावन अनुपम कृति

'समयोपदेश'

आचार्यश्री के कर–कमलों में

सादर सविनय अर्पण–समर्पण

अनुक्रमणिका

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वासें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदिजी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव के समयसार ग्रन्थ पर आचार्य गुरुदेव ने कई बार वाचना की है। आचार्यश्री ने ग्रन्थ के गूढ़ रहस्यों को सिद्धान्त और अध्यात्म की समायोजना के साथ प्रस्तुत किया है। उसी प्रस्तुति को संकलित करके समयोपदेश के भागों के रूप में सुधीजनों के करकमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है। गुरुदेव की वाचनाओं का आलेखन, सम्पादन, परिष्करण का कार्य बहुत दुरूह है, लेकिन गुरुदेव के प्रति असीम भक्ति ने यह कार्य कराया है। परम वंदनीय आर्यिका श्री दृढ़मति माताजी ससंघ ने इस कार्य को करके जिनवाणी के भण्डार को वृद्धिंगत करने में सहयोग करके गुरुभक्ति प्रकट की है। एतदर्थ आर्यिका माँ एवं संघस्थ आर्यिका संघ के चरणों में वंदामि निवेदित करते हुए जैन विद्यापीठ कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आद्यमिताक्षरिका

भारत देश के साहित्य-सदन में 'जैन साहित्य' का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकरों के मुखारविन्द से निर्गत परम पवित्र सिद्धान्तों, आचरणों एवं विचारों की जन्मदातृ जिनवाणी की भौतिकता प्रधान वर्तमान इस युग में भी हम सभी के पुण्योदय से अध्यात्म की अजस्रधारा परम पूज्य अध्यात्मशिरोमणि कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थराज समयसार के रूप में उपलब्ध है। परम पूज्य अध्यात्मविभूषित विद्यामूर्ति आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज के द्वारा गोम्मटगिरि, इन्दौर में सन् १९९९ को श्री बाहुबली भगवान् की चरण-छाँव में चातुर्मास की पुण्य बेला पर यह उपदेश हुआ था। उस पावन उपदेश के द्वारा अखिल भारतवर्षीय विद्वत् समाज, समस्त साधुवृन्द एवं त्यागी-व्रती, मोक्षमार्गी, स्वाध्यायशील श्रावकों को समयसार ग्रन्थराज को समझने की विशेष दृष्टि प्राप्त हुई। इस ग्रन्थराज की पूर्व वाचना कर सन् १९८१ में भगवान् पार्श्वनाथ की समवसरण-स्थली एवं उनकी चरण-छाँव में श्री सिद्धक्षेत्र नैनागिरि पर समस्त संघ एवं श्रावकों को एक अपूर्व अवसर प्रदान किया था।

सन् १९८७-८८ में थूवौनजी में एवं मढ़ियाजी में तथा सन् २०१० में श्री अतिशयक्षेत्र बीना बारहाजी में इस ग्रन्थराज की वाचना हुई थी। इस प्रकार श्री समयसार ग्रन्थराज की चार बार वाचनायें सम्पन्न हुई हैं।

इस ग्रन्थ पर आचार्य जयसेन स्वामी ने अत्यन्त सरस, सरल, सुबोधमय स्पष्ट तात्पर्यवृत्ति एवं पूज्य अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति नामक टीका की रचना की है। इस नवीन प्रकाशित समयोपदेश कृति में आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा आचार्य जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका पर आधारित उपदेश संकलित किए गए हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस ग्रन्थराज का जिनवाणी-सेवा एवं वीरशासन के अध्यात्मतत्त्व की महत्ता को स्थापित करने में अपना अमूल्य योगदान है।

जीवन का वास्तविक परिचय प्रदायक, शरीर और आत्मतत्त्व के भेदज्ञान से परिपूर्ण, जीवन में नवीन अध्यात्ममय ज्ञानज्योति को प्रज्ज्वलित करने वाला, मनोविज्ञान के अनुसार अन्तर्दृष्टि एवं अन्तर्मुखी व्यक्तित्व को विकसित करने वाला अध्यात्मप्रधान, जिनवाणी सेवा के नये आयाम स्थापित करने वाला, विशिष्ट महत्त्वपूर्ण, अवर्णनीय, सम्माननीय, अद्भुत तत्त्वोद्घाटक समयसार पर प्रदत्त उपदेश सहस्राधिक वर्षों तक अत्यधिक गौरवमय स्थान प्राप्त करता रहेगा।

इस ग्रन्थराज को गरिमामय स्थान में स्थापित करने वाले परम पूज्य जिनवाणी के यथार्थ उद्घोषक, पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के

महानतम ग्रन्थों के अनुचिन्तक, अध्यापक, मूलाचार में कथित आर्यिकाओं के गुरु के समस्त लक्षणों से विभूषित, सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित, सरस्वती पुत्र का सम्पूर्ण विश्व अभिनन्दन करता है। श्रमणोद्धारक, श्रमण संस्कृति के संस्कारों से संस्कारित आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का जीवन समयसार एवं मूलाचार के सिद्धान्तों का आदर्श एवं साकार रूप प्रस्तुत करता है। आचार्यश्री के आशीर्वाद से समाज को जिनेन्द्रसेवा, तीर्थसेवा, गुरुसेवा, जिनवाणीसेवा, व्रतीसेवा, मानवसेवा, पशुसेवा, शासन-प्रशासनसेवा, शिक्षासेवा इत्यादि का ऐतिहासिक सुनहरा अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थराज की हिन्दी भाषा टीका पूज्य आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा हुई है। उनकी ज्ञानगरिमा समस्त साधु-समाज एवं विद्वत्-समाज को विदित ही है। आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का अनुपम उपकार एवं गुरुकृपा का प्रसाद उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी को प्राप्त है।

गुरु उपकारों से उपकृत आचार्यश्री जी ने सागर में सन् १९८० में षट्खण्डागम ग्रन्थ की वाचना के समय विद्वत्समाज एवं समस्त सागर समाज के बीच एक बार धर्मोपदेश सभा में कहा था कि- मैं सिद्ध परमेष्ठी बन जाऊँगा, तो भी अपने गुरु के उपकारों को नहीं भुला सकूँगा। गुरुमुख से निःसृत उक्त शब्द-मुक्ताओं से गुरु-भक्ति एवं समर्पण का अनुपम आदर्श प्रस्तुत हुआ है। हम सभी शिष्य एवं शिष्याओं का समुदाय भी आचार्यश्री के उपकारों से उपकृत है। हम सभी भी सिद्ध बन जायेंगे तो भी उनके उपकारों को नहीं भुला पायेंगे। गुरु-उपकार ऋण चुकाने की क्षमता हमारे पास है भी कहाँ? माँ के समान गुरुवर अपने अनुभव और ज्ञान को मिलाकर, घोल-घोलकर पिलाते जाते हैं। आत्म-हितैषियों के लिए हित का उपदेश देते हैं। उनका चिन्तन बोलता है कि-चिन्ता छोड़ो, निश्चिन्त रहो, चिन्तन की धारा बहने दो।

ऐसे परम गहन दार्शनिक चिन्तक आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा उपदेशित ग्रन्थ का आर्यिका संघ में स्वाध्याय किया गया। स्वाध्याय प्रारम्भ करते ही उसके विषयों का, उपदेश-शैली का, मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा, ऐसा लगा कि यह उपदेश समस्त स्वाध्यायप्रेमियों तक पहुँचना चाहिए। इसी उद्देश्य से सन् २०१२ में श्री अतिशयक्षेत्र पनागर से इसका लेखन प्रारम्भ किया था। इस ग्रन्थराज का प्रारम्भिक कार्य आर्यिका श्वेतमतिजी के द्वारा हुआ था। उनके द्वारा लिखित प्रति से अध्ययन किया। उनका अथक परिश्रम श्लाघनीय है। ब्राह्मी विद्या आश्रम की संचालिका ब्राह्मी मणिबाईजी द्वारा इसकी प्रति प्राप्त हुई। ग्रन्थ प्रकाशन की भावना स्वयं की रही, लेकिन कतिपय सुधी श्रद्धालु महानुभावों की भावना थी कि-इस ग्रन्थ का सम्पादन आर्यिका संघ के द्वारा होना चाहिए। अतः गुरु-आशीष लेने का प्रत्यक्ष अवसर तो नहीं मिल पाया। परोक्ष में ही अपनी उत्कट भावना उनके निकट प्रेषित की गयी। वे तो कुछ कहते नहीं और सच में उन्होंने कुछ कहा भी नहीं। लेकिन आचार्यश्री

की ग्रन्थ वाचना की कृतियों का स्वाध्याय करके स्वत: मैंने एक लक्ष्य निर्धारित किया कि कितना भी समय लगे, शरीर साथ दे या न दे, मैं तो परम गुरु की चिन्तनपूर्ण वाणी का ही लेखन करने में सर्वस्व जीवन अर्पण करूँगी। मुझे अपनी तरफ से कोई रचना विशेष नहीं करना है। गुरु की कृतियों के लेखन में से अपने आपको लखने की सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर सकूँ, इस अन्तरुद्देश्य से इस लेखन कार्य को करने का साहस किया। इसे कोई सम्पादन न समझे। मैं गुरु की कृति का सम्पादन करने का दुस्साहस नहीं कर सकती। फिर भी आप सभी विद्वज्जन या साधुजन सामान्य पाठकजन इसे सम्पादन शब्द देते हैं तो...। इस कार्य में जो, जहाँ, जैसे ग्रन्थ प्रमाण देने की आवश्यकता हुई, उनको वहाँ संकलित करने का प्रयास किया है। उनमें जो त्रुटि समझ में आये, सुधी पाठकगण सुधार कर पढ़ें और अगले प्रकाशन में सुधार हेतु उनसे परिचित भी कराने का कष्ट करें।

आचार्यश्री जी के भावों को यथावत् रखने के साथ उनकी भाषा-शैली को भी पूर्णत: सुरक्षित रखा गया है। दृष्टान्तों को पृथक् स्थान दिया है। कहीं-कहीं उपदेश के विषय प्रवाह से हटकर कोई विषय आया है तो जिज्ञासा-समाधान के रूप में रखा है, क्योंकि अनेक रुचि वाले श्रोतागण अनेक जिज्ञासाओं को प्रस्तुत करते हैं तो वक्ता को उनका समाधान देना ही पड़ता है। आचार्यश्री जी के विशेष चिन्तन बिन्दुओं को इसी शीर्षक से दिया गया है। साथ ही अध्ययन कराते समय शिष्य संघ को भी विशेष सम्बोधन उनके हितार्थ दिए गये हैं। कहीं-कहीं वाक्य संरचना को व्यवस्थित करने की अनिवार्यता होने पर उन्हें सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया है। कुछ वाक्यों को जो कि बार-बार बोलने में आए होंगे तो उन्हें कम भी किया गया है। इन सबके बीच जो भी मेरे द्वारा त्रुटिपूर्ण कार्य हुआ हो तो सर्वप्रथम मेरे परम गुरु आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज मुझे क्षमादान करें। समस्त साधुवृन्द, विद्वत्वृन्द, समस्त आर्यिकासंघ मुझे क्षमादान दें। यह प्रकाशन मेरे जीवन को एवं समस्त पाठकों के जीवन को सम्यक् ज्ञान ज्योति प्रदान करे, यही सद्भावना है।

इस समयोपदेश ग्रन्थराज का अध्ययन-अध्यापन कर साहित्यिक एवं आध्यात्मिक छटा से अपने जीवन को सुरक्षित करते हुए नवीन अध्यात्म ज्ञान ज्योति को प्राप्त कर हम कृतकृत्य हो सकें, इसी भावना से आचार्यश्री जी के पावन चरणों में नतमस्तक होते हुए शत-शत वंदन, शत-शत अभिनन्दन के साथ अपनी विनीत विनयांजलि समर्पित करती हूँ।

परम पूज्य सन्त शिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज के सन् २०१७-१८ में आने वाले स्वर्णिम दिव्य दीक्षा वर्ष महोत्सव के पावन अवसर की पूर्व भूमिका पर समर्पित है-अनूठा योगदान- समयसार का प्रकाशन ।

आर्यिका दृढ़मति

सारस्वत-प्रतिमान

प्राचीनकाल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं तीर्थंकर भगवन्तों को जन्म दिया है। जैनधर्म भारत-भूमि का एक चिर प्राचीन धर्म है। इस धर्म का अनुसरण करके तीर्थंकर केवली श्रुतकेवली के साथ-साथ अनेक आचार्यों, मुनियों एवं संतों ने मानव समाज के लिए भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं तीर्थोद्धार आदि क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

इस १९-२० वीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीरसागरजी, आचार्य श्री शिवसागरजी, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज आदि तपस्वी आचार्य एवं साधुगण हुए तत्पश्चात् २०-२१ वीं शताब्दी में आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के परम प्रभावक, अति निष्णात युवामनीषी, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक समस्त समाज के आराध्य सुयोग्य शिष्य महान् तपस्वी आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज हुए। इनका प्रभावक व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ख्याति प्राप्त सरस्वती पुत्र समस्त विद्वत् मण्डल के द्वारा अभिनन्दनीय है। संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ में जैन श्रमण परम्परा के उदीयमान नक्षत्र स्वरूप दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का समस्त शिष्य-मण्डल वंदन-अभिनंदन करता है। भारतीय श्रमण संस्कृति के संवर्द्धन एवं संरक्षण में आपका अमूल्य योगदान रहा है।

अमूल्य-योगदान—श्रमण-संस्कृति भारतीय संस्कृति में प्रधान एवं आदर्शमय संस्कृति रही है। भारतीय दर्शन सरणि में जैन दर्शन का विशिष्ट स्थान है। जैन दर्शन के सारस्वत, आध्यात्मिक सन्त-साधकों में जहाँ चारित्र एवं अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, वहीं पर राष्ट्र, देश, समाज एवं साहित्य जगत् में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र सदृश श्रमण संस्कृति की सुरक्षा में अनुपम योगदान रहा है। अध्यात्म के गगन में प्राची दिशा से एक सहस्रकर दिनकर का उदय हुआ जिसे सारा जगत् दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के नाम से स्मरण करता है। चतुर्थकालीन मुनीशों के तुल्य चर्या होने के कारण समस्त जैन जगत् में जो चौथे काल के महाराज के विशेषण से विख्यात हैं। आचार्यवर्य ने आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य समन्तभद्र की ऊर्जा को मानो अपने जीवन में संचारित करके तथा उनके आदर्श व पवित्र मार्ग का अनुसरण करके जर्जरित अध्यात्म-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है।

जीवन-शैली—आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज की चर्या में आचार्य कुन्दकुन्ददेव का

मूलाचार प्रतिबिम्बित होता है। वाणी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसी निर्भीकता, निःशकता, निश्छलता निःशल्यता की छाया परिलक्षित होती है। विचारों में अनेकान्त दृष्टिगोचर होता है। वे श्रमण-संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी हैं। परम वीतरागी एवं निर्मोही साधक होते हुए भी उनकी प्रत्येक चर्या में एवं उनकी छवि में अत्यन्त आकर्षण है। उनके दर्शन में दर्शकों को भगवान् महावीर का प्रतिबिम्ब दिखने लगता है।

प्रभावक साधक—श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्यश्री जी धर्म एवं श्रमण साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं। इनकी साधना आत्मोत्कर्ष की सीढ़ियों को पार करती हुई शाश्वत सत्य एवं लोकमंगल को साधने वाली है। स्वपर कल्याणी आचार्यश्री जी प्रायः चातुर्मास में तीर्थक्षेत्रों पर ही साधनारत रहते हैं। आपने अपनी चारित्र-साधना से अपने आचार्यत्व की उत्कृष्ट सिद्धि को सिद्ध किया है। आपकी तप, साधना, ज्ञान-साधना, दर्शन-आराधना, ध्यान-साधना आदि सभी प्रकार की साधनायें साध्य को साधती हैं। आपकी साधना का अनुपम प्रसाद प्राप्त करने के इच्छुक श्रमण-श्रमणियों को भी साधना पथ पर अग्रसर करने में प्रेरणाप्रद होती है। आप निर्दोष साधना करने वाले आदर्श आचार्य हैं। आपकी एवं आपके समस्त शिष्य-शिष्याओं की बाल-ब्रह्मचर्य साधना अत्यधिक विख्यात है एवं अत्यन्त प्रभावक है।

तीर्थोद्धारक आचार्य—आत्म साधना के साथ-साथ आपके आशीष से प्राचीन स्थापत्य सुरक्षित एवं संवर्धित हुआ है। प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार के साथ-साथ नवीन तीर्थक्षेत्रों का निर्माण हुआ है। जिनमें सर्वोदय तीर्थक्षेत्र (अमरकण्टक), सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र (नेमावर), ज्ञानोदय तीर्थ (नारेली, राज०) पुण्योदय (हाँसी/हरियाणा), कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र (मध्यप्रदेश), अति सुन्दर नन्दीश्वर द्वीप की संरचना मढ़ियाजी (जबलपुर), चन्द्रगिरि (छत्तीसगढ़) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

परमदयालु आचार्य—करुणाकर परमदयालु आचार्यवर्य श्री विद्यासागरजी महाराज के आशीष से पशुओं की करुण पुकार को सुनकर मांस निर्यात निषेध का अभियान चला जिसके प्रभाव से शताधिक गोशालाओं की दयोदय संस्था के रूप में स्थापना हुई। बीना बारहा अतिशय क्षेत्र में शान्तिधारा दुग्ध योजना का प्रारम्भीकरण करके अनेक गरीब किसानों को एवं गौवंश को नया जीवन-दान दिया।

समाजोद्धारक एवं प्रभावक आचार्य—आचार्यत्व की ख्याति विश्वविख्यात है। आचार्य-पद से विभूषित होने पर आपने गुरु आशीष से चतुर्विध संघ का निर्माण किया। संघ को गुरुकुल रूप प्रदान करके गुरु आशीष को फलित किया। सन् १९७८ में ब्राह्मी विद्या आश्रम का शुभारंभ किया। पश्चात् वही आश्रम सागर एवं जबलपुर मढ़ियाजी में दो शाखाओं में परिणत हुआ। आश्रम से शिक्षित बहिनों को आर्यिका दीक्षा देकर आर्यिका संघ विकसित किया। मानव सेवा हेतु चिकित्सा के उद्देश्य

से भाग्योदय तीर्थ निर्मित हुआ (सागर) वर्तमान में वहाँ अनेक प्रकार की स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध हैं। शिक्षाक्षेत्र में प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ संस्थापित हुआ। इस विद्यालय में प्रतिभामण्डल की शताधिक बाल ब्रह्मचारिणी प्रशिक्षित व्रती बहिनें शिक्षा के साथ-साथ छात्राओं को सुसंस्कारित भी करती हैं। मढ़ियाजी अतिशय क्षेत्र में ब्रह्मचारी वर्ग के लिए गुरुकुल का पुनर्गठन हुआ। वहीं पर प्रशासनिक संस्थान लोक सेवा हेतु स्थापित हुआ। शताधिक ब्रह्मचारी भाई एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें गृह में साधनारत हैं। विशाल मुनिसंघ आर्यिका संघ आत्म-साधना तथा धर्म प्रभावना में संलग्न है। इस प्रकार आपने गुरु के शुभाशीष को साकार रूप प्रदान किया एवं छात्रावास प्रतिभा प्रतीक्षा, पूरी मैत्री, हथकरघा आदि समाज सुधार के साधनों को आशीष प्रदान किया।

अनोखी गुरु-सेवा—आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने अपना आचार्य पद आपको देकर आपके ही निर्देशन में लगभग १८० दिन की यम सल्लेखना धारण की थी। ६ माह तक अन्न का त्याग रहा। आचार्य गुरु ज्ञानसागरजी अत्यन्त सजग थे। अबाधरूप से सल्लेखना श्रेष्ठ परिचर्या के साथ चल रही थी। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या १ जून, १९७३ वि० सं० २०३० को नसीराबाद (राज.) में गुरु की समाधि-साधना पूर्ण हुई। जीवन भर आत्मस्थ रहने वाले पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज समाधिस्थ हो गए। उन दिनों आपने अपने गुरु की जो सेवा अत्यन्त निष्ठा और लगन के साथ की उसे देखकर एवं सुनकर विद्वानों ने कहा कि अपने पिता से करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति पाने वाला बेटा भी अपने पिता की इतनी सेवा नहीं कर सकता। यह आपके समाधि-साधना को श्रेष्ठ निर्यापकत्व का परिणाम था। आपको हृदय-पटल पर गुरु महाराज का यह बोध-वाक्य हमेशा अंकित रहता है कि-''अप्रभावना से बचते रहना ही सच्ची प्रभावना है।''

''सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिये सदा वंदे''

दीक्षित समुदाय/जीवन्त-कृतियाँ—मुनि १२०, आर्यिकाएँ १७२, ऐलक ५७, क्षुल्लक ६४, क्षुल्लिका ३ कुल ४१६ दीक्षाएँ दी हैं। उक्त संख्या अगस्त २०१५ तक के दीक्षित शिष्य समुदाय की है, ये सभी आचार्यश्री जी की जीवन्त चेतन कृतियाँ हैं, जो श्रमण-संस्कृति की सुरक्षा एवं संवर्धन में तत्पर हैं।

कुशल संघ संचालक—स्वयं पञ्चाचार का पालन करने और संघस्थ समस्त साधुओं से रत्नत्रय एवं पञ्चाचार का पालन करवाने में कुशल आचार्यश्री जी अत्यधिक अनुशासनप्रिय हैं। वे अनुशासित जीवन शैली को स्वयं अपनाते हैं एवं समस्त शिष्य-गण से अनुशासन पालन की अपेक्षा रखते हैं। समय-समय पर अनुशासन की शिक्षा एवं प्रेरणा देते रहते हैं। वे मिलिट्री-अनुशासन की ओर इंगित करके समस्त शिष्य एवं शिष्याओं का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हैं। इसी अनुशासन के बल पर विशाल संघ का कुशल संचालन करते हैं। समय-समय पर शिष्यगण एवं शिष्याओं को

संकेत-आज्ञा, निर्देश आदेश देकर सभी को मुक्तिपथ पर अग्रेसित करते हैं। शिष्यों के अनुग्रह में कुशल धर्माचार्य को सदा वन्दना।

बहुभाषाविद् आचार्य—महान् पुरुषों की शिक्षा, प्रतिभा स्कूली शिक्षा तक सीमित नहीं रहती बल्कि उनकी शिक्षा का क्षेत्र तो समस्त संसार होता है। वे पूरे संसार में यथार्थ का अनुसन्धान करने वाली अनुभव की पाठशाला में वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मातृभाषा कन्नड़ एवं शिक्षा भाषा मराठी होने पर भी आपको हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला आदि अनेक भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसी कारण आपके शब्द नाना अर्थ के रहे हैं। काव्यगत शब्दों के अर्थ तत्त्व को नवीन प्रतिमान प्रदान करते हैं। शब्दों को व्युत्पत्ति बल से नवीन अर्थ प्रदान करना आपके साहित्य सृजन की विशेषता है। आपका साहित्य अनुप्रास एवं श्लेष मिश्रित अर्थों की विशेषताओं को लिए हुए रहता है। शब्दों के अक्षरों की विलोम प्रक्रिया से एवं शब्द-विच्छेद-विधि से अर्थगत आन्दोलन कर तथा जनमानस का अभिनन्दन स्वीकार कर लोकप्रिय मोक्षमार्गी नेता के रूप में जग विख्यात हैं।

लोकप्रिय विश्वविख्यात आचार्य—विशिष्ट जीवन सर्जक, आचारनिष्ठ साधक, जिनागम के शाश्वत दार्शनिक, आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक मानदण्डों के ज्ञाता, श्रमण-संस्कृति के उन्नायक-तीर्थोद्धारक, सम्यग्ज्ञान रश्मियों के उद्योतक, तपोनिष्ठ आदर्श-साधक, मानवीय मूल्यों को उद्घाटक, वीतराग पथ को पथिक, परिष्कृत चिन्तक, प्रयोगधर्मी बहुआयामी साधक, सर्जना को नित नये नूतन बिम्ब, उदात्त चिन्तक, श्रुत-आराधक, रत्नत्रय को उत्कर्षक, मुक्ति-साधक, भारत की गरिमामयी ऋषि परम्परा को धर्मप्राण, प्रशस्त विचारक, परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज के श्री चरणों में शाब्दिक उपमायें भी सीमित हैं। फिर भी परम पूज्य आचार्यश्री के संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ की पवित्र स्वर्णिम बेला में अनुपम उपमाओं का उपहार समर्पित है। 'अनन्त उपकारों का पुण्यहार अर्पित है।''

गुरु चरणों में अनन्तशः नमन-नमन-नमन...

प्रस्तुति

आर्यिका दृढ़मति

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसंस्थापक आचार्य के रूप में की गयी है, जिनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मंगलरूप में इनका स्तवन किया जाता है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

जिस प्रकार भगवान् महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मंगलरूप हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी। इन जैसा प्रतिभाशाली अध्यात्म और द्रव्यानुयोग के क्षेत्र में प्रायः दूसरे आचार्य दिखलाई नहीं पड़ते।

इनकी रचनाओं से इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन्होंने 'वारसअणुवेक्खा' ग्रन्थ में अपने नाम का निर्देश किया है। लिखा है–

इदि णिच्छय-ववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं॥

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का अवलम्बन लेकर जो कथन किया है, उसकी शुद्ध हृदय से जो भावना करता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

स्पष्ट है कि 'वारसअणुवेक्खा' में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरसूरि ने भी कुन्दकुन्द की रचनाएँ बतलायी हैं। बोधपाहुड में कुन्दकुन्द ने अपने गुरु का नाम भद्रबाहु बतलाया है। गाथाएँ निम्न प्रकार हैं–

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥
वारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ॥

अर्थात् कुन्दकुन्द ने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा है। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना का इतिवृत्त अंकित करने के पश्चात् लिखा है कि ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ कौण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ की रचना की। दर्शनसार में देवसेन ने भी आचार्य पद्मनन्दि की प्रशंसा करते हुए लिखा है–

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंत्ति॥

अर्थात् पद्मनन्दिस्वामी ने सीमन्धरस्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त कर अन्य मुनियों को प्रबोधित किया। यदि वे इस प्रबोधन कार्य को न करते तो श्रमण किस प्रकार सुमार्ग को प्राप्त करते ?

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के दो आचार्य टीकाकार हैं–अमृतचन्द्र और जयसेन। अमृतचन्द्र ने अपने मूलग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं किया है; पर जयसेन ने लिखा है–''पद्मनन्दि जयवन्त हों, जिन्होंने महातत्त्वों का कथन करने वाले समयप्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धि...उद्धार करके भव्यजीवों को अर्पित किया।''

पञ्चास्तिकाय की टीका प्रारम्भ करते हुए भी जयसेन ने कुन्दकुन्द का अपरनाम पद्मनन्दि बताया है। इनके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे।

जयसेन ने टीका के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द के पूर्व विदेह में जाने की कथा की ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि इन्होंने पूर्वविदेह में वीतराग सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामी के दर्शन किये थे और उनके मुखकमल से निस्सृत दिव्यवाणी को सुनकर अध्यात्मतत्त्व का सार ग्रहण कर वे वापस लौट आये थे। उन्होंने अन्तस्तत्त्व और बाह्यतत्त्व की मुख्यता एवं गौणता का ज्ञान कराने के लिये शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र की रचना की।

कुन्दकुन्द के जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त सूचनाओं में ऐसी दो कथाएँ प्राप्त हैं, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। कथाओं में कितना अंश सत्य और तथ्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द अध्यात्मशास्त्र के महान् प्रणेता एवं युगसंस्थापक आचार्य थे।

प्रथम कथा ब्रह्मनेमिदत्त विरचित आराधनाकथाकोष में शास्त्रदान के फलस्वरूप आई है।

दूसरी कथा 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थ में आई है, जिसका प्रकाशन पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जैन हितैषी में किया था। कथा में बताया है कि मालव देश के बारांपुर नगर में कुमुदचन्द्र नाम का राजा राज्य करते थे। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। इस राजा के राज्य में कुन्दश्रेष्ठी अपनी पत्नी कुन्दलता के साथ निवास करते थे। इनके कुन्दकुन्द नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वे शिशु शैशव से ही गंभीर, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली थे। जब वह ग्यारह वर्ष के थे, उस समय नगर के उद्यान में एक मुनिराज आये। उनका उपदेश सुनने के लिए नगर के नरनारी एकत्र हुए। कुन्दकुन्द भी उसमें सम्मिलित हुए थे। मुनिराज का उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर मुनि बन गये। ३३ वर्ष की अवस्था में इन्हें आचार्य-पद मिला। इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र बताया गया है।

एक दिन आचार्य कुन्दकुन्द आगमग्रन्थों का स्वाध्याय कर रहे थे कि उनके मन में एक शंका उत्पन्न

हुई। वे ध्यानमग्न हो गये और विदेहक्षेत्र में स्थित सीमन्धरस्वामी के प्रति एकाग्र हुए। सीमन्धरस्वामी ने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर आशीर्वाद दिया। समवसरण में स्थित व्यक्तियों को इस आशीर्वाद को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की कि आपने किसको आशीर्वाद दिया है ? उत्तर में बताया गया कि भरतक्षेत्र में स्थित कुन्दकुन्द मुनि को आशीर्वाद दिया है। वहाँ पर कुन्दकुन्द के पूर्वजन्म के चारण ऋद्धिधारी दो मित्र मुनि उपस्थित थे। वे बारांपुर गये और वहाँ से आकाशमार्ग द्वारा कुन्दकुन्द को ले आये। आकाशमार्ग में जाते समय उनकी मयूरपिच्छिका गिर गई और उन्होंने गृद्धपिच्छी से अपना काम चलाया। आचार्य कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और अपनी शंका का समाधान किया। लौटते समय वे अपने साथ एक तन्त्र-मन्त्र का ग्रन्थ भी लाये थे, किन्तु वह मार्ग में लवणसमुद्र में गिर गया। आचार्य कुन्दकुन्द ने भरतक्षेत्र में अपना धार्मिक उपदेश प्रारम्भ किया और इनके सहस्त्रों अनुयायी हो गये। तत्पश्चात् गिरिनार पर्वत पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया और वहाँ की ब्राह्मीदेवी के मुख से यह कहलवाया गया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। उन्होंने अपना आचार्यपद अपने शिष्य उमास्वामी को प्रदान किया और सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग किया।

'ज्ञानप्रबोध' की इस कथा का परीक्षण करने पर अवगत होता है कि 'जम्बूदीवपण्णत्ती' के कर्ता पद्मनन्दि को कुन्दकुन्द से अभिन्न समझकर उनका स्थान बारांपुर नगर बताया है। माता-पिता के नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठि भी कल्पित प्रतीत होते हैं। विदेहगमन की कथा जो पहले से प्रचलित थी उसे भी जोड़कर प्रामाणिकता लाने का प्रयास किया गया है।

कुन्दकुन्द के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से जो स्वीकार किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थान में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरूमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिले में है। कहा जाता है कि करमण्डु दम्पत्ति को बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर ग्राम के नाम पर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्र बुद्धि के कारण ग्रन्थाध्ययन में इनका अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ। युवावस्था में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादशअनुप्रेक्षा की अन्तिम गाथा में उसके रचयिता का नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका में पद्मनन्दि का जयकार किया है। इन्द्रनन्दि ने भी अपने श्रुतावतार में कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि का निर्देश किया है? श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० में तथा ४२, ४३, ४७ और ५० वे अभिलेख में भी उक्त कथन पुनरावृत्त हुआ है। लिखा है-

तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः॥

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थान के नाम पर कुन्दकुन्द नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्द के षट्प्राभृतों के टीकाकार श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभृत के अन्त में जो पुष्पिका अंकित की है, उसमें इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिये हैं। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण ४ में शक सं० १३०७ का विजयनगर का एक अभिलेखांश प्रकाशित है, जिसमें लिखा है–

''आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा॥''

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्द के बताये हैं। डॉ० हार्नले ने दिगम्बर पट्टावलियों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने कुन्दकुन्द के पाँच नाम बताये थे। अतः इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के दो नामों की प्रवृत्ति तो निस्संदेह रही है; पर शेष तीन नामों के सम्बन्ध में विवाद है। शिलालेखों से तथा अन्य प्रमाणों से न तो वक्रग्रीव और न एलाचार्य या गृद्धपिच्छ नाम की ही सिद्धि होती है। वक्रग्रीव का उल्लेख ई० सन् ११२५ के ४९.३ संख्यक अभिलेख में द्रविड़ संघ और अरुंगलान्वय के आचार्यों की नामावली में आता है; किन्तु उसमें उनके सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। ११२९ ई० के श्रवणबेलगोलाभिलेख नं० ५४ में वक्रग्रीव नाम आया है; पर इस अभिलेख से यह कुन्दकुन्द का नामान्तर है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

श्रवणबेलगोल के अभिलेख नं० ३०५ में समन्तभद्र और पात्रकेसरी के पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आया है और इन्हें द्रमिल संघ का अग्रेसर कहा है। इसी प्रकार अभिलेख नं० ३४७ और ३१९ में भी वक्रग्रीव का नाम अंकित है; पर इन सभी अभिलेखों से कुन्दकुन्द के साथ वक्रग्रीव का सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से एलाचार्य के सम्बन्ध में भी कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं; पर यह कुन्दकुन्द का नामान्तर सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार गृद्धपिच्छ भी। कुन्दकुन्द का नामान्तर घटित नहीं होता है। संभवतः यह नाम उमास्वामी का रहा है। संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि अवश्य प्रमाणित होता है।

गुरु–परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का क्या नाम था और उन्होंने किस गुरु–परम्परा को सुशोभित किया, इसके सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द-ग्रन्थों के टीकाकार जयसेनाचार्य के मतानुसार ये कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र थे। कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने गुरु का नाम भद्रबाहु माना है।

मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख में उच्चनागर शाखा के एक कुमारनन्दि का निर्देश प्राप्त होता है। यह अभिलेख हुविष्क वर्ष सतासी का है। इस आधार पर भी कुमारनन्दि का गुरु-शिष्यत्व कुन्दकुन्द के साथ घटित नहीं होता। यतः उच्चनागर शाखा के साथ कुन्दकुन्द का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नन्दिसघ की पट्टावलि में माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द का क्रमशः उल्लेख आता है। इससे यह फलित होता है कि माघनन्दि के पश्चात् जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के पश्चात् कुन्दकुन्द को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ होगा। अतः हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्द के गुरु का नाम जिनचन्द्र होना चाहिए।

कुन्दकुन्द ने अपने बोधपाहुड में अपने को भद्रबाहु का शिष्य कहा है। पर इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य थे या परम्परा से ? कुन्दकुन्द ने लिखा है–

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊ ॥६२॥

तीर्थंकर महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ है–अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित हुआ है। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषासूत्रों पर से उसको उसी रूप में जाना है और बारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु को 'गमकगुरु' कहकर उनका कुन्दकुन्द ने जयघोष किया है।

द्वितीय गाथा के आलोक में प्रथम गाथा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु नहीं थे, 'गमक गुरु' थे। श्रीजुगलकिशोर मुख्तार ने उक्त दोनों गाथाओं में प्रथम गाथा का सम्बन्ध द्वितीय भद्रबाहु के साथ और द्वितीय गाथा का सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ बतलाया है। उन्होंने लिखा है–''इकसठवीं गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य प्रकट किया है। जो संभवतः भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं। क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय में जिनकथित श्रुत में ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे उक्त गाथा में ''**सद्दवियारो हूओ भासासुतेसु जं जिणे कहिय**'' इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है–वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहु के समय में ऐसी स्थिति नहीं थी–कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था, वह अनेक भाषासूत्रों में परिवर्तित हो गया था। इससे इकसठवीं गाथा के भद्रबाहु द्वितीय

ही जान पड़ते हैं। बासठवीं गाथा में उसी नाम से प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहु का, जो कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगल के रूप में जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर गमकगुरु लिखा है। इस तरह अन्त की दोनों गाथाओं में दो अलग-अलग भद्रबाहुओं का उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है। मुख्तार साहब का उक्त कथन विचारणीय है। यहाँ दो भद्रबाहुओं का कथन न कर कुन्दकुन्द ने पूर्व गाथा में प्रतिपादित भद्रबाहु के कथित गुरुत्व का गमक गुरु के रूप में उल्लेख आया है। 'गमक' शब्द का अर्थ शब्दकल्पद्रुम में 'गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक', गम् + णिच् + ण्वल् बोधक मात्र या सुझाव देने वाला अथवा तत्त्व प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला बतलाया है। मातंगलीला में 'गमक-पाण्डित्यवैदग्ध्ययो:', अर्थात् पाण्डित्य या वैदग्ध्य प्राप्ति को गमक कहते हैं। यहाँ पर 'गमक' शब्द 'परम्परया' या 'प्रेरणया' के रूप में प्रयुक्त है। अतएव 'गमक' शब्द परम्परा प्राप्त श्रुतकेवली के लिए ही व्यवहृत हुआ है। दो भद्रबाहुओं की कल्पना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भद्रबाहु श्रुतकेवली कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु न होकर 'गमक गुरु' या प्रेरक गुरु थे। श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से भी इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है। यतः श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत गये थे और वहाँ श्रवणबेलगोला स्थान में समाधिमरण प्राप्त किया था। अतः दक्षिण में श्रुतकेवली भद्रबाहु की परस्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुन्दकुन्द मूलसंघ के आचार्य थे और दक्षिण भारत के निवासी। अतः इन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी कारण कुन्दकुन्द ने उन्हें 'गमकगुरु' कहा है। पट्टावली के अनुसार इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र और दादा गुरु का नाम माघनन्दि है।

कुन्दकुन्द के जीवन में घटित घटनाएँ—

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन में प्रमुख दो घटनाओं के घटित होने की कथा प्रसिद्ध है। एक है विदेह यात्रा और दूसरी है गिरनार पर्वत पर हुए दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में उनकी विजय।

जहाँ तक विदेहयात्रा की बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन और श्रुतसागरसूरि के उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे और वहाँ से भगवान् सीमन्धरस्वामी का उपदेश ग्रहण कर लौटे थे तथा सीमन्धरस्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान का श्रमणों को उपदेश दिया था। देवसेन (ई० सन् ९ वीं शती) ने दर्शनसार में लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणति॥४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य-ज्ञान से बोध न देते,

तो श्रमण-मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन का यह उल्लेख काफी प्राचीन है और उस पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता।

इसी तरह आचार्य जयसेन (ई० सन् १२ वीं शती) ने भी पञ्चास्तिकाय को टीका के आरम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन को 'प्रसिद्धकथान्याय' बतलाते हुए उसकी स्पष्ट चर्चा की है।

षट्प्राभृत के संस्कृत-टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने भी टीका के अन्त में कुन्दकुन्दस्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है।

ये उल्लेख अकारण नहीं हो सकते। वे अवश्य विचारणीय हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में विजयप्राप्ति के भी उल्लेख मिलते हैं। शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डवपुराण में लिखा है कि कुन्दकुन्दगणी ने ऊर्जयन्तगिरि पर अपने प्रभाव से पाषाण-निर्मित सरस्वती को वादिता-शास्त्रार्थकर्त्री बना दिया था। यथा-

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ॥

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयन्त गिरि के मस्तक पर-गिरनार पर्वत के ऊपर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया।

इसी तरह का उल्लेख शुभचन्द्र की गुर्वावलि के अन्त में निबद्ध उन दो पद्यों में भी है, जो निम्न प्रकार हैं-

पद्मनन्दी गुरुजातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने॥

बलात्कारगणाग्रणी पद्मनन्दी गुरु हुए। जिन्होंने ऊर्जयन्तगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ। अतः उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को नमस्कार हो।

कवि वृन्दावन के एक उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित गिरनार की यात्रा के लिए गये। वहाँ पर उन दिनों दिगम्बरों-श्वेताम्बरों का भी संघ ठहरा हुआ था। दोनों संघों में वाद-विवाद हुआ और इसकी मध्यस्थता अम्बिका देवी ने की। उसने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रंथ पन्थ ही सच्चा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमी ने "तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार" शीर्षक निबन्ध में बताया है-"जान पड़ता है, गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ, जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्याय ने किया है। यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है,

क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्य में भी एक-दूसरे रूप में मिलता है।''

इस सब पर विचार करने से प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरों का शास्त्रार्थ तो अवश्य हुआ है, पर यह शास्त्रार्थ नन्दिसंघ के आचार्य पद्मनन्दि, जिनका अपर नाम कुन्दकुन्द था, के साथ नहीं हुआ है। यह अन्य पद्मनन्दि के साथ हुआ होगा, जिनका समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

समय-निर्धारण

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विचार करने वालों में श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी; श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार; डॉ० के० बी० पाठक, प्रो० ए० चक्रवर्ती और डॉ० ए० एन० उपाध्ये के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्ये ने सभी मतों की समीक्षा कर अपने मत की संस्थापना की है। हम यहाँ संक्षेप में उक्त विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे।

प्रेमीजी ने इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर बताया है कि गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य द्वारा रचित गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणसूत्रों के रूप में 'कसायपाहुड' निबद्ध हुआ। धरसेन की परम्परा में पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों को कुन्दकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि ने गुरु परम्परा से प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ की रचना की। प्रेमीजी ने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् कुन्दकुन्द हुए हैं। धरसेन, उच्चारणाचार्य आदि के समय को पचास-पचास वर्ष मान लेने पर कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

प्रेमीजी ने एक अन्य प्रमाण यह भी दिया है कि ऊर्जयन्तगिरि पर श्वेताम्बरों के साथ कुन्दकुन्द का ही शास्त्रार्थ हुआ था। उनके सुत्तपाहुड से भी यह प्रकट है। देवसेन के दर्शनसार के अनुसार विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष बीतने पर यह संघभेद हुआ। प्रेमीजी ने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर १३६+१३५=२७१ विक्रम सं० में संघभेद माना है। इसकाल का श्रुतावतार में उल्लिखित समय के साथ समन्वय हो जाता है। अतएव प्रेमीजी के मतानुसार कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तृतीय शताब्दी का अन्तिम चरण है।

डॉ० पाठक को राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीय के दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। उनमें से एक शक सं० ७१९ का है और दूसरा शक सं० ७२४ का है। इनमें कोण्डकोन्दान्वय के तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि का तथा उनके शिष्य का निर्देश किया है। डॉ०पाठक का अभिमत है कि प्रभाचन्द्र शक सं० ७१९ में और उनके दादागुरु तोरणाचार्य शक सं० ६०० में हुए होंगे। कुन्दकुन्द को इनसे डेढ़ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है। अतएव कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० के लगभग है।

डॉ० पाठक ने अपने इस अनुमान का समर्थन एक अन्य आधार से भी किया है। उन्होंने बताया है कि चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा शक सं० ५०० में राज्य सिंहासन पर आसीन थे। उन्होंने बादामी को जीता

और कदम्ब राज्यवंश को नष्ट कर दिया। अत: यह निश्चित हुआ कि कदम्ब राजवंश का शिवमृगेश वर्मा लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के आसपास विद्यमान था। बालचन्द्र ने पंचास्तिकाय की कन्नड़ी टीका और जयसेन ने संस्कृतटीका में बताया है कि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के सम्बोधन के लिए यह ग्रन्थ लिखा। यह शिवकुमार महाराज कदम्बवंशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होता है। अत: कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० (ई० सन् ५२८) आता है।

विचार करने पर डॉ० पाठक का उक्त मत नितान्त असमीचीन है। आज इस मत को कोई भी प्रामाणिक नहीं मानता है।

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने डॉ० हारनले द्वारा प्रकाशित सरस्वती-गच्छ की दिगम्बर पट्टावलि के आधार पर कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने का काल ई० पूर्व ८ माना है और उनका जन्म ई० पूर्व ५२ बतलाया है। चक्रवर्ती ने डॉ० पाठक के मत का विरोध किया है और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द का पट्टावलि-उल्लिखित समय बतलाया है।

इन्होंने पल्लवराजवंश के शिवस्कन्द को शिवकुमार मानने पर जोर दिया है। क्योंकि स्कन्द और कुमार पर्यायवाची शब्द है। अन्य परिस्थितियों से भी उन्होंने एकरूपता सिद्ध की है। पल्लवों की राजधानी 'कांजीपुरम्' में थी। ये 'थोण्डमण्डलम्' पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानों की भूमि माना जाता था। 'कांजीपुरम्' के शासक ज्ञान के भी संरक्षक थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर आठवीं शताब्दी तक 'कांजीपुरम्' के चारों ओर जैनधर्म का प्रचार होता रहा है। इसके अतिरिक्त 'मयीडबोलु' दानपत्र की भाषा प्राकृत है। इस दानपत्र को शिवस्कन्दवर्मा ने प्रचारित किया है। इसकी विषयवस्तु और भाषा मथुरा के अभिलेखों से मिलती-जुलती है। अत: प्रो० चक्रवर्ती ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द ने जिस शिवकुमार महराज के लिए प्राभृतत्रय लिखे थे, वह सम्भवत: पल्लववंश का शिवस्कन्द वर्मा है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने समन्तभद्र के समयविचार-प्रसंग में लिखा है—कुन्दकुन्दाचार्य वीर नि० सं० ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्य के बाद होने वाले विनयधारी आदि चार आरातीय मुनियों का एकत्र समय २० वर्ष का और अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्द के गुरु का स्थूल समय दस-दस वर्ष का ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समय से ८० वर्ष अथवा वीर नि० ७६३ (६८३+ २० + ६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय के करीब पहुँच जाता है जो 'विद्वज्जन बोधक' से उद्धृत किये हुए उक्त पद में दिया है और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

मुख्तार साहब पट्टावलि पर विश्वास नहीं करते। पट्टावलि में कुन्दकुन्द का समय वि. संवत् ४९

दिया गया है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में वर्णित दोनों सिद्धान्तग्रन्थों की उत्पत्ति की कथा तथा गुरुपरिपाटी से दोनों सिद्धांतग्रन्थों का अध्ययन कर कुन्दकुन्द के द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर १२००० श्लोक प्रमाण टीका लिखने की बात को साधार मानकर यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण संवत् ६७० के लगभग हुए हैं।

मुख्तारसाहब ने शिवकुमार महाराज वाली चर्चा को उठाकर डॉ० पाठक के मत का निरसन किया है और प्रो० चक्रवर्ती के मत को भी मान्य नहीं ठहराया है। इस प्रकार मुख्तारसाहब ने कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् ६०८–६९२ के मध्य माना है।

कुन्दकुन्द के समय पर विस्तार से विचार करने वाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये हैं। उन्होंने अपनी प्रवचनसार को विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में अपने से पूर्व प्रचलित सभी मतों की समीक्षा करते हुए स्वमत का निर्धारण किया है। डॉ० उपाध्ये ने अपने मत के निर्णय के हेतु निम्नलिखित तथ्यों पर विचार किया है–

१. भद्रबाहु का शिष्यत्व

२. श्रुतावतारानुसार षट्खण्डागम का टीकाकारित्व

३. संघभेदानन्तर प्राप्त सूचनाओं का आधारत्व

४. जयसेन एवं बालचन्द्र के उल्लेखानुसार शिवकुमार महाराज का समकालीनत्व

५. कुरलकर्तृत्व

१. डॉ० उपाध्ये का विचार है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर–श्वेताम्बर संघभेद उत्पन्न होने के पश्चात् ही हुए हैं। यदि वे पहले हुए होते तो अचेलकत्व का समर्थन और स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं करते, यतः संघभेद की उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हो चुकी थी। यही कारण है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में श्वेताम्बर प्रवृत्तियों का निषेध किया है।

२. प्रथम तथ्य पर विचार करते हुए कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली परम्परा का शिष्य माना है। डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि दक्षिण में जो मुनिसंघ आया था, उनमें प्रधान भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। अतः उनके संन्यास मरण के पश्चात् भी प्रधान गुरु के रूप में उनकी मान्यता प्रचलित रही। दक्षिण में जो साधुसंघ था, उसे धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकार के रूप में भद्रबाहु से ही प्राप्त हुआ था। अतः सुदूर दक्षिण देशवासी कुन्दकुन्द ने उन्हें अपना गुरु माना, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह यथार्थ है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं हैं, यतः उनका नामोल्लेख अंगधारियों में नहीं मिलता है और न ऐसी कोई किंवदन्ती ही प्राप्त होती है, जिसके आधार पर कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन माना जा सके।

३. श्रुतावतार में आया है कि कोण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने 'कषायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' इन

दोनों ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर टीका लिखी, यह तथ्य असंदिग्ध नहीं है। कुन्दकुन्द की ऐसी कोई भी टीका आज नहीं मिलती और न कहीं उसके अवशेष ही मिलते हैं। अत: इन्द्रनन्दि के उक्त कथन का समर्थन अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं होता है। विबुध श्रीधर ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि कुन्दकीर्ति ने कुन्दकुन्दाचार्य से दोनों सिद्धान्तग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त करके 'षट्खण्डागम' के आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक शास्त्र लिखा। डॉ० उपाध्ये का एक अन्य तर्क यह है कि कुन्दकुन्द की प्रतिभा मौलिक ग्रन्थों के सृजन की ओर ही अधिक है। टीका या टीकाकारिका लिखने की ओर नहीं। अतएव श्रुतावतार के आधार पर कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् माना जाना चाहिए, यह कोई सबल प्रमाण नहीं है। सम्भव है कि कुन्दकुन्द इसके पहले हुए हों।

४. डॉ० उपाध्ये, प्रो० चक्रवर्ती के इस तथ्य को समुचित मानते हैं कि शिवकुमार महाराज पल्लवराजवंशी हैं। किन्तु पल्लवराजवंश का समय अभी तक अनिर्णीत है। अतएव डॉ० उपाध्ये, डॉ० पाठक के मत से असहमत होते हुए प्रो० चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महाराज और शिवस्कन्द की एकता को स्वीकार करते हैं।

५. कुरलकाव्यकर्ता के रूप में कुन्दकुन्द की मान्यता पर विचार करते हुए डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि कुरलकाव्य का जैन होना सम्भव है, उसमें ऐसे अनेक तथ्य आये हैं, जो अन्य धर्मों में प्राप्त नहीं होते। इस काव्य का समस्त वर्ण्य विषय जैन आचार और तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है। अतएव कुरल का कर्ता कोई जैन कवि तो अवश्य है, पर आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसके समर्थन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुन्दकुन्द का अन्य नाम एलाचार्य बताया गया है उसकी पुष्टि भी अन्य प्रमाणों से नहीं होती। अतएव कुन्दकुन्द को ई० सन् प्रथम शताब्दी का विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक विचारक डॉ० ज्योतिप्रसादजी ने विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है–All this shows that he may Safely be assigned to the ealry part of the first century A. D. or, to be exact, to 8 B. C.—A. D. 44.

अर्थात् इस आधार पर कुन्दकुन्द का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी आता है।

कुन्दकुन्द की रचनाएँ–

दिगम्बर साहित्य के महान् प्रणेताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का मूर्धन्य स्थान है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं। इन ग्रन्थों में १. प्रवचनसार, २. समयसार और ३. पंचास्तिकाय ये तीन ग्रन्थ विश्रुत हैं और तत्त्वज्ञान को अवगत करने के लिए कुञ्जी हैं। शेष रचनाओं का भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

१. प्रवचनसार—यह ग्रन्थ अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य की संस्कृत टीकाओं सहित रायचन्द्र

शास्त्रमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित है। इसमें तीन अधिकार हैं–ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व एवं अन्यत्व, सर्वज्ञ की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय आदि का प्ररूपण है। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, कर्म और कर्मफल का स्वरूप, मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के गुण, कालादिक के गुण और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीव का लक्षण, जीव और पुद्‌गल का सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहार का अविरोध एवं शुद्धात्मा आदि का प्रतिपादन है। चारित्र–अधिकार में श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, आगमज्ञान का लक्षण और मोक्षतत्त्व आदि का कथन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार इसमें २७५ गाथाएँ हैं और जयसेन की टीका के अनुसार ३१७ हैं। इन बढ़ी हुई गाथाओं का तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है–

१. नमस्कारात्मक

२. व्याख्यान विस्तार विषयक

३. अपर विषय विज्ञापनात्मक

प्रथम दो विषयों की गाथाएँ इस प्रकार की तटस्थ हैं कि जिनका अभाव खटकता नहीं है। उनके रहने पर भी प्रवचनसार के विषय में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। तृतीय विभाग की चौदह गाथाएँ विचारणीय हैं। ये गाथाएँ निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए वस्त्रपात्रादिक का तथा स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध करती हैं। इन गाथाओं के विषय यद्यपि कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों के विपरीत नहीं है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध अवश्य हैं। अतः अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा इनके छोड़े जाने के सम्बन्ध में डॉ० उपाध्ये का कथन है–"अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद–विवाद में पड़ना नहीं चाहते थे। अतः इस बात की इच्छा रखते थे कि उनकी टीका संक्षिप्त हो एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों को न करती हुई कुन्दकुन्द के अति उदात्त उद्‌गारों के साथ सभी सम्प्रदायों को स्वीकृत हो।"

डॉ० उपाध्ये का उपर्युक्त मत सर्वथा समीचीन नहीं है, क्योंकि अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार के निम्न पद्य में लिखा है–

सग्रन्थोंऽपि च निर्ग्रन्थों ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥

इस पद्य में श्वेताम्बर मान्यता के केवली–कवलाहार और सचेलकत्व का निषेध किया गया है। अतः श्वेताम्बर मान्यता के सिद्धान्तों की समीक्षा छोड़ देने की बात युक्त नहीं है।

२. समयसार—यह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यहाँ समय शब्द के दो अर्थ विवक्षित हैं–समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों अथवा आत्मा का सार वर्णित हो, वह समयसार

है। यह भेदविज्ञान का निरूपण करता है। अनेक पदार्थों को 'स्व'-'स्व' लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनसे उपादेय पदार्थ को लक्षित तथा अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेदविज्ञान कहा जाता है। यह ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है-प्रथम जीवाधिकार में 'स्व' समय, 'पर' समय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। जीव को कामभोग विषयक बन्धकथा ही सुलभ है किन्तु आत्मा का एकत्व दुर्लभ है। एकत्व-विभक्त आत्मा को निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त, अप्रमत्त दोनों दशाओं से पृथक् ज्ञायकभावमात्र है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं। निश्चय से ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है। इस अधिकार में व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ कहा है। दूसरे कर्तृकर्माधिकार में आस्रव, बन्ध आदि की पर्यायों का विवेचन किया गया है। आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम अनादि हैं। जब इन तीन प्रकार के परिणामों का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करता है। परद्रव्य के भाव का जीव कभी भी कर्ता नहीं है।

तीसरे पुण्य-पाप अधिकार में शुभाशुभ कर्मस्वभाव वर्णित हैं। अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, नियम, शील और तप मोक्ष के कारण नहीं हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादिभाव का त्याग मोक्ष का मार्ग बतलाया है। चौथे आस्रवाधिकार में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय आस्रव बतलाये गये हैं। वस्तुतः राग, द्वेष, मोहरूप परिणाम ही आस्रव हैं। ज्ञानी के आस्रव का अभाव रहता है। यतः राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम के उत्पन्न न होने से आस्रवप्रत्ययों का अभाव कहा जाता है। पाँचवें संवर अधिकार में संवर का मूल भेदविज्ञान बताया है। इस अधिकार में संवर के क्रम का भी वर्णन है। छठवें निर्जरा अधिकार में द्रव्य, भावरूप निर्जरा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ज्ञानी व्यक्ति कर्मों के बीच रहने पर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता है, पर अज्ञानी कर्मरज से लिप्त रहता है। सातवें बन्धाधिकार में बन्ध के कारण रागादि का विवेचन किया है। आठवें मोक्षाधिकार में मोक्ष का स्वरूप और नववें सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा का विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से अकर्तृत्व आदि सिद्ध किया है। अन्तिम दशम अधिकार में स्याद्वाद की दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है।

इस ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्द्र के टीकानुसार ४१५ गाथाएँ और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार ४३९ गाथाएँ हैं। शुद्ध आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

३. पञ्चास्तिकाय—इस ग्रन्थ में कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायों का निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्य को आचार्य ने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एवं सत्ता का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्यायों का कथन है और द्वितीय अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन नव पदार्थों के साथ मोक्ष-मार्ग

का निरूपण किया है।

इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्राचार्य की टीका के अनुसार १७३ गाथाएँ और जयसेनाचार्य के टीकानुसार १८१ गाथाएँ हैं। द्रव्य के स्वरूप को अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

४. नियमसार—आध्यात्मिक दृष्टि से यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नियम से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग कहा है। अतएव सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप कथन करते हुए उसके अनुष्ठान करने एवं मिथ्यादर्शनादि के त्याग का विधान किया है। इस पर पद्मप्रभमलधारीदेव की संस्कृतटीका भी उपलब्ध है।

५. बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओं को ९१ गाथाओं में वर्णन है। संसार से विरक्ति प्राप्त करने के लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है।

६. दंसणपाहुड—इस लघुकाय ग्रन्थ में धर्म के सम्यग्दर्शन का ३६ गाथाओं में विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है।

७. चरितपाहुड—सम्यक्चारित्र का निरूपण ४४ गाथाओं में किया गया है। सम्यक्चारित्र के दो भेद किये हैं-सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। संयमाचरण के सागार और अनगार इन दो भेदों द्वारा श्रावक और मुनि-धर्म का संक्षेप में निर्देश किया है।

८. सुत्तपाहुड—इसमें २७ गाथाओं में आगम का महत्त्व बतलाते हुए उसके अनुसार चलने की शिक्षा दी गयी है।

९. बोहपाहुड—इसमें ६२ गाथाएँ हैं। इनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या इन ग्यारह बातों का बोध दिया गया है।

१०. भावपाहुड—इसमें १६३ गाथाओं में चित्त-शुद्धि की महत्ता का वर्णन किया है। बताया है कि परिणामशुद्धि के बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुक सकता है और न बिना भाव के कोई पुरुषार्थ ही सिद्ध होता है। इसमें कर्म की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन आया है।

११. मोक्खपाहुड—इस ग्रन्थ में १०६ गाथाओं में मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा-इन तीन भेदों का स्वरूप समझाया है। मोक्ष-परमात्म-पद की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश किया है।

१२. लिंगपाहुड—इस लघुकाय ग्रन्थ में २२ गाथाएँ हैं। श्रमणलिंग को लक्ष्य कर मुनि-धर्म का निरूपण किया गया है।

१३. सीलपाहुड—इसमें ४० गाथाएँ हैं। शील ही विषयासक्ति को दूरकर मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है। जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप

को शील के अन्तर्गत परिगणित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रंथ में रत्नत्रय का विवेचन है। १६७ पद्य हैं और किसी–किसी प्रति में १५५ पद्य भी मिलते हैं। गृहस्थ और मुनियों को रत्नत्रय का पालन किस प्रकार करना चाहिए, यह इस में वर्णित है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस ग्रन्थ को गाथा–विभेदविचार, पुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्यों की उपलब्धि एवं गण–गच्छादि के उल्लेख मिलने से कुन्दकुन्द के होने में आशंका प्रकट करते हैं। वस्तुत: शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता। परम्परा से यह कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत माना जाता है।

१५. सिद्धभत्ति—यह स्तुति परक ग्रन्थ है। १२ गाथाओं में सिद्धों के गुण–भेद, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि–मार्ग का निरूपण किया गया है। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य की एक संस्कृत टीका है। इस टीका के अन्त में लिखा है कि संस्कृत की सब भक्तियाँ पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित हैं और प्राकृत की भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा निर्मित हैं।

१६. सुदभत्ति—इस भक्तिपाठ में ११ गाथाएँ हैं। इसमें आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादश अंगों का भेद–प्रभेद सहित उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। साथ ही १४ पूर्वों में से प्रत्येक की वस्तु संख्या और प्रत्येक वस्तु के प्राभृतों की संख्या भी दी है।

१७. चारित्तभत्ति—१० अनुष्टुप् गाथाछन्द हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात नाम के चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों, दस धर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहों के जय और उत्तरगुणों का उल्लेख करते हुए मुक्तिसुख देने वाले चारित्र की भावना की गयी है।

१८. जोइभत्ति—२३ गाथाओं में योगियों की अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों एवं गुणों के साथ उन्हें नमस्कार किया गया है।

१९. आइरियभत्ति—इसमें १० गाथाएँ हैं और इनमें आचार्यों के उत्तम गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

२०. णिव्वाणभत्ति—इस भक्तिपाठ में २७ गाथाएँ हैं। इनमें निर्वाण का स्वरूप एवं निर्वाण प्राप्त तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है।

२१. पंचगुरुभति—इस भक्तिपाठ में सात पद्य हैं। प्रारम्भिक पाँच पद्यों में क्रमश: अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों का स्तवन है। छठे पद्य में स्तवन का फल अंकित है। सप्तम पद्य में इन पाँच परमेष्ठियों का अभिधान पंच नमस्कार में किया है।

२२. थोस्सामि थुदि (तित्थयर-भत्ति)—'थोस्सामि' पद से आरम्भ होने वाली अष्ट गाथात्मक स्तुति है। इसे तीर्थंकर–भक्ति भी कहा गया है। इस स्तुतिपाठ में वृषभादि वर्धमानपर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों की उनके नामोल्लेखपूर्वक वन्दना की गई है और तीर्थंकरों के लिए जिन, जिनवर, जिनेन्द्र,

केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थंकर, विधूतरजोमल, लोकोद्योतकर आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अन्त में समाधि, बोधि और सिद्धि की प्रार्थना की गयी है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द अपूर्व प्रतिभा के धनी और शास्त्रपारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीयदृष्टि को भी प्रश्रय दिया है। अतएव इन दोनों ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीवादि पदार्थों का विवेचन करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि को अंगीकृत किये बिना कार्य नहीं चल सकता। अतएव द्रव्यार्थिकनय से जहाँ जीव के नित्य-अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के अनित्य-परिणामी स्वभाव का भी वर्णन रहता है। यों तो द्रव्य-गुण और पर्यायों का एक अखण्ड पिण्ड है, तो भी उनका अस्तित्व प्रकट करने के लिए भेद को स्वीकार किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। इसके साथ-साथ इन ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन स्वरूप प्राप्त होते हैं, इस दृष्टि में गुणस्थान और मार्गणाओं के भेदों का अस्तित्व स्वीकृत नहीं रहता। यह दृष्टि परनिरपेक्ष आत्मस्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चयनय को ही भूतार्थ तथा व्यवहार को हेय मानती है। यहाँ एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नहीं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक और शास्त्रीय दृष्टियों का विश्लेषण एवं विवेचन कर आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। इन दोनों दृष्टियों के सम्बन्ध में सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने लिखा है-''शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उस की तह तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्तकारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है, जितना उपादान कारण के व्यापार का और परसंयोग-जन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है, जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादानकारण के बिना कार्य नहीं होता, वैसे ही निमित्तकारण के बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्य की उत्पत्ति में दोनों का समव्यापार है...शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु-विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है।''

''शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। इसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है।''

अतएव संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपूर्व पाण्डित्य, उनकी शास्त्रग्रन्थन-प्रतिभा एवं सिद्धान्तग्रन्थों के सार-भाग को आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोग के रूप में प्रस्तुतिकरण आदि उनकी विशेषताएँ हैं।

डॉ० नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य

(तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा)

अन्तर्घटना

उपलब्ध जैन-दर्शन साहित्य में प्राकृत-भाषा-निष्ठ साहित्य का बाहुल्य है। कारण यही है कि यह भाषा सरल, मधुर एवं ज्ञेय है। इसीलिए कुन्दकुन्द की लेखनी ने प्राकृत-भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। उन अनेक सारभूत ग्रन्थों में अध्यात्म-शान्तरस से आप्लावित ग्रन्थराज 'समयसार' है। इसमें सहज-शुद्ध तल की निरूपणा, अपनी चरम सीमा पर सोल्लास नृत्य करती हुई पाठक को, जो साधक अध्यात्म में रुचि रखता है, बुलाती हुई सी प्रतीत होती है। यथार्थ में कुन्दकुन्द ने अपनी अनुभूतियों को 'समयसार' इस ग्रन्थ के रूप में रूपांतरित ही किया है। अमूर्त हृदय मूर्त के माध्यम से देखना तो कठिन है ही किन्तु दूसरों को दिखाना कठिनतम है। इस प्रकार से दुस्साध्य कार्य को सिद्ध करने का सौभाग्य आप जैसे महान्पूत पवित्र आत्माओं को ही प्राप्त है। तभी तो हम, आपकी इस कृति को बाह्य निमित्त बनाकर, उस निजी समयसारमय सरस सत्ता का रसास्वादन करने का परम सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। इस अपूर्व कार्य में आप (कुन्दकुन्द) ही परम निमित्त हैं।

यह कहना असत्य तो नहीं है परन्तु कटु सत्य अवश्य है कि बाह्य सभी प्रकार के ग्रन्थों को तजकर, निर्भीक-निर्ग्रन्थ हो, शेष आभ्यन्तर ग्रन्थों के विमोचनार्थ, ग्रन्थराज 'समयसार' का अवलोकन करना ही सार्थक है। निर्ग्रन्थ हुए बिना 'समयसार' का निरूपण तो संभव है किन्तु 'समयसार' का साक्षात् निरीक्षण तो आकाश-कुसुमवत् ही है।

पंचेन्द्रियों के विषम-विषयों में रच-पचने वाले विषयी-कषायी पुरुषों को 'समयसार' शिरोगम तो हो सकता है किन्तु हृदयंगम कदापि नहीं। 'समयसार' का पाचन उतना सुगम नहीं है, जितना कि वाचन या भाषण-संभाषण। वस्तुतः 'समयसार' बहिर्वस्तु नहीं है जिसे खरीदा जा सके, जिसके ऊपर अपनी सत्ता-बलवत्ता जमा सके, वह तो आंतरिक आत्मोत्थ शुद्ध परिणति सहज अर्न्तघटना है। हाँ, दिगम्बर मुनि भी ऐसा न समझें कि हमने सब परिग्रह का त्याग तो कर ही दिया है, तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते, अतः हमने समयसार का साक्षात्कार कर ही लिया है अथवा नियम से कर ही लेंगे,

यदि ऐसा समझते हैं तो उनकी वह भ्रान्तधारणा है, क्योंकि 'समयसार' की अनुभूति के लिए मात्र दिगम्बरत्व पर्याप्त नहीं है। दिगम्बर होने के उपरान्त भी दिगम्बरत्व की विस्मृति नितान्त आवश्यक है, परिधि में अटकी हुई चैतन्यधारा को केन्द्र की ओर प्रवाहित करना होगा, जिससे चेतना में स्थिरता की उद्‌भूति होगी, जिसमें 'समयसार' का नियमरूपेण दर्शन होता है।

मुनि-दीक्षा के उपरान्त, परम-पावन, तरण-तारण, गुरु-चरण सान्निध्य में इस महान् ग्रन्थ का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यह भी गुरु की 'गरिमा' कि कन्नड़ भाषा-भाषी मुझे अत्यन्त सरल एवं मधुर भाषा शैली में 'समयसार' के हृदय को श्रीगुरु महाराज ने (आचार्य श्री गुरुवर ज्ञानसागरजी महाराज ने) बार-बार दिखाया। जिसकी प्रत्येक गाथा में अमृत ही अमृत भरा है और मैं पीता ही गया! पीता ही गया!! माँ के समान गुरुवर अपने अनुभवों को मिलाकर, घोल-घोलकर पिलाते ही गये, पिलाते ही गये। फलस्वरूप एक उपलब्धि हुई, अपूर्व विभूति की, आत्मानुभूति की! अब तो समयसार ग्रन्थ भी 'ग्रन्थ' (परिग्रह के रूप में) प्रतीत हो रहा है। कुछ विशेष गाथाओं के रसास्वादन में जब डूब जाता हूँ, तब अनुभव करता हूँ कि ऊपर उठता हुआ, उठता हुआ ऊर्ध्वागममान होता हुआ, सिद्धालय को भी पार कर गया हूँ, सीमोल्लंघन कर चुका हूँ। अविद्या कहाँ ? कब सरपट चली गई, पता तक नहीं रहा। आश्चर्य तो यह है कि जिस विद्या की चिरकालीन प्रतीक्षा थी, उस विद्या-सागर के भी पार! बहुत दूर!! पहुँच चुका हूँ। विद्या-अविद्या से परे, ध्येय, ज्ञान-ज्ञेय से परे, भेदाभेद, खेदाखेद से परे, उसका साक्षी बनकर, उद्ग्रीव उपस्थित हूँ, अकम्प निश्चल शैल!! चारों ओर छाई है सत्ता, महासत्ता अब समर्पित स्वयं अपने में!

आचार्य विद्यासागर मुनि

(साभार– समयसार, आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की हिन्दी टीका से)

विषयानुक्रमणिका

ॐ णमो जिणाणं

समयोपदेश

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अपने जीवन काल में मुख्य रूप से अध्यात्म को ज्ञान एवं चिन्तन का विषय बनाया। उन्होंने ८४ पाहुड ग्रन्थों की रचना की थी। जिसमें **समयसार** नामक एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। वर्तमान में वे समस्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। **अष्टपाहुड, समयपाहुड** आदि कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। **समयसार** एक ऐसा आध्यात्मिक ग्रन्थ है जो श्रमणों को अध्यात्म-रस का आस्वादन कराता है।

श्री **कुन्दकुन्दाचार्य देव** द्वारा रचित श्री **समयसार** ग्रन्थराज पर श्री **जयसेनाचार्य** जी ने तात्पर्यवृत्ति नामक टीका एवं श्री **अमृतचन्द्राचार्य** जी ने आत्मख्याति टीका लिखी है। **तात्पर्यवृत्ति** टीका पदखण्डना रूप है, जिसमें प्रत्येक पद पर रहस्योद्‌घाटक व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। इस टीका के माध्यम से **आचार्य जयसेन** जी ने अध्यात्म एवं सिद्धान्त के रहस्यों को खोलने का पूर्ण प्रयास किया है। टीका प्रारम्भ करने के पूर्व मंगलाचरण के रूप में निम्न कारिका प्रस्तुत की है।

वीतरागं जिनं नत्वा, ज्ञानानन्दैकसम्पदम्।
वक्ष्ये समयसारस्य, वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम्॥

अर्थ—ज्ञान और आनन्द के अद्वैत स्थान वीतराग जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करके समयसार परमागम की तात्पर्य नामक वृत्ति को कहता हूँ।

व्याख्या—जिनके जीवन में पूर्ण रूप से राग समाप्त हो जाता है वे ही वीतरागता का अनुभव कर सकते हैं। रागसहित जीवन में वीतरागता की अनुभूति कभी भी संभव नहीं है। जिन्हें समीचीन सम्पदा का ज्ञान हो जाता है वे ही आनन्द का अनुभव करते हैं। भगवान् का ज्ञान वीतराग विज्ञान स्वरूप होता है। श्रमण इसी विज्ञान की प्राप्ति के लिए साधना करता है जबकि संसारी प्राणी भौतिक सम्पदाओं के पीछे दौड़ लगाता है।

जो आत्मा के वैभाविक विचारों एवं इन्द्रियों को जीतते हैं, वे जिन कहलाते हैं। इन्द्रियों को जीतने का अर्थ यह है कि अपने अपने विषयों की ओर दौड़ लगाने वाली इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना। विषय-कषायों पर विजय प्राप्त करके ही जिन बनते हैं। ऐसे वीतरागी जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके श्री **जयसेनाचार्य** ने **तात्पर्यवृत्ति** को लिखने की प्रतिज्ञा की है।

तात्पर्य शब्द की सार्थकता—तात्पर्य अर्थात् प्रयोजनभूत अर्थ। यहाँ **समयसार** का प्रयोजनभूत अर्थ है इसमें जो तत्पर हैं उन्हें ही तात्पर्य (प्रयोजनभूत अर्थ) प्राप्त होता है।

इस प्रकार तात्पर्य को प्राप्त करने वाले श्री **जयसेनाचार्य** ने **तात्पर्यवृत्ति** को लिखकर समस्त तत्त्व जिज्ञासुओं पर महती कृपा की है।

पीठिकाधिकारः

अब शुद्ध परमात्म तत्त्व के प्रतिपादन को मुख्य करके विस्तार रुचि वाले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिए श्री **कुन्दकुन्दाचार्य देव** द्वारा रचित **समयसार प्राभृत** ग्रन्थ में अधिकार की शुद्धिपूर्वक पीठिका सहित व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है। वहाँ पर सर्वप्रथम **वंदित्तु सव्वसिद्धे** इस नमस्कार गाथा को आरम्भ में लेकर सूत्रपाठ के क्रम से प्रथम स्थल में छह स्वतन्त्र गाथायें हैं। इसके आगे द्वितीय स्थल में भेदाभेद रत्नत्रय का प्रतिपादन करते हुए **ववहारेणुवदिस्सदि** इत्यादि दो गाथायें हैं। फिर तृतीय स्थल में निश्चय व्यवहार श्रुतकेवली के व्याख्यान की मुख्यता से **जो हि सुदेण** इत्यादि दो गाथायें हैं। इसके आगे चतुर्थ स्थल भेदाभेद रत्नत्रय की भावना एवं उसके फल का वर्णन करने के लिए **णाणम्हि भावणा** इत्यादि दो सूत्र हैं। इसके आगे पंचम स्थल में निश्चय-व्यवहार नामक दोनों नयों का व्याख्यान करने वाली **ववहारोऽभूदत्थो** इत्यादि दो गाथायें हैं। इस प्रकार पाँच स्थलों में चौदह गाथाओं द्वारा **समयसार** ग्रन्थ की पीठिका का व्याख्यान करने वाली यह समुदायपातनिका है।

उत्थानिका—अब सर्वप्रथम **भगवान् कुन्दकुन्द** प्रथम गाथा के पूर्वार्ध में मंगलार्थ इष्ट-देवता नमस्कार एवं उत्तरार्द्ध में इस ग्रन्थ के व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा का अभिप्राय धारण करके प्रथम सूत्र (गाथा) कहते हैं—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं ॥१॥

अन्वयार्थ—[आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि] मैं **(धुवं)** ध्रुव-शाश्वत **(अमलं)** अमल **(अणोवमं)** अनुपम **(गदिं)** गति-पंचमगति को **(पत्ते)** प्राप्त हुए **(सव्वसिद्धे)** सभी सिद्धों को **(वंदित्तु)** नमस्कार करके **(ओ)** हे भव्यजीवो! **(सुदकेवली भणिदं)** श्रुतकेवलियों द्वारा कहे गए **(इणं)** इस **(समयपाहुडं)** समयप्राभृत को **(वोच्छामि)** कहूँगा।

अर्थ—अविनाशी निर्मल और उपमा रहित गति (शुद्ध परिणति) में विराजमान सब सिद्धों को नमस्कार करते हैं। अहो भव्य जीवो! मैं श्रुतकेवलियों द्वारा कथित समयसार ग्रन्थ को कहूँगा।

मैं वंदना कर उन्हें शिव को पधारे,
जो सिद्ध हैं अतुल अव्यय सौख्य धारे।
भाई! वही समयसार सुनो सुनाता,
जो भद्रबाहु श्रुत-केवलि ने कहा था ॥१॥

व्याख्या—मंगलाचरण में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने **समयप्राभृत** शब्द का प्रयोग किया है।

आगे इसी ग्रन्थ के **कर्त्ताकर्माधिकार** में **समयसार** शब्द का भी प्रयोग किया है।

सम्मद्दंसणणाणं एवं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो ॥१५१॥

समय एक द्रव्य का नाम है। अपने ही शुद्ध गुण पर्यायों के द्वारा जो प्रकट होता है वह समय है। सार शुद्धावस्था रूप समय अर्थात् आत्मा, उसका प्राभृत **समयप्राभृत** है।

''समं एकीभावेन अयनं गमनं समयः प्राभृतं सारं समयस्य आत्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं''

एकमेकरूप से गमन का नाम समय है। जितनी भी गत्यर्थक धातुएँ हैं वे सभी ज्ञानार्थक भी होती हैं। इस अर्थ के अनुसार जो अपने शुद्धात्म तत्त्व में सिद्धत्व की अभिधानात्मक (ज्ञानात्मक) परिणति स्वरूप है, वह समय है।

श्री **जयसेनाचार्य** की यह **तात्पर्यवृत्ति** दर्पण की भाँति हू-ब-हू वर्णन करने वाली टीका है। यह मूलभूत तत्त्व का वर्णन करने में समर्थ है। सरल सुगम भी है। इसका पठन-पाठन और वाचन समाज में बहुत कम है। यदि एकाग्रता पूर्वक मनोयोग से इसका वाचन भूमिका के अनुसार किया जाये तो समाज में विद्वानों के बीच की अनेक विसंगतियाँ समाप्त हो सकती हैं।

महान् ग्रन्थ **समयसार** की पीठिका १४ गाथाओं में है शेष इसी का विस्तार है। जैसे—भगवान् को पीठिका पर विराजमान करते हैं वैसे ही मानों **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने **समयसार** को १४ गाथाओं की पीठिका पर विराजमान किया है। प्रथम गाथा सूत्र में इष्ट देवता को नमस्कार करके ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा प्रस्तुत की है।

इष्ट देवता को नमन—प्रत्येक श्रद्धालु के इष्ट-देवता भिन्न-भिन्न होते हैं। **श्री कुन्दकुन्ददेव** ने मंगलाचरण में जो संसार से पृथक् हैं, जो ध्रुव, अचल, निर्मल आदि सर्वगुण सम्पन्न हैं, जो संसार में अटकने एवं अटकाने वाले नहीं हैं, जो किसी के सेवक नहीं हैं ऐसे इष्ट देव के रूप में सर्वसिद्धों को नमस्कार किया है। वे समस्त सिद्ध पंचमगति (शुद्ध सिद्ध गति) को प्राप्त हैं। वे उपमारहित अद्वितीय हैं। दुनिया में सिद्धों को मानने वालों की अनेक मान्यतायें हैं। उनमें जैन दर्शन की मान्यता अभूतपूर्व है। जैनदर्शन में सदाशिव रूप सिद्ध नहीं, किन्तु सादि अनन्त स्वरूप सिद्धों का कथन है।

मंगलाचरण के क्रम में श्री आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने **पञ्चास्तिकाय** ग्रन्थ में इष्टदेव भगवान् महावीर स्वामी को, 'अष्टपाहुड' ग्रन्थ में श्री वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों को तथा अन्य ग्रन्थों में त्रिकाल चौबीसी को भी नमस्कार किया है। अनेक ग्रन्थों में अनेक आचार्यों द्वारा अनेक प्रकार से मंगलाचरण किये गये हैं।

''समय की व्याख्या का जिसमें भण्डार है, उसे **समय प्राभृत** कहते हैं।'' यह **समयप्राभृत** ग्रन्थ परमागम, जो केवली हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा कहा गया है, अथवा श्रुतकेवली जो गणधरदेव हैं उनके द्वारा कहा गया है। **केवली का अर्थ**-अर्थात् ज्ञान की पूर्णता से जो युक्त हैं वे केवली हैं।

भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हुए हैं उनमें जो श्रुतकेवली हुए हैं, उन आचार्य के शिष्य थे **आचार्य कुन्दकुन्ददेव**।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने स्वयं **अष्टपाहुड** ग्रन्थ के **बोधपाहुड** की ६१ एवं ६२ वीं गाथा में आचार्य भद्रबाहु को अपना 'गमकगुरु' एवं स्वयं को उनका शिष्य घोषित किया है।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयउ ॥६२॥

भाषा ससूत्र जिननायक ने बताया,
सो शब्द का सब विभाव विकार माया।
मैं भद्रबाहु गुरु का लघु शिष्य छाया,
जो ज्ञात था समय के अनुसार गाया ॥६१॥
वाक्देवि के पटु प्रचार प्रसार कर्त्ता,
हे! द्वादशांग श्रुत चौदह पूर्व धर्ता।
हे! भद्रबाहु श्रुतकेवल ज्ञान धारी,
स्वामी! गुरो गमक हे! जय हो तुम्हारी ॥६२॥

अर्थ—जिनेन्द्र द्वारा कथित भाषासूत्रों को भद्रबाहु के शिष्य ने जाना वही मैंने कहा। जिनको बारह अंगों का विशेष ज्ञान है और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तृत ज्ञान है, वे श्रुतकेवली / श्रुतज्ञानी हैं। ऐसे 'गमकगुरु' भद्रबाहु भगवान् जयवन्त हों। "**जो सूत्र के अर्थ को प्राप्त कर आगमानुसार वाक्यार्थ करते हैं, उनको गमकगुरु कहते हैं।** भद्रबाहु स्वामी पञ्चम-श्रुतकेवली हुए हैं।"

सीसेण य भद्दबाहुस्स यह पाठ भी **बोधपाहुड** ग्रन्थ में है। मैं भद्रबाहु का शिष्य हूँ। उनके शिष्यत्व को अंगीकार करके **समयसार** ग्रन्थ को कहता हूँ। यह स्पष्टीकरण अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है। केवली, श्रुतकेवली की वाणी से इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को प्रस्तुत किया है।

समयसार ग्रन्थ की भाषा—

प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं। भाषा के बारे में विद्वानों की मान्यता यदि ऐसी है कि प्राकृत भाषा प्राचीन है और संस्कृत अर्वाचीन है। यह युक्ति हल्की प्रतीत होती है। जो व्यक्ति इसको अर्वाचीन घोषित करने के लिए कटिबद्ध होता है उसके बारे में कहने के लिए मैं कटिबद्ध होता हूँ कि **श्री उमास्वामी** महाराज ने संस्कृत भाषा में **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रन्थ, जो **श्री कुन्दकुन्ददेव** के समकक्ष है, ईसवी द्वितीय शताब्दी में ही लिखा गया है।

आराध्य-आराधक भाव की उपयोगिता—

स्वामी के आधार से नयों का कथन होता है। निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों का कथन भी स्वामी की भूमिकानुसार किया जाता है। निश्चयनय कहते ही अपने में और व्यवहार कहते ही पर में सिद्ध होता है अथवा निश्चयनय कहते ही 'अभेद' और व्यवहार कहते ही 'भेद' कथन सिद्ध होता है। आराधना दो प्रकार की होती है—१. व्यवहार आराधना, २. निश्चय आराधना। भगवान् की वचनात्मक स्तुति 'व्यवहार आराधना' है। निर्विकल्प समाधि में तन्मय होकर शुद्धात्मा की ध्यानात्मक स्तुति 'निश्चय आराधना' है। निश्चयनय की भूमिका में, जब श्रमण निर्विकल्प समाधि में लीन होते हैं तब आराध्य-आराधक एवं आराधना तीनों की अभेद स्थिति रहती है, जबकि व्यवहारनय की भूमिका में आराध्य-आराधक और आराधना की भेदमय स्थिति होती है। **आचार्य ज्ञानसागर जी** ने भी लिखा है कि छट्ठे गुणस्थान तक व्यवहार आराधना और सातवें गुणस्थान से ध्यानात्मक अवस्था में निश्चय-आराधना होती है।

नमस्कार के भेद—

नमस्कार दो प्रकार के होते हैं—१. द्रव्य नमस्कार, २. भाव नमस्कार। मनोयोग के साथ, वचन प्रणाली सहित हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर नमस्कार करना द्रव्य नमस्कार है। स्तुति, स्तुत्य एवं स्तोता ये तीनों जहाँ अभेद-स्थिति में रहते हैं वहाँ भाव नमस्कार होता है। भाव नमस्कार अपने आपमें होता है। दोनों प्रकार के नमस्कारों में मनसा, वचसा, वपुषा तीनों में से एक की भी कमी नहीं होना चाहिए। यदि एक की कमी होगी तो आपका वास्तविक नमस्कार नहीं माना जायेगा।

आप सभी श्रावकजन पूजन के समय कहते हैं—**झुका रहा अपना माथा** इसका अर्थ माथा झुकाने से नहीं है किन्तु मनोयोग पूर्वक, वचन के साथ माथा झुकाने का भाव है। मन, वचन, काय तीनों के साथ किया गया द्रव्य नमस्कार ही सार्थक एवं सफलीभूत होता है। भाव नमस्कार में द्रव्य की क्रिया का सम्बन्ध नहीं होता किन्तु द्रव्य स्वयं नमन भाव के साथ तन्मय होता है। मन, वचन, काय तीनों के बीच कोई भेद नजर नहीं आता। इस कोटि का भाव नमस्कार निर्विकल्प समाधि में ही सम्भव होता है।

सिद्ध भगवान् चूँकि सर्वोच्च पूजनीय अवस्था को प्राप्त हैं अतः वे कभी किसी को नमस्कार नहीं करते। जो स्वयं को असिद्ध अवस्था में भी सिद्ध रूप मानता है, वह कभी सिद्ध बनने के मार्ग को नहीं अपनाता किन्तु जो स्वयं को शक्ति रूप सिद्ध मानते हुए भी वर्तमान असिद्ध अवस्था को स्वीकार करता है वही मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है। वही सिद्धों की वन्दना करता है फलस्वरूप सिद्ध पद को प्राप्त करता है। जो एकान्त से स्वयं को वर्तमान अवस्था में सिद्धत्व स्वरूप मानता है वह कभी सिद्धों को नमस्कार करना स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि स्वयं सिद्ध है फलस्वरूप कभी सिद्ध भी नहीं बन सकेगा।

विशेष-चिन्तन—

लक्षण में अतिशय कथन ठीक नहीं होता, गुणगान में अतिशय हो सकता है। गुणगान भी प्रसंग एवं भूमिका के अनुसार होता है। **अपनी प्रशंसा स्वयं करना एक बार भी ठीक नहीं है, दूसरों की प्रशंसा बार-बार करना ठीक है। एक बात और है कि दूसरों के द्वारा अपनी प्रशंसा बहुत बार हो तो भी ठीक है।**

जो सिद्धपरिणति को प्राप्त कर चुके हैं वास्तव में वे ही सिद्ध हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सिद्ध-भक्ति के प्रारम्भ में ही कहा है कि–**सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः** यदि हम वर्तमान में उक्त लक्षण युक्त सिद्ध होते तो सिद्धों को नमस्कार करने की आवश्यकता ही नहीं थी। सिद्धों को नमस्कार करने वाले भव्य जीव को 'होनहार-सिद्ध' कह सकते हैं। चूँकि उसके पास सिद्ध बनने की क्षमता विद्यमान है।

सिद्ध परमेष्ठी १६ बानी १०० टंच स्वर्ण के समान हैं, एक अंश का भी बट्टा नहीं। २४ कैरेट सोने में भी अशुद्धि होती है। वह शत-प्रतिशत शुद्ध नहीं होता। यदि वर्तमान में १६ बानी १०० टंच स्वर्ण के समान शत-प्रतिशत शुद्ध आत्मतत्त्व है तो इधर-उधर की बातों में, विषय कषायों के सेवन में, छोटे-बड़ों के चक्कर में, आर्त-रौद्र ध्यान में क्यों लगा है ? इस अवस्था में रहते हुए भी वर्तमान में अपने आपको सिद्धों की सानी में रखना एक प्रकार का अज्ञान है अथवा आगम का सापेक्ष ज्ञान नहीं है। स्वयं को धोखा देना है। दूसरों को भी धोखे में डालना है। आचार्यों का कथन है कि **धोखा-बाजी को धोकर नष्ट करो अन्यथा अवश्य धोखा खायेंगे। धोखा में धो और खा ये दो अक्षर हैं जिनसे निकलता है कि जो धोखा करेगा वह धोखा खायेगा। अतः धोखा देना छोड़ो।**

ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध—

सिद्धों का वर्णन करते हुए **श्री कुन्दकुन्ददेव** ने ध्रुव विशेषण भी दिया है। ध्रुव का अर्थ है–टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव में जो अडिग है या अविनश्वर है। ज्ञायक कर्ता का प्रतीक है और कर्म रूप में होता है। ज्ञान का महत्त्व है, ज्ञेय का नहीं। ज्ञायक को महत्त्व देने से द्रव्य की ओर दृष्टि जाती है। आप भी ज्ञायक हैं पर स्वभावभूत ज्ञायक नहीं हैं। ज्ञेय दो प्रकार के होते हैं। स्वज्ञेय एवं परज्ञेय। संसारी प्राणी बाह्य परज्ञेय का ज्ञायक तो हमेशा से है परन्तु स्वज्ञेय का ज्ञायक आज तक नहीं बना। स्वभावभूत स्व का ज्ञाता ही सही ज्ञाता माना जाता है। संसारी प्राणी बाह्य ज्ञेयों से प्रभावित होता है जो पर ज्ञेयों से प्रभावित होता है उसके 'ज्ञेय-ज्ञायक' सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि वहाँ हर्ष-विषाद है, यही कमी है। वैसे संसार में ज्ञेय-ज्ञायक के अलावा कुछ भी नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव की देशना है कि यदि **स्वभावभूत ज्ञेय-ज्ञायक का अनुभव करना है तो हर्ष-विषाद को कभी न करें।**

नमस्कार का फल—

प्रथम मंगलाचरण रूप गाथा में आचार्यदेव ने श्री सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके यह भी

सूचित किया है कि पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति करने से, उनको नमस्कार करने से मात्र पुण्य का बन्ध नहीं होता किन्तु पापों का विसर्जन भी होता है। पाप का क्षय एवं पुण्य-वर्धन होने से जीव का उद्धार होता है।

मूलाचार ग्रन्थ में **श्री वट्टकेर आचार्य** ने स्वयं नमस्कार का फल बतलाते हुए निम्न गाथा लिखी है–

अरहंत णमोकारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥७-५॥

अर्थ–जो भक्त भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होता है।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं ॥७-८१॥

अर्थात् जिनेश्वर की भक्ति रूप शुभ भाव से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है।

उत्थानिका–मंगलाचरण के उपरान्त स्वसमय एवं परसमय का लक्षण बतलाते हुए आगे का सूत्र कहते हैं–

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

अन्वयार्थ–**(जीवो)** जो जीव **(चरित्तदंसणणाणट्ठिदो)** दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है **(तं)** उसको **(हि)** निश्चय से **(ससमयं)** स्वसमय **(जाण)** जानो **(च)** और **(पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं)** जो जीव पौद्गलिक कर्म-प्रदेशों में स्थित है **(तं)** उसको **(परसमयं)** परसमय **(जाण)** जानो।

अर्थ–जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित होकर रहता है वह स्वसमय है व जो पौद्गलिक कर्मोपदेशों में स्थित होकर रहता है वह परसमय है।

जो शुद्ध-बोध व्रत दर्शन में समाता,
होता निजी समय जीव वही सुहाता।
रागादि का रसिक वो निज को भुलाया,
माना गया समय में समया पराया ॥२॥

स्वसमय एवं परसमय की व्याख्या–जो जीव जिस समय चारित्र, दर्शन, ज्ञान में स्थित रहता है उस समय वह 'स्वसमय' स्थित जीव कहलाता है। **आचार्य जयसेन स्वामी** जी ने **तात्पर्यवृत्ति** में स्वसमय की व्याख्या करते हुए लिखा है कि–विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में रुचि रूप सम्यग्दर्शन और उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन रूप सम्यग्ज्ञान (वीतराग विज्ञान) तथा निश्चल अनुभूतिरूप वीतराग चारित्र है। इस प्रकार लक्षण वाले वीतरागता के साथ व्याप्ति रखने वाले निश्चय रत्नत्रय के साथ जब जीव परिणत होता है उस समय उस जीवात्मा को स्वसमय कहा है।

स्वसमय से विपरीत पुद्‌गल कर्मोपदेश में स्थित जीव को पर समय जानो। '**पुद्‌गलकर्मोपदेश**' की स्पष्ट व्याख्या यह है कि–कर्मोदय से जो नर-नारकादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं, उनमें (निश्चय रत्नत्रय रूप परिणति के अभाव से) जो स्थित है उसे परसमय समझो। परसमय के स्वरूप के कथन में गाथाकार ने केवल **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं** कहा है। आगे इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

कर्म के भेद–कर्म तीन प्रकार के होते हैं–१. द्रव्यकर्म, २. भावकर्म, ३. नोकर्म। राग, द्वेष, मोह आदि वैभाविक परिणामों को भावकर्म कहते हैं। दसवें गुणस्थान तक राग-द्वेष भाव प्रणाली चलती है, इसके आगे १३ वें गुणस्थान तक योगाश्रित भाव-प्रणाली है। जिसके द्वारा कर्म का आस्रव होता है। १४ वाँ गुणस्थान आस्रव रहित है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि योग को द्रव्य कर्म या भावकर्म किसमें गर्भित करें ? इसका सीधा-सीधा समाधान यही है कि योग भाव-कर्म में गर्भित होगा क्योंकि भावकर्म ही द्रव्यकर्म को आस्रवित करता है। जहाँ तक योग है वहाँ तक आस्रव है अतः तीनों योग भावकर्म के अन्तर्गत माने जायेंगे। शरीर नाम कर्म के उदय से योग होता है, अतः इसे औदयिक भाव भी माना है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म द्रव्यकर्म हैं तथा शरीर आदि नोकर्म हैं। इस प्रकार नय विवक्षा से इन तीनों प्रकार के कर्मों में जो स्थित है वह 'परसमय' है। इससे तो यह फलित होता है कि जो योग भाव में स्थित है वह भी कथंचित् परसमय माना जायेगा। १४वें गुणस्थान का जो स्वरूप है वह सिद्धों में नहीं पाया जाता अतः अयोग केवली गुणस्थान जीव का स्वाश्रित आत्मभूत लक्षण नहीं है। १४वाँ गुणस्थान स्वाभाविक नहीं है। प्रश्न होता है कि वहाँ कौन सा वैभाविक परिणमन है ? आचार्य कहते हैं कि वहाँ पर चतुर्थ शुक्लध्यान है। ध्यान रूप पर्याय भी एक प्रकार से वैभाविक पर्याय है इसलिए कथंचित् इसे भी भावकर्म माना जा सकता है। जितने भी भावकर्म हैं वे सभी कर्मबंध के लिए कारण हों ऐसा एकान्त नहीं है। चतुर्थ शुक्लध्यानात्मक क्रिया शुद्ध स्वस्थ आत्मा की क्रिया नहीं है। जब तक ध्यान की क्रिया रहती है तब तक सिद्धत्व का अनुभव नहीं होता। अतः इस विवक्षा से यहाँ पर भी 'पूर्ण स्वसमय' अवस्था नहीं है। ऐसा कहा जा सकता है। यह सिद्ध हुआ।

स्वसमय-परसमय का विशेष कथन–

व्याकरण की दृष्टि से भी मूलगाथा के **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं** चरण में जो पुद्‌गल कर्म उपदेश स्थित शब्द है उसका अर्थ-पुद्‌गल कर्म के निकट स्थित होता है। उसमें स्थित होने के कारण भी १४ वें गुणस्थान में कथंचित् पर समय घटित हो रहा है। उप, अधि, अभि ये उपसर्ग निकट अर्थ को देने वाले होते हैं। अतः १४ वें गुणस्थान में पुद्‌गल कर्मों की अन्तिम परिणति के साथ निकटता सिद्ध है। यह वस्तु स्थिति है कि स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, परसमय शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है।

जिज्ञासा–१३ वें व १४ वें गुणस्थानवर्ती केवली मुनि हैं या भगवान् ? यदि भगवान् हैं तो क्या भगवान् भी 'परसमय' कहलायेंगे। यदि भगवान् नहीं हैं तो उन्हें भगवान् कहकर नमोऽस्तु क्यों करते हैं ? यदि मुनि हैं तो कौन से मुनि हैं ?

समाधान—१३ वें व १४ वें गुणस्थानवर्ती केवली को मुनि अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानी कहते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** के **पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका: निर्ग्रन्था:** इस सूत्र के अनुसार १३ वें व १४ वें गुणस्थान में मुनियों के भेद की अपेक्षा उन्हें 'स्नातक' संज्ञा दी गई है। सिद्ध भगवान् स्नातकोत्तर हैं। फिर भी उन्हें जो भगवान् संज्ञा प्रचलित है वह केवलज्ञान की अपेक्षा है। वैसे तो प्रत्येक आत्मा को भगवान् कहा जा सकता है क्योंकि **भगं ज्ञानं यस्य अस्ति स: भगवान्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो ज्ञान सहित है वह भगवान् है। फिर भी विशेष ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की विवक्षा में भगवान् शब्द पूज्यता की दृष्टि से प्रचलित है। वे केवली भगवान् मुक्त हैं या संसारी ? मुक्त तो नहीं हैं 'जीवन-मुक्त' संज्ञा अवश्य दी है। वे संसारी नहीं किन्तु नोसंसारी हैं। अत: वे पूर्णमुक्त नहीं हैं और पूर्ण संसारी भी नहीं हैं अत: स्वसमय संज्ञा भी पूर्णत: घटित नहीं होती। फिर उन्हें परसमय कह सकते हैं क्या? विवक्षावश कह सकते हैं लेकिन हम जैसी सामान्य परसमय संज्ञा नहीं दी जा सकती। हमारे में और उनमें बहुत अंतर है। वे केवलज्ञान से विभूषित हैं जबकि हम छद्मस्थ हैं। वे स्वसमय के निकट पहुँच गए हैं वे स्वसमय बनने के उम्मीदवार हैं जबकि हमारा अभी ऐसा कोई निश्चित नहीं है। वे आस्रव के मिथ्यात्व आदि चार प्रत्ययों से रहित हो चुके हैं जबकि अपना ऐसा नहीं है।

अयोगकेवली नामक १४ वें गुणस्थान में आस्रव का एक भी प्रत्यय नहीं है, लेकिन ध्यान भी जीव की स्वाभाविक क्रिया नहीं हैं। ध्यान कर्मों के क्षय में कारण है। कर्मों का क्षय होते ही ध्यान समाप्त हो जाता है। अत: ध्यान योग नहीं है, आस्रव का कारण भी नहीं है लेकिन उसके रहते हुए स्वरूप की अभिव्यक्ति भी नहीं होती। सिद्धावस्था (स्वसमय) में उसका सद्भाव नहीं रहता। ऐसी अवस्था में हम अयोगकेवली को **पुद्गलकम्मुवदेसट्ठियं** परसमय के अन्तर्गत ले सकते हैं।

स्वसमय-परसमय का सामान्य कथन—

सामान्य कथन की विवक्षा में यही कहा जाता है कि जो जीव चारित्र, दर्शन, ज्ञान में स्थित है अर्थात् जो निश्चय रत्नत्रय या अभेद रत्नत्रय में स्थित है वह स्वसमय है। जो निश्चय रत्नत्रय के अभाव में सराग दशा में, भेद रत्नत्रय में स्थित हैं वे सभी परसमय हैं। स्वसमय श्रमण और स्वसमय केवली, इन दोनों में समानता नहीं है।

इस प्रकार सामान्य और विशेष कथन की अपेक्षा स्वसमय एवं परसमय संज्ञा वाले जीवों को दो रूपों में देखा जा सकता है। विशेष विवक्षा में मुक्त जीव स्वसमय हैं शेष सभी परसमय। सामान्य विवक्षा में वीतरागता का अविनाभावी निश्चय रत्नत्रय में स्थित श्रमण स्वसमय हैं शेष सभी परसमय।

परसमय श्रमण और परसमय मिथ्यादृष्टि इनमें जमीन आसमान का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि को तो समय संज्ञा में भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि वे परसमय में नहीं किन्तु पर वस्तुओं में ही झंपापात लेने वाले होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि को मात्र श्रद्धान की अपेक्षा भी 'स्वसमय' नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह श्रमणतुल्य नहीं माना जा सकता।

हेय-उपादेय का विचार–

स्वसमय उपादेय है, परसमय हेय। इस विषय में भी विवक्षाभेद की अपेक्षा विचार आवश्यक है। शुद्ध स्वात्मगुणों के साथ जिनका एकत्व है जिसमें अन्य किसी का समावेश नहीं है, जिस पर किसी अन्य वस्तु का प्रभाव नहीं है, वे ही शुद्धात्म स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी स्वसमय उपादेय स्वरूप हैं। कर्मबन्ध अथवा कर्म की सत्ता का भी जहाँ कोई अस्तित्व एवं प्रभाव नहीं है ऐसे कर्ममुक्त स्वसमय सिद्ध उपादेय हैं। गुणस्थानातीत पर्याय उपादेय है।

आत्मा और कर्मों के बीच जहाँ एकत्व है वह उपादेय नहीं है। अतः चौदहवें गुणस्थानवर्ती भी एक प्रकार से उपादेय नहीं हैं। लेकिन प्रसंगवश १३ वें व १४ वें गुणस्थानवर्ती एवं निर्विकल्प समाधि में लीन मुनिराज भी हमारे लिए उपादेय हैं क्योंकि वे रत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्मतत्त्व में लीन हैं, वे हमारे लिए आदर्श स्वरूप हैं, किन्तु त्रैकालिक उपादेय की दृष्टि से सिद्धत्वस्वरूप स्वसमय ही उपादेय है। गुणस्थानगत परिणाम कथञ्चित् हेय और कथञ्चित् उपादेय होते हैं। मिथ्यात्व अवस्थागत परसमय सर्वथा हेय है। प्रसंगानुसार हेय, उपादेय को दृष्टान्त के माध्यम से समझा जा सकता है।

दृष्टान्त–जिस बालक ने अभी स्कूल जाना शुरू नहीं किया उसे प्रथमादि कक्षा क्रमशः उपादेय है। चूँकि उसे बुद्धि का विकास करना है, आगे ज्ञान प्राप्त करने का लक्ष्य है अतः उसे स्कूल, कॉलेज की समस्त कक्षायें क्रमशः साधन रूप में उपादेय हैं।

दो प्रकार के उपादेय होते हैं–१. तात्कालिक उपादेय, २. त्रैकालिक उपादेय।

अन्तिम लक्ष्य त्रैकालिक उपादेय होता है तथा लक्ष्य के साधनभूत उपादेय तात्कालिक उपादेय होते हैं। जैसे-जैसे लक्ष्य के निकट आगे-आगे पहुँचते जाते हैं वैसे-वैसे पीछे के साधनभूत तात्कालिक उपादेय हेयरूप होकर छूटते जाते हैं। उक्त दृष्टान्त के अनुसार जैसे-छात्र को प्रवेश की अपेक्षा प्रथम कक्षा उपादेय है लेकिन वही जब द्वितीय कक्षा में पहुँच जाता है तो उसे प्रथम कक्षा हेय, तृतीय कक्षा में पहुँचने पर द्वितीय कक्षा हेय होती चली जाती है। इस प्रकार एम॰ ए॰ तक पहुँच गए। एम॰ ए॰ के बाद कोई कहे कि पुनः बी॰ ए॰ करो, यह ठीक नहीं है। लेकिन बी॰ ए॰ के बाद एम॰ ए॰ उपादेय है।

उक्त प्रसंग को दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है कि यदि मंजिल पर पहुँचना लक्ष्य है तो मंजिल की प्राप्ति उपादेय है। लेकिन जब तक मंजिल की प्राप्ति नहीं होती तब तक प्रत्येक सीढ़ी दर सीढ़ी उपादेय और हेय रूप बनती चली जाती हैं। वैसे वास्तव में तो यह कहना चाहिए कि मंजिल उपादेय है तो सीढ़ी हेय नहीं किन्तु उपाय रूप है। एम॰ ए॰ उपादेय है तो प्रथमादि कक्षा से बी॰ ए॰ तक सभी कक्षायें उपाय स्वरूप हैं। यदि इनको प्रारम्भ से ही हेयदृष्टि से स्वीकार करेंगे तो एम॰ ए॰ तक कैसे पहुँचेंगे ? सीढ़ी पर कदम रखना स्वीकार नहीं करेंगे तो कभी मंजिल पर नहीं पहुँच सकते। लक्ष्य रूप उपादेय के पूर्व उपाय को भी उपादेय कह दें तो यह अन्योक्ति नहीं होगी। सम्पन्न-दशा उपादेय रूप होती है और उस तक पहुँचने के लिए जो पिछली दशाएँ हैं वे सभी हेय नहीं किन्तु उपायरूप होती

हैं। इस प्रकार किसी भी क्षेत्र में हेय, उपाय और उपादेय ये तीनों होते हैं। जो व्यक्ति उपादेय की प्राप्ति के पूर्व उपाय को भी हेय समझता है वह थोड़ा ऊपर चढ़ा भी हो तो या तो धड़ाम से नीचे गिर जाता है अथवा ऊपर चढ़ता ही नहीं। नीचे ही खड़ा रह जाता है। ऊपर चढ़ने के उपरान्त नीचे गिरना फिर भी ठीक है क्योंकि उसे ऊपर की दशा का अनुभव तो हो गया जिससे फिर कभी चढ़ना चाहे तो उत्साह बना रहे। लेकिन कोई यह सोचे कि हम तो नहीं गिरने योग्य साधन को ही अपनायेंगे तो यह तो किसी भी क्षेत्र में कभी भी सम्भव नहीं है। सबको गिरना अनिवार्य होता है।

आज तक मोक्षमार्ग में जो कोई भी चढ़ा है वह नियम से नीचे गिरा है। अभी तक कोई भी ऐसा रिकार्ड नहीं बना कि ऊपर चढ़कर नीचे न उतरा हो और भविष्य में भी ऐसा होना कभी सम्भव नहीं है। सामान्य मुनि हों या तीर्थंकर भी क्यों न हों सभी दीक्षित होते ही सर्वप्रथम सातवें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं फिर नियम से छठवें गुणस्थान में आते ही हैं। एक, दो बार नहीं नियम से हजारों बार। सातवें गुणस्थान में चढ़ते हैं फिर छठवें में आते हैं। इसके बिना श्रेणी पर चढ़ना सम्भव ही नहीं है। जैसे–झूला झुलाने से सर्वप्रथम ऊपर की ओर जाता है फिर नियम से नीचे की ओर आता ही है बिना नीचे उतरे झूला और अधिक ऊपर नहीं चढ़ सकता। नीचे गिरने के भय से जो ऊपर चढ़ने का प्रयास नहीं करता वह कभी मंजिल को प्राप्त नहीं कर सकता। यह तो वैसा ही है कि कोई व्यक्ति निरोग होना तो चाहता है किन्तु औषधि लेना स्वीकार न करे, साथ में यह भी कहे कि औषधि लेना निरोगता नहीं है। यह ठीक है कि औषधि का सेवन निरोगता नहीं है लेकिन उसे यह भी सोचना चाहिए कि बिना औषधि के भी नीरोगता प्राप्त नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति को निरोगता श्रेयस्कर है उसे औषधि का सेवन अनिवार्य है। यदि वह कहता है कि–मुझे तो गाढ़ श्रद्धान है कि जिस प्रकार रोग है उसी प्रकार औषधि लेना भी रोग है। इसलिए हम दवाई नहीं ले सकते तो वैद्यजी कहते हैं कि–हम तुम्हारे इस गाढ़ श्रद्धान को मिटाना नहीं चाहते क्योंकि गाढ़ श्रद्धान कभी मिटता नहीं लेकिन ध्यान रखना, मेरी बात नहीं मानोगे और औषधि को नहीं लोगे तो अन्त में पश्चाताप करोगे। निरोगता को पाना तो बहुत दूर रहेगा, रोग दशा में ही मृत्यु को प्राप्त करोगे। यदि फिर भी वह कहता है कि यह कैसे होगा ? श्रद्धान तो है हमारा। वैद्य कहता है–श्रद्धान मात्र से काम नहीं चलता। यह तुम्हारा विपरीत श्रद्धान है, औषधि रोग दूर करने के लिए उपाय स्वरूप है उसे वैसा स्वीकार नहीं करना विपरीत श्रद्धान है।

विपरीत श्रद्धान क्या है ?

विपरीत श्रद्धान में स्वरूपविपर्यास, कारणविपर्यास एवं भेदाभेदविपर्यास होते हैं। सम्यग्दृष्टि इन तीनों विपर्यासों से रहित होता है। उक्त प्रसंग से ही तीनों विपर्यासों को समझा जा सकता है। ''रोग के समान ही औषधि है'' ऐसा श्रद्धान स्वरूप विपर्यास है। ''निरोगता के कारण को, कारण रूप से नहीं मानना'' यह कारण विपर्यास है। ''कारण कार्य दोनों में भेद स्वीकार न कर अभेद रूप मानना'' यह भेदाभेद विपर्यास है। **सर्वार्थसिद्धि** ग्रन्थ में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने इनका वर्णन किया है।

उक्त तीनों विपर्यासों से सहित श्रद्धान ही विपरीत श्रद्धान होता है। यह तो उस बालक की भाँति श्रद्धान है जो ऊपर छत पर जाना चाहता है, नीचे जमीन पर रहना पसन्द नहीं है लेकिन यह कह रहा है कि मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं सीढ़ी पर पैर नहीं रखूँगा। ऐसी विपरीत बुद्धि वाले को छत पर पहुँचना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। यदि कोई कहता है कि लिफ्ट से तो संभव है उन्हें विचार करना चाहिए कि लिफ्ट से चढ़ना या सीढ़ी से चढ़ना दोनों एक ही बात है। उपाय तो दोनों ही हैं। किसी को भी स्वीकार तो करना ही पड़ेगा। बिना लिफ्ट या बिना सीढ़ी के अथवा अन्य कैसा भी कोई भी साधन हो, स्वीकार करना ही होगा। एक बात और ध्यान में रखना कि मान लो कोई सीढ़ी पर चढ़ गया और बीच में ही रुक जाये तो भी उसे खतरा है क्योंकि बीच में कुछ भी हो सकता है, तूफान भी आ सकता है। ऐसा तूफान कभी नहीं आता जो ऊपर पहुँचा दे किन्तु तूफान तो नीचे ही गिरायेगा अतः बीच में रुकने से भी मंजिल की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यह बात अलग है, कि थक गए हों तो विश्राम के लिए कुछ देर रुक जायें फिर आगे बढ़ जायें। जो सीढ़ी पर चढ़कर मंजिल पर पहुँच जाता है वह धन्यवाद का पात्र होता है। **यह प्रक्रिया विधि है। जो व्यक्ति विधि को छोड़कर चलता है वह कभी विधि को (कर्म को) नहीं काट सकता अर्थात् कर्ममुक्त नहीं बन सकता।** अतः कृपालु उपकारी आचार्य महान् उपकार भाव से कृपा करते हुए कहते हैं कि–**उपकार करने वाला जो उपकरण है उसके बारे में सही श्रद्धान होना चाहिए। जैसे जमीन और सीढ़ी एक नहीं है वैसे ही मंजिल और सीढ़ी भी एक नहीं है।** ऐसा श्रद्धान बना लो। ''निरोगता और औषधि एक ही चीज नहीं है।'' यह भी अच्छी तरह समझ लो। यथाविधि अर्थात् जैसी विधि है उसी के अनुसार चलो व्युत्क्रम से चलना ठीक नहीं है। विधि के अनुसार ही चलना पड़ेगा। कारण के बारे में यथार्थ श्रद्धान रखो। जो जिस रूप में है उसको उसी रूप में स्वीकार करो।

सिद्धत्व रूप स्वसमय आराध्य है–

सिद्धत्वरूप स्वसमय सबके लिए आराध्य है। सर्वोच्च सम्पन्न दशा को प्राप्त सिद्धत्व रूप स्वसमय उपादेय भी है। उस उपादेय स्वरूप आराध्य का स्वरूप क्या है ? इसे समझना अत्यन्त आवश्यक है।

सिद्धत्व का स्वरूप–

सिद्धत्व गुणस्थानातीत होता है। सिद्धत्व सिद्ध जीवों में प्रकट होता है। सिद्धत्व द्रव्य प्राणों से अतीत होता है। वह क्षायोपशमिक भावरूप नहीं होता। उसे भोजन पानी की आवश्यकता नहीं होती। वह अशुद्ध नय, उपचरित असद्भूत या सद्भूत व्यवहार का विषय नहीं होता। वह तो शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत शुद्ध निश्चय प्राण दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप शुद्ध गुण स्वरूप होता है। इन समग्र विशेषताओं से विशिष्ट जो जीव है वही शुद्धात्मा माना जाता है। इस शुद्धात्मा का ही शुद्ध गुणों के साथ एकत्व निश्चित होता है। संसार दशा में स्थित जो शुद्धात्मा पर विश्वास रखने वाला है वह

शुद्धात्मा नहीं है क्योंकि वह शुद्ध गुणों के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं है। शुद्धात्मा का स्वरूप तो सिद्धालय में प्राप्त होता है। जीव की सिद्धत्व अवस्था ही मोक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। बन्ध पूर्वक ही मोक्ष होता है अतः **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने बन्ध के बाद ही मोक्षाधिकार में मोक्ष-तत्त्व का कथन किया है। संवर, निर्जरा के द्वारा मोक्ष होता है। संवर, निर्जरा मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। आस्रव और बन्ध को रोकना संवर है। पूर्वबद्ध कर्मों का आंशिक क्षय होना निर्जरा है। संवर निर्जरा के द्वारा कर्मों से बंधा हुआ जीव मुक्त होता है। वही सिद्धत्व को प्राप्त मुक्त जीव सुन्दर है। जिसके गुण पर्याय स्वाश्रित हैं। जो पर निरपेक्ष शुद्ध सिद्ध अवस्था रूप है। जिसका अनन्तकाल तक शुद्ध अवस्था रूप अस्तित्व रहता है। वह पुनः कभी अशुद्ध अथवा असिद्धत्व रूप नहीं होता। यही सिद्धत्व स्वरूप का अस्तित्व हम सभी के पास भी है लेकिन उसका बोध प्राप्त नहीं है। अतः उस सिद्धत्व स्वरूप की प्राप्ति का साधन ही जुटाया इसलिए हमारा वह शुद्ध सिद्धत्व स्वरूप प्रकट नहीं हुआ फलस्वरूप हम संसार दशा में हैं। सिद्धों में वह स्वरूप प्रकट हो गया अतः वे सिद्धालय में विराजमान हैं। उन समस्त सिद्धों को सिद्धत्व स्वरूप की प्राप्ति हेतु आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने मंगलाचरण में नमन किया है। उस सिद्धत्व को स्वसमय संज्ञा प्राप्त है वही सबका आराध्य है।

अन्तरात्मा एवं बहिरात्मा का स्वरूप—

आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने मनोरंजन युक्त युक्ति देते हुए कहा कि—**सिद्ध परमेष्ठी बहिरात्मा हैं और सभी संसारी प्राणी अन्तरात्मा हैं।** ऐसा क्यों ? यह कैसे घटित होता है ? उन्होंने इसको हेतु एवं युक्ति से सिद्ध किया है। संसारी जीव कर्मरूपी गर्भ में (अन्तर में) स्थित हैं इसलिए अन्तरात्मा हैं। और जो कर्म रूपी गर्भ से बाहर हैं अर्थात् जो कर्मों से मुक्त हो चुके हैं वे सिद्ध परमेष्ठी बहिरात्मा हैं। अतः इस विवक्षा में अन्तरात्मा बनना इष्ट नहीं है, क्योंकि कर्म के गर्भ में स्थित स्वरूप अन्तरात्मा को कभी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः हमें कर्म के गर्भ में नहीं किन्तु शुद्ध आत्मगुणों के गर्भ में स्थित होना है। गुणों में स्थित होने के लिए कर्म की गर्भस्थ अवस्था को छोड़ना आवश्यक है।

रहस्योद्घाटन—सिद्धत्व और जीवत्व का स्वरूप अत्यन्त गम्भीर है। यह रहस्यमयी तत्त्व है। इसको जानने वाले बहुत पहुँचे हुए ज्ञानी जन होते हैं। **आचार्य कुन्दकुन्द** जैसे महान् ज्ञानियों को यह रहस्य प्राप्त हुआ है, उन्होंने इसका ज्ञान प्राप्त किया है। यह विरलों को ही उद्घाटित होता है। धन्य हैं वे ज्ञानी श्रमण! जिनकी प्रशंसा करते-करते यह जिह्वा कभी थकती नहीं। धन्य है! वह एकत्व विषयक आत्मकथा। धन्य है! वह भेदविज्ञान जिसके माध्यम से जीवन सुखमय बन जाता है। इस प्रकार के सुखमय जीवन के दर्शन से अनेक तत्त्व जिज्ञासुओं के ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं। उनके दर्शन से कम से कम हमें रास्ता तो ज्ञात हो जाता है। जिसको हम बहुत अच्छा समझते थे, जिसके संग्रह के लिए जीवन खपाया था। वह रहस्य आज उद्घाटित हो गया। अभी तक अज्ञान दशा रही। इस प्रकार

ज्ञान होने के उपरान्त वह उन सभी विषयों को छोड़ देता है। उन्हें लात मार देता है। वह वहाँ से किनारा कर जाता है। उस ओर अपनी पीठ कर देता है। उनसे मेरापन छोड़ देता है। त्याग करने के उपरान्त त्यागपत्र की आवश्यकता नहीं होती। यह भी एक व्यवहार है। निश्चय में तो यह सब मेरा था ही नहीं। फिर मेरा क्या है ? मैं तो जो हूँ...सो हूँ...एक चैतन्य आत्मतत्त्व हूँ। इस प्रकार के रहस्य का उद्घाटन होने से सुख-प्राप्ति का प्रशस्त मार्ग मिल जाता है। लोग कहते हैं महाराज! आपके पास बहुत भीड़ है इसे हटा दो। तो मैं कह देता हूँ कि-मैं भीड़ कहाँ कर रहा हूँ, मैं तो अकेला हूँ। भीड़ तो राग की है, यह हमारी नहीं आपकी है, आप ही इसे हटाओ। हमारा कुछ नहीं है। हमारा रास्ता तो बिल्कुल साफ है। बड़ी विचित्रता है।

अशान्ति एवं शान्ति का कारण—

संसार में अशान्ति के तीन कारण हैं-१. कर्त्तापन, २. भोक्तापन, ३. स्वामीपन। इन तीनों के कारण विसंवाद होते हैं। विसंवाद में अशान्ति होती है। ये तीनों भाव छूट जायें तो विसंवाद भी समाप्त और अशान्ति से भी मुक्ति मिल सकती है। अध्यात्म में बन्धन नहीं होता, किसी के साथ सम्बन्ध भी नहीं होता। अध्यात्म की दृष्टि में जीव अकेला होता है। मैं अकेला था, अकेला हूँ, अकेला रहूँगा। जब यह रहस्य उद्घाटित हो जाता है। तब विसंवाद होने का सवाल ही नहीं उठता। पूज्य गुरुदेव (**आचार्य ज्ञानसागरजी**) कहते थे कि कलह या विसंवाद कम से कम दो व्यक्तियों के बीच होता है तथा जहाँ पर विसंवाद होता है वहाँ असत्य अवश्य रहता है। असत्य के बिना कलह सम्भव नहीं। विसंवाद के समय एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप होते हैं फलस्वरूप अशान्ति का वातावरण बनता चला जाता है। ''कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं स्वामित्व बुद्धि के कारण ही दुनिया पागल हो रही है। कर्तृत्व के कारण अहंक्रिया पुष्ट होती है, भोक्तृत्व के कारण लोभ कषाय के साथ-साथ अहंक्रिया पुष्ट होती है तथा स्वामित्व के कारण जो अपना नहीं है उस पर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं।'' दूसरों को किंकर बनाकर स्वयं स्वामी बनना चाहते हैं। उक्त तीनों बुद्धि के कारण ही सारा संसार अशान्ति का अनुभव कर रहा है अतः अगर शान्ति चाहते हो तो कर्तृत्वादि बुद्धि से विमुख होने का प्रयास करो।

अध्यात्म का चिन्तन, एकत्व निश्चयगत तत्त्व के प्रति श्रद्धान होना यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है। अध्यात्म का आश्रय लेने वाला कभी अशान्त नहीं रहता। अध्यात्म के द्वारा समस्त अशान्ति के कारणों का निराकरण किया जा सकता है। अतः शान्ति की प्राप्ति के लिए दुनिया में कहीं और नहीं जाना है किन्तु दुनिया से वापस लौटकर अपने आपमें आना है। यहीं शान्ति का खजाना है। दुनिया के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहो तो बहुत जल्दी जुड़ जाता है। इन सम्बन्धों को यदि छोड़ना चाहो तो गुमसुम होकर शान्त बैठ जाओ। कोई कुछ पूछे तो उत्तर मत दो। क्या करें ! आज लगता तो ऐसा ही है कि जैसा आचार्यों ने कहा है वैसा ही करें। कब ऐसा करें! बार-बार यही विचार आता है। परन्तु क्या करें! मुहूर्त नहीं है। ऐसा कह देते हैं। ध्यान रखो जोड़ने के लिए संसार में मुहूर्त की व्यवस्था की गई

है, छोड़ने के लिए नहीं। जैसे–शादी/विवाह के बन्धन के लिए मुहूर्त की व्यवस्था की गई है किन्तु तलाक के लिए आज तक किसी को मुहूर्त देखने की आवश्यकता नहीं होती। मुहूर्त देखकर संसार को नहीं छोड़ा जाता। इस प्रकार बाह्य सम्बन्धों से जितनी दूरी होती चली जायेगी हम उतनी ही शीघ्रता से अपने पास आते जायेंगे। जो शान्ति का खजाना है, उसे प्राप्त कर लेंगे।

उत्थानिका–कल स्वसमय और परसमय की व्याख्या गाथा व टीका के अनुरूप की गई, अब आगे वह स्वसमय संसार में सुन्दर माना गया है, जो जीव के साथ निश्चय रूप से एक होकर रहता है, वही आदर करने योग्य है। इसका विवेचन आगे की गाथा में किया जा रहा है–

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥३॥

अन्वयार्थ–(एयत्तणिच्छयगदो) एकत्व-निश्चय को प्राप्त जो **(समओ)** समय–शुद्ध आत्मा है वह **(लोगे)** लोक में **(सव्वत्थ)** सर्वत्र **(सुंदरो)** सुन्दर है **(तेण)** इसलिए **(एयत्ते)** एकत्व में **(बंधकहा)** बंध की कथा **(विसंवादिणी)** विसंवाद करने वाली **(होदि)** होती है।

अर्थ–जो जीव एकत्व के साथ निश्चित रूप से एक होकर रहता है वही समय (आत्मा) इस संसार में सर्वत्र सुन्दर है अर्थात् सबको सुहावना है। किन्तु उस एकत्व में बन्ध की कथा विसंवाद करने वाली है–अर्थात् एकाकीपन में बन्ध कभी भी सम्भव नहीं है। बन्ध सदा दो में होता है।

प्यारा यही समय है निजधर्म कर्त्ता,
एकत्व शाश्वत शुभाशुभ कर्म हर्त्ता।
पै बन्ध की वह कथा दुःखकारिणी है,
अच्छी लगे न मुझको भव-वर्धिनी है ॥३॥

व्याख्या–इस गाथा में एकत्व और निश्चयगत ये दो शब्द हैं। इन दोनों का यह अर्थ होता है कि एकत्व को आत्मसात करके निश्चय को प्राप्त कर लेना यही **एयत्तणिच्छयगदो** है। निश्चय का कथन करना अलग वस्तु है और एकत्व के साथ निश्चय को आत्मसात् करना अलग वस्तु है। कथन में मात्र प्ररूपण होता है तथा एकत्व के साथ निश्चय को प्राप्त करने में आत्मतत्त्व के आत्मसात् करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जैसे–किसी विषय के बारे में गुरु के मुख से सुनते समय मात्र सुनने रूप ज्ञान होता है किन्तु प्रयोगशाला में जैसा सुना उसी पद्धति से प्रयोग करना अलग होता है। सुनते समय मात्र श्रद्धान का ज्ञान होता है जबकि प्रयोग पद्धति में वस्तु का साक्षात्कार होता है। श्रद्धान परोक्ष होता है लेकिन अनुभव साक्षात्कार रूप होता है। सुनते समय एकत्व का श्रद्धान होता है, प्रयोगशाला में एकत्व की अनुभूति होती है। श्रद्धान पहले होता है अनुभूति बाद में होती है। 'मैं हूँ' यह तो मिथ्यादृष्टि भी जानता है लेकिन भेदविज्ञान के अभाव में शरीर और जीव में एकत्व बुद्धि रखता है। उस एकत्व बुद्धि के कारण ही ''मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मेरा पेट दुःख रहा है, मेरा माथा दुःख रहा है'' इत्यादि

विकल्प चलते रहते हैं। भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि को शरीर के साथ जीव की एकत्व बुद्धि नहीं रहती अतः मैं सुखी, मैं दुःखी आदि के साथ भी भेदविज्ञान काम करता रहता है। मिथ्यादृष्टि को भेदविज्ञान के अभाव में आत्मतत्त्व का श्रद्धान ही नहीं होता तो आत्म स्वभाव की अनुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। सम्यग्दृष्टि को भी स्वभाव की अनुभूति गुरुमुख से सुनते समय नहीं किन्तु भेदविज्ञान की प्रयोगशाला में अर्थात् निर्विकल्प-समाधि में ही होती है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने आगे 'संवर-अधिकार' में स्वयं कहा है कि-

को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं ॥१९८॥

अर्थ—कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि वर्तमान काल में आत्मतत्त्व छद्मस्थ अवस्था में प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि इसका साक्षात्कार तो प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान में ही होता है। परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा यह छद्मस्थ ज्ञान से भी जान लिया जाता है। सुनने मात्र से आत्मतत्त्व की अनुभूति नहीं होती। जिस समय अनुभूति होती है उस समय सुनने, बोलने आदि की कोई क्रिया नहीं होती मात्र स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार होता है। अतः पहले सुनिए फिर प्रयोग करिए। जिस किसी से सुनकर नहीं किन्तु जो प्रयोग कर चुके हैं, जो उसके अधिकारी हैं उनसे सुनिए। जिसने प्रयोगशाला न देखी हो और प्रयोग शुरू कर दे तो कभी सफलता नहीं मिल सकती।

स्कूल एवं कॉलेज में थ्योरी और प्रेक्टिकल, दोनों प्रकार के पेपर होते हैं। थ्योरी में ३३ प्रतिशत से ७० प्रतिशत तक नम्बर मिलना बहुत बड़ी बात होती है लेकिन प्रेक्टिकल में प्रयोगशाला में शत-प्रतिशत नम्बर भी मिल सकते हैं। गणित थ्योरी नहीं प्रेक्टिकल है अथवा प्रयोग है। इसमें भी शत-प्रतिशत नम्बर मिल जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने इस गाथा में जो एकत्व और निश्चयगत ये दो शब्द कहे हैं। उनमें से एकत्व की जानकारी ज्ञान से संबन्धित है जबकि 'निश्चयगत' शब्द प्रयोग से सम्बन्धित है। यही एकत्व के द्वारा जो निश्चयता को प्राप्त समय (आत्मतत्त्व) है वही संसार में सुन्दर है। वही पूज्य माना जाता है। वही आदर सत्कार के योग्य माना जाता है। उसका दर्शन अत्यधिक सुखदायी होता है। लोक में उसे कोई पूजे या नहीं लेकिन उसकी पूज्यता अखण्डित है।

भगवान् वृषभनाथ ने भी प्रयोग किया। आत्म-तत्त्व की अनुभूति के लिए योग-निग्रह की क्रिया को किया। योग-निग्रह की क्रिया तो मात्र अन्तर्मुहूर्त समय प्रमाण की होती है किन्तु १४ दिन का समय योग के प्रयोग को बन्द करने का था, क्योंकि योग के प्रयोगकाल में सिद्धत्व की अनुभूति नहीं हो सकती। योग के प्रयोग को रोकने में किसी को १४ दिन, किसी को दो दिन, किसी को एक माह का समय लग गया। यह समय योग निग्रह के पूर्व भूमिका स्वरूप योग के प्रयोग को रोकने का है। योग-निग्रह का कार्य तो मात्र अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है। काल तो उदासीन कारण है लेकिन

आभ्यन्तर करण में क्या-क्या कमियाँ हैं इसका ज्ञान प्रयोगकाल में ही संभव है।

दृष्टान्त—गाड़ी में बैठने के लिए टिकट लेना अनिवार्य होता है। टिकट खरीदने के लिए टिकटघर में जाना अनिवार्य है लेकिन टिकटघर से टिकट लेते समय गाड़ी में बैठने का अनुभव किसी को नहीं होता। यदि किसी को टिकटघर में गाड़ी में बैठने का अनुभव हुआ हो तो हाथ उठाकर बता सकते हैं। इतनी बात अवश्य है कि जिसके पास टिकट है उसे विश्वास हो गया कि गाड़ी आने पर मुझे उसमें बैठने का स्थान निश्चित मिलेगा लेकिन टिकट मिलने का अहंकार आ जाए और विचार करे कि मेरे पास टिकट है गाड़ी आने पर मैं गाड़ी में बैठूँगा ही, लेकिन टिकटघर से जहाँ गाड़ी आकर खड़ी है वहाँ तक जाने का पुरुषार्थ न करे तो वह कभी भी गाड़ी में बैठने का अनुभव नहीं कर सकता। गाड़ी का प्रयोग बिना टिकट के नहीं हो सकता, यह सत्य है। लेकिन टिकट लेने के उपरान्त पुरुषार्थ भी अनिवार्य होता है। उसी पुरुषार्थ के लिए १४ दिन पहले ही 'श्री आदिनाथ भगवान्' टिकट लेकर कैलाश पर्वत पर बैठ गए। एक-एक घड़ी गुजरती चली जाती है, गाड़ी आ जाती है, व्यक्ति बैठकर अपने लक्ष्य को पाने में सफल हो जाता है। श्री वृषभनाथ जी भी, चतुर्थशुक्ल ध्यान की गाड़ी में बैठकर अपने गन्तव्य मुक्ति मंजिल को प्राप्त करने में सफल हुए।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने गाथा के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों में एकत्व शब्द का प्रयोग किया है। एक एकत्व जो निश्चय को प्राप्त है वह लोक में सुन्दर माना गया है। दूसरा उत्तरार्ध में प्रयुक्त एकत्व शब्द यह भाव दर्शाता है कि एकत्व के साथ यदि बन्धकथा जुड़ी हुई है तो वह विसंवादिनी रूप है। जिस एकत्व के साथ बन्धकथा जुड़ी है उसको कभी भी सन्मार्ग नहीं मिलता, उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। भेदविज्ञान के द्वारा एकत्व की पहचान होती है। भेदविज्ञान के द्वारा ही एकत्व को बन्धकथा से दूर किया जा सकता है। जो एकत्व दूसरे द्रव्य के साथ तालमेल रखते हुए भी उसमें समाविष्ट नहीं होता, उसके द्वारा प्रभावित नहीं होता किन्तु अपने एकत्व स्वरूप की अखण्डता को बनाए रखता है वही एकत्व निश्चय स्वरूप को प्राप्त होता है, वही एकत्व उपादेय है। द्वितीय एकत्व राग, द्वेष, मोहरूप भाव बन्ध एवं द्रव्यकर्म बन्ध के साथ जुड़ा रहता है उसे विसंवादिनी रूप कहा है। निर्विकल्प समाधि के अभाव में एकत्व के साथ बन्ध व्यवस्था जारी रहती है। कथन करते समय शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा हम भले ही कहें कि मैं तो बन्ध से रहित शुद्ध बुद्ध एकत्व स्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। इसके प्रति गाढ़ आस्था भी हो लेकिन यदि बन्ध के प्रत्यय विद्यमान हैं तो बन्ध हुए बिना नहीं रहेगा। प्रत्यय के रहते हुए बन्ध को रोका नहीं जा सकता। कुछ ऐसे प्रत्यय होते हैं जो अपना बन्ध भी करते हैं और दूसरे कर्मों का भी बन्ध करते हैं। आप कहीं भी एकान्त में जाकर भी बैठ जायें, यदि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान या प्रत्याख्यान कषाय है तो नियम से ये स्व के साथ पर का भी बन्ध करेंगी। संज्वलन कषाय के साथ अपवाद है। जब जीव संज्वलन का उपशम या क्षय करता है उस समय क्रोध के उदय में क्रोध के साथ शेष तीन कषाय का भी बन्ध होता है। मान के साथ शेष कषायों का बन्ध होता है।

माया के साथ भी इसी तरह समझना लेकिन जैसे ही 'सूक्ष्म साम्पराय' नामक १० वें गुणस्थान में प्रवेश होता है तो वहाँ सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय होता है लेकिन वहाँ किसी भी प्रकार की कषाय का बन्ध नहीं होता। फिर भी उसके द्वारा ५ ज्ञानावरण ४ दर्शनावरण ५ अन्तराय, उच्चगोत्र, यशःकीर्ति एवं सातावेदनीय इन १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बन्ध के प्रत्यय होने पर नवीन बन्ध तो होगा ही। यहाँ तक कि १३ वें गुणस्थान तक योग प्रत्यय है अतः वहाँ भी एक सातावेदनीय कर्म का एक समय की स्थिति वाला बन्ध होता है। जिसे आगम में ईर्यापथ आस्रव के रूप में स्वीकार किया है। वहाँ पर आबाधा काल के साथ स्थिति बन्ध नहीं होता। लेकिन दसवें गुणस्थान तक आबाधा काल के साथ स्थिति बन्ध होता है। चाहे उपशम श्रेणी हो, चाहे क्षपक श्रेणी वहाँ १० वें गुणस्थान में स्थिति और अनुभाग बन्ध होता ही है। यह बात अलग है कि वहाँ अप्रशस्त प्रकृतियों में अनुभाग कम पड़ेगा और प्रशस्त प्रकृतियों में ज्यादा। ऐसा क्यों ? यह तो सिद्धान्त है। यहाँ तक एकत्व के साथ बन्ध की कथा विसंवादिनी है।

दसवें गुणस्थान के आगे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये चार प्रत्यय समाप्त हो गये अतः यहाँ एकत्व निश्चयगत कथा है। यद्यपि योग प्रत्यय है लेकिन उसके द्वारा एक समय से अधिक स्थिति वाला बन्ध नहीं होता। वहाँ तो कर्म आया और गया अर्थात् आबाधा काल के बिना मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। वह कर्म सत्ता में जाकर अन्तर्मुहूर्त तक रुककर उदयावली में प्रविष्ट होकर अपना फल देकर जाये, इतनी अवधि वहाँ पर नहीं रहती। अतः यह बन्ध की कथा विसंवादिनी नहीं है। यथाख्यात चारित्र के साथ एकत्व निश्चयकथा संवादिनी है और सुन्दर है। ११वें गुणस्थान से नीचे भी चारित्र है लेकिन यथाख्यात चारित्र जैसा नहीं है, कषाय सहित चारित्र है इसलिए वहाँ विसंवाद के साथ एकत्व का कथन किया गया है।

दृष्टान्त—एक शुद्ध आमदनी होती है जिसमें लेना ही लेना होता है देना नहीं है और एक आमदनी वह है जिसमें लेने के साथ देना भी पड़ता है, देने के नाम से बुखार आये, यह अलग बात है। यदि मान लो लेना न हो, देना ही देना पड़े तो व्यक्ति बहुत जल्दी दिवालिया हो जायेगा। भगवान् महावीर स्वामी भी कर्मबन्ध की विवक्षा में दिवालिया हो गये। अर्थात् जितनी भी कर्मरूपी आमदनी (कर्म का संचय) थी उसे पूर्णतः निकाल दिया अतः कर्म का अस्तित्व समाप्त हो गया जिसके परिणाम स्वरूप आत्मा की पूर्ण सुन्दरता अभिव्यक्त हो गई।

आइये, विचार करें बन्ध का एकत्व किसके साथ होता है ?—

बन्ध का एकत्व आत्मप्रदेशों के साथ होता है जैसा कि **राजवार्तिक** ग्रन्थ में कहा है कि– **आत्मकर्मणो प्रदेशानां परस्पर अनुप्रवेशात्मको बन्धः**। अर्थात् आत्मा और कर्म के प्रदेशों का परस्पर में जो प्रवेशात्मक एकत्व होता है वह बन्ध है। कर्म का कर्म के साथ बन्ध होता है, ऐसा कहना तो आसान है लेकिन यह आगम विरुद्ध मान्यता है। यदि आत्मा में कर्मबन्ध नहीं होता तो आत्मा

उसका भोक्ता भी क्यों होगा ? कर्म के फल का भोक्ता भी कर्म को ही होना चाहिए। इस मान्यता में जैन कर्म सिद्धान्त निर्दोष नहीं रह सकता। यदि कोई नय विवक्षा से यह कहता है कि आत्मा शुद्ध नय की दृष्टि से बन्ध का कर्त्ता नहीं है तो उन्हें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मा शुद्ध दृष्टि से कर्मफल का भोक्ता भी नहीं है।

सिद्धत्व की अनुभूति–

अध्यात्म में ज्ञान की कथा या उपयोग की कथा बहुत कम होती है। चेतना और अनुभूति की कथा ज्यादा होती है। ज्ञान त्रैकालिक हो सकता है परन्तु अनुभूति वर्तमान की ही होती है। सिद्ध परमेष्ठी को त्रैकालिक ज्ञान भी है और वर्तमान में आत्मतत्त्व अथवा आत्मचेतना की अनुभूति हो रही है। उनके पास ज्ञान–चेतना है। मात्र उन्हें ही सिद्धत्व की अनुभूति होती है। जिन्हें असिद्धत्व का अनुभव हो रहा है उन्हें सिद्धत्व का ज्ञान हो सकता है पर सिद्धत्व की अनुभूति नहीं हो सकती है क्योंकि असिद्धत्व दशा में सिद्धत्व की अनुभूति त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। १३वें १४वें गुणस्थान में भी सिद्धत्व की अनुभूति नहीं हो सकती उनके पास भी आत्मप्रदेशों के साथ चार अघातिया कर्मों का गठबन्धन है, उसे कोई टाल नहीं सकता। अभी उन्हें एक पेपर देना शेष है। अतः सिद्धत्व के अनुभव की अद्‌भुत घटना अरिहन्त परमेष्ठी को भी सम्भव नहीं है।

अनुभूति और ज्ञान में अन्तर–

दृष्टान्त–जैसे किसी बालक के हाथ में कोई खाद्य व्यञ्जन है। माना कि रसगुल्ला है। यदि कोई पूछे कि उसके हाथ में रसगुल्ला कैसा लग रहा है ? अच्छा लग रहा है। आँखों से देखने पर अच्छा लग रहा है या जिह्वा के स्वाद से अथवा सुगन्धी से, स्पर्श करने से या उसका नाम सुनने से अच्छा लग रहा है ! इसके उत्तर में यदि कोई कहता है कि आँखों से देखने पर अच्छा लग रहा है। रसगुल्ला सामने–सामने है, देखने पर अच्छा भी लग रहा है, उसके बारे में जानकारी भी है कि यह मीठा है, नासिका से सुगन्धि भी आ रही है, हाथ में उसका कोमल–कोमल स्पर्श भी है, बार–बार उसका नाम सुनने में भी अच्छा लग रहा है। यह सब कुछ होते हुए भी बालक को रसगुल्ले का अनुभव नहीं हो रहा है, क्योंकि जिह्वा के ऊपर रखने पर जो अनुभव होता है वह हाथ में रखे रहने पर हो सकता है क्या ? कभी भी संभव नहीं है। उसी प्रकार केवली भगवान् अरहन्त परमेष्ठी को सिद्धत्व का ज्ञान है, उनके सामने आने वाली पर्याय है लेकिन वह बालक के हाथ में रखे हुए रसगुल्ले की भाँति है। उन्हें उस बालक की तरह अरहन्त अवस्था में सिद्धत्व की अनुभूति कभी नहीं हो सकती।

केवली भगवान् को भी वर्तमान अवस्था की ही अनुभूति होती है, उसमें भी स्वद्रव्य की ही वर्तमान अवस्था की अनुभूति होती है, परद्रव्य की नहीं। यदि पर की अनुभूति होने लग जाये तो याद रखना वे सबसे अधिक दुःखी सिद्ध होंगे क्योंकि सबको तो मात्र अपने–अपने दुःख की अनुभूति होती है और केवली भगवान् को सबके दुःख की अनुभूति होगी तो वे स्वतः ही सबसे ज्यादा दुःखी सिद्ध

हो जायेंगे। लेकिन ऐसा कभी नहीं होता, उन्हें सबके दु:ख का ज्ञान तो होता है, लेकिन अनुभव नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि चेतना और ज्ञान दोनों में अन्तर है। अध्यात्म ग्रन्थों में ''सच्चेतयति जानाति, अनुभवति इति ज्ञानी'' ऐसा कहा है। मात्र श्रद्धान या ज्ञान करने वाले को ज्ञानी नहीं कहा। अनुभव करने वाले को ज्ञानी की संज्ञा दी गई है। उसका अनुभूत एकत्व तत्त्व ही इस लोक में सुन्दर है ऐसा **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** की विशेष देशना है वही तत्त्व व्यवस्थित है, आनन्ददायक है उसकी कथा प्रस्तुत गाथा में की जा रही है।

विशेष देशना—आज तक यह आनन्ददायिनी कथा हम सबके लिए किताबी वस्तु बनी रही। कुछ लोगों के लिए तो यह किताबी वस्तु भी नहीं बनी। वे तो दुनिया की न्यूज पढ़ने में ही लगे हैं। आश्चर्य की बात यह है कि आज अनेक विद्वान् भी अच्छे-अच्छे अध्यात्म ग्रन्थों को पढ़कर के भी उसे व्यवसाय के रूप में काम में ले रहे हैं। आज समयसार का महत्त्व समाप्त हो गया है। यह **समयसार** ग्रन्थ व्यवसाय एवं अध्यवसाय का कारण नहीं है। यह तो स्वाध्याय की सामग्री है। इसके द्वारा स्व के अध्ययन करने का मार्ग खुलता है। इसका गौरव तो कम से कम रखा करो। राग रंग के प्रसंगों में ग्रन्थ का बाँटना इसका गौरव खत्म करना है। इसको तो नीचे भी नहीं रखना चाहिए। विवाह आदि राग-रंग के प्रसंगों में तो खोलना ही नहीं चाहिए। इसमें उस कथा का कथन है जिसमें कोई विसंवाद नहीं, जिसमें कोई बन्ध नहीं। वह तो निर्बन्ध सुन्दर, संवाद रूप कथा का कथन करता है।

समयसार ग्रन्थ की महत्ता—

दृष्टान्त—बाजार में अनेक प्रकार की दुकानें होती हैं, उनमें जो भी सामग्री होती है उनमें से एक-एक, दो-दो वस्तुओं को दुकान के बाहर सेम्पल के रूप में रख देते हैं। जैसे-नवीन-नवीन अच्छी साड़ियाँ आ गयीं तो कुछ साड़ियों को बाहर लटका देते हैं। बाजार के दिन तो आने-जाने का मार्ग ही बन्द जैसा हो जाता है। बर्तन भी बाहर रख लेते हैं। मक्का, गेहूँ, बाजरा, मिठाइयाँ, फल-सब्जी आदि सभी सड़क पर आ जाते हैं। लेकिन इस तरह रत्नों को हमने किसी बाजार में नहीं देखा। यहाँ तक कि जयपुर के जौहरी बाजार में भी गए तो वहाँ कहीं भी किसी भी दुकान में सैम्पल के रूप में हीरे, जवाहरात को बाहर रखा हुआ नहीं देखा। वहाँ तो जब कोई जौहरी की दुकान पर आता है तो पहले मुनीम को बुलायेंगे, उससे चाबी मंगवायेंगे, फिर कमरे के अन्दर कमरे में जाकर अलमारी के अन्दर पेटी, पेटी के अन्दर डिब्बा, डिब्बे के अन्दर डिब्बी, डिब्बी के अन्दर पुड़िया, पुड़िया के अन्दर एक और पुड़िया उसके अन्दर एक और गुलाबी कागज की सुन्दर पुड़िया खोलने पर चमकता हुआ रत्न दिखता है। दिखाते समय कह देते हैं, मात्र देखो, छुओ मत इसके बाद रत्न खरीदने को मिल पाता है। रत्नों की कितनी सुरक्षा होती है।

सुनिए यह **समयसार** ग्रन्थराज इन हीरे, जवाहरातों से भी अधिक महिमावन्त है, अमूल्य है, इसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। एकत्व निश्चयगत आत्म-तत्त्व रूपी हीरे का कथन जिसमें

सुरक्षित है उस ग्रन्थ की सुरक्षा, उसकी विनय भी कितनी अधिक अनिवार्य है यह आप लोगों को ख्याल रखना चाहिए। आज यह सब क्या हो रहा है। समयसार जैसे अमूल्य ग्रन्थ को शादी-विवाह के अवसर पर बाँटा जा रहा है। अध्यात्म शिविर लग रहे हैं। शिविर में मात्र एक घण्टे सुनने से इस आत्मतत्त्व की अनुभूति नहीं हो सकती किन्तु अभेद रत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय अथवा शुद्धोपयोग रूपी प्रयोगशाला में इसका अभ्यास करने पर ही अनुभूत हो सकता है। श्रद्धान तो निद्रावस्था में भी रहता है लेकिन अनुभूति का प्रयोग जागृत अवस्था में भी बहुत मुश्किल है। अनुभव एक क्षण के लिए भी होता है तो वह क्षण एक अमिट छाप छोड़कर जाता है। एकत्व निश्चयगत आत्मतत्त्व की अनुभूति का अद्वितीय क्षण माना जाता है, इसी क्षण को **सव्वत्थ सुंदरो** अर्थात् सर्वत्र सुन्दर माना गया है। लेकिन जब एकत्व आत्मतत्त्व के साथ बन्धकथा जुड़ जाती है तो वह आकुलता पैदा करने वाली होती है। बन्धकथा धन को महत्त्व देती है, जबकि आत्म-कथा धर्म को महत्त्व देती है। धर्म वह है जो धन को पीछे छोड़ देता है, धन को अपनी दृष्टि से ओझल कर देता है और आत्मतत्त्व को हमेशा अपनी दृष्टि का विषय बनाकर चलता है। धर्म एक ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु है जो जीवन में सर्वोच्च स्थान को प्राप्त होती है। धर्म हीरे से अधिक मूल्यवान वस्तु है उसे अत्यधिक सम्हालकर रखने की आवश्यकता होती है। हीरे का नग नोट की भाँति हाथ में रहने से मैला नहीं होता।

आत्मानुभूति कहाँ ?

एकत्व निश्चयगत आत्मतत्त्व पर श्रद्धान होने के उपरान्त उसका अनुभव करने का झटपट प्रयास होना चाहिए। लेकिन जब तक बन्धकथा के साथ खटपट चलती रहेगी तब तक आत्मानुभूति का झटपट प्रयास नहीं हो सकता। यहाँ तक कि बन्धकथा के साथ उसकी मुखमुद्रा आत्मतत्त्व की अनुभूति की प्रयोगशाला की ओर भी नहीं हो सकती। पढ़ा हुआ एवं सुना हुआ विषय अनुभूत होने पर स्थायी बन जाता है। तीर्थंकर के समवसरण में भी दिव्यध्वनि द्वारा परोक्षज्ञान ही प्राप्त होता है उसे साधक निर्विकल्प समाधि की प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष अनुभूत कर सकता है। इसी ग्रन्थ में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं संवर अधिकार में आगे कहेंगे कि **परोक्खणाणे पवट्टंतं** अर्थात् कोई भी विद्वान् परोक्षज्ञान में प्रवर्तित होते हुए आत्मतत्त्व को प्रत्यक्षवत् हाथ में रखकर दिखा नहीं सकता। उपदेश के द्वारा आत्मतत्त्व का श्रद्धान मात्र होता है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति के पूर्व भेद रत्नत्रय का होना अनिवार्य है। जो व्यक्ति भेद रत्नत्रय के बिना अभेद रत्नत्रय के अनुभव की बात करता है इसका अर्थ है कि वह गृहस्थ अवस्था में मुक्तिमार्ग को मान रहा है, जबकि ऐसा कभी हो नहीं सकता क्योंकि विषय-कषायों को छोड़े बिना अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यह बात अलग है कि आत्मानुभूति के समय महाव्रत आदि से सहित भेद रत्नत्रय नहीं रहता किन्तु वह निर्विकल्प समाधि में निश्चय रत्नत्रय या अभेद रत्नत्रय से युक्त हो जाता है। फलस्वरूप आत्मानुभूति रूपी नवनीत की प्राप्ति होती है। आप सभी जानते ही हैं कि दूध का दही जमे बिना,

दही मथे बिना नवनीत की प्राप्ति संभव नहीं है। गाथा में 'एकत्व निश्चयगत' शब्द ही स्पष्ट अर्थ देता है कि जीव जब निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होता है तभी शुद्ध अवस्था का अनुभव होता है। अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होने के कारण ही जीव आज तक आत्मानुभूति को प्राप्त नहीं कर पाया।

जैसी दृष्टि वैसा दर्शन—

वीतरागी रागी में भी वीतरागता का दर्शन करता है लेकिन रागी वीतरागी में भी राग का अनुभव करता है। जैसा चश्मा होगा, जैसी दृष्टि होगी वैसा ही पदार्थ देखने में आता है। निश्चय का चश्मा लगाने के उपरान्त राग की पर्याय नहीं दिखती किन्तु मूल पदार्थ दिखता है। **हीरे का नग भले ही कीचड़ में फँसा हो लेकिन हीरे का नग तो हीरा ही माना जाता है। जौहरी उस समय कीचड़ से परहेज नहीं करता वरन् उसे उठाकर हाथ एवं नग को स्वच्छ करके हीरे का दर्शन कर लेता है। जौहरी की दृष्टि में एक मात्र हीरा दिखता है चूँकि हीरे की ओर ही उसका उपयोग रहता है।** इसी तरह वीतराग दृष्टि वाले को सर्वत्र वीतरागता का दर्शन होता है। वह एकत्व निश्चय को प्राप्त सिद्धत्व का अवलोकन करता रहता है इसलिए हर्ष विषाद नहीं करता। हर्ष–विषाद करने से एकत्व की क्षति होती है। निश्चय दृष्टि लुप्त हो जाती है। वीतरागता भी समाप्त हो जाती है। हर्ष विषाद नहीं करने से यथावत् शान्ति प्राप्त होती है। भेदविज्ञान का प्रयोग किए बिना श्रद्धा का विषय अनुभव में नहीं आ सकता। पर्यायदृष्टि से पर्याय का अवलोकन बुरा नहीं लेकिन पर्याय में मूढ़ता होना बुरा है अतः पर्यायदृष्टि मिथ्या नहीं किन्तु पर्यायमूढ़दृष्टि मिथ्या है। द्रव्य का अवलोकन भी अच्छा बुरा नहीं किन्तु हर्ष विषाद के साथ अवलोकन करना ठीक नहीं। कई लोगों का कहना है कि पर्याय के बारे में क्या चिन्तन करना ? द्रव्य का चिन्तन करो। पर्याय दृष्टि सो मिथ्यादृष्टि होती है, ऐसा कहने वालों को स्वयं सम्यक् रूप से विचार करना चाहिए कि पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं है और द्रव्य पर्याय से भिन्न नहीं है अतः द्रव्य के साथ पर्याय का और पर्याय के साथ द्रव्य का चिन्तन मिथ्या नहीं हो सकता। पर्याय का चिन्तन करिए परन्तु आप पर्याय में मुग्ध मत होइये। मैं तो सोचता रह जाता हूँ आपकी दृष्टि की बलिहारी को देखकर कि द्रव्यदृष्टि रखते हुए भी आप द्रव्य–संग्रह में लगे हो। यदि पूछा जाए कि आप क्या पढ़ रहे हो ? तो आप कहते हैं–द्रव्यसंग्रह। कितना संग्रह हो गया ? हो ही रहा है ऐसा जबाब मिलता है। अतः द्रव्यदृष्टि रखने मात्र से सब कुछ नहीं होता और पर्याय दृष्टि मात्र से भी बन्ध नहीं होता। पर्यायमूढ़ता के कारण बन्ध होता है। पर्याय का अवलोकन मात्र बन्ध का कारण नहीं किन्तु पर्याय में राग–द्वेष बन्ध का कारण होता है। यही एकत्व को प्राप्त बन्धकथा विसंवादिनी होती है।

निर्विकल्पता में बाधक स्वामित्व बुद्धि—

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने स्वयं कहा है कि जिसके माध्यम से हमारे उपयोग में अस्थिरता आती है उसे अपने उपयोग का विषय नहीं बनाना चाहिए। हालांकि यह निश्चित नहीं है कि प्रत्येक वस्तु उपयोग को गाफिल कर ही दे, लेकिन गाफिल होने की संभावना जरूर रहती है। शोध–छात्र के लिए

कोर्स की किताब नहीं होती। उसका पुस्तकालय में जाकर भी अपने शोध के विषय की ओर ही ध्यान एकाग्र रहता है। वहाँ वह पुस्तकों में अपने विषय का चयन कर लेता है और जिन पुस्तकों में जहाँ प्रकरण मिलता है उसको ले लेता है, शेष पुस्तकों एवं प्रकरणों से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता अतः अन्य विषयों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता, क्योंकि उनसे उसे कोई प्रयोजन नहीं होता। इसी तरह रत्नत्रय के आराधक रत्नत्रय की आराधना में स्थिर रहते हैं। अन्य पदार्थों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। अतः उनके पर पदार्थों के निमित्त से होने वाला राग-द्वेष भी नहीं होता। जिनके पास परिग्रह नहीं होता वह व्यक्ति कहीं भी चला जाये, उसे स्वामित्व बुद्धि नहीं होने के कारण राग-द्वेष नहीं होते। जैसे कि शोध छात्र कहीं भी चला जाये उसका ध्यान शोध-विषय पर ही एकाग्र रहता है अन्यत्र नहीं। चूंकि गृहस्थ को पर पदार्थों के प्रति स्वामित्व बुद्धि होती है अतः उसको उनके निमित्त से राग, द्वेष आदि विकल्प भी होते हैं। यदि चोरी हो जाये तो कोर्ट में केस करता है जबकि मुनिराज के उपकरणों को यदि कोई उठा ले तो क्या वे केस करते हैं ? नहीं! क्योंकि वे उन उपकरणों के प्रति भी स्वामित्व बुद्धि नहीं रखते। गृहस्थ की तो एक चवन्नी भी कोई उठा ले तो येन केन प्रकारेण उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। अतः तिल-तुष मात्र भी परिग्रह रखने वाला व्यक्ति तीन काल में एकत्व निश्चय प्राप्त आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकता, क्योंकि एकत्व निश्चयगत आत्मतत्त्व की अनुभूति निर्विकल्प दशा में होती है। निर्विकल्पता अपरिग्रहता पर निर्भर है। परिग्रह का अर्थ मात्र बाह्य पदार्थों का संचय नहीं किन्तु अध्यात्म ग्रन्थों में 'मूर्च्छा' को परिग्रह कहा गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि मूर्च्छाभाव वस्तु के प्रति होता है। लेकिन वस्तु हठात् मूर्च्छा को उत्पन्न नहीं करती अन्यथा आकाश के साथ भी मूर्च्छा होनी चाहिए। आकाश के प्रति किसी को मूर्च्छा नहीं होती क्योंकि उसके साथ किसी का स्वामित्व नहीं होता।

पदार्थ के साथ स्वामित्व होने के कारण उसके वियोग में रोना, शोक करना, चिन्ता आदि विकल्प रूप आर्तध्यान होता है। जो व्यक्ति एड़ी से लेकर चोटी तक 'आपादकण्ठ' परिग्रह से लदा हो, उसे यह कहना तो आसान होता है कि यह परिग्रह हमारा नहीं है। लेकिन यदि कोई एक अंगूठी भी उतारना शुरू कर दे तो फिर देख लो क्या होता है? उस समय कोई भी विकल्प हो सकता है। उसे मारने का भाव भी हो सकता है, उसे कुछ अपशब्द भी कहे जा सकते हैं, उसके प्रति क्रोध भी आ सकता है। जबकि क्रोध का निमित्त या वातावरण मिलने पर भी क्रोध नहीं करना यही एकत्व निश्चयगत सर्वत्र सुन्दर आत्मतत्त्व की परिणति होती है।

बन्धकथा के साथ तन्मयता—

संसारी प्राणी का बन्धकथा के साथ एकत्व है। बन्धकथा के साथ तन्मयता है। तन्मयता के कारण ही किसी इष्ट पदार्थ के संयोग होने पर हर्ष होता है और वियोग होने पर विषाद। संयोग होने पर गद्‌गद हो जाता है, फूल जाता है। वियोग होने पर सब कुछ भूल जाता है, मात्र इष्ट वस्तु का ख्याल

रहता है। उसके वियोग में शरीर भी सूखने लगता है। महाराज से आशीर्वाद लेने जाता है। महाराज! आशीर्वाद तो दे दो, शरीर सूख रहा है। क्यों ? खाते पीते नहीं हो क्या! नहीं महाराज, खाया ही नहीं जाता। क्यों, क्या हो गया ? गला बन्द हो गया क्या ? नहीं, महाराज ! गला तो खुला है लेकिन भोजन गले से नीचे नहीं उतरता। तो फिर गले को हाइवे जैसा चौड़ा बना लो। (हँसी) अच्छा ये बताओ कब से नहीं उतरता ? वह कहता है महाराज! जब से मेरी प्रिय वस्तु का वियोग हुआ है तब से यह हालत हो गई। महाराज कहते हैं कि उस वस्तु के अतिरिक्त इतना सारा वैभव नहीं है क्या! ये तो है ही, पर वह तो चला गया। बताइये क्या गति होगी ? हम नहीं जानते, भगवान् ही जानें। तुम नहीं जानते ? हम क्या जाने महाराज! हमें तो कुछ समझ में नहीं आ रहा। अभी तक जो समझदार कहलाते थे, अब क्या हो गया? वह कहता है महाराज, आज समझ में आया कि मैं वस्तुतः समझदार नहीं था। यदि समझदार होता तो उस वस्तु को, इस वैभव को अपना नहीं मानता। फिर ये वियोग भाव नहीं होता। भीतर भूख लगने पर भोजन अपने आप गले से नीचे उतर जाता है। ध्यान रखो! भूख नहीं तो पानी भी नहीं उतर सकता। बस यही है, बन्धकथा के साथ तन्मयता। यही तो है संसार। बन्ध के क्षेत्र में एक के साथ तन्मयता का कोई प्रसंग नहीं होता। दो के साथ तन्मयता मोह के कारण होती है वही बन्ध का कारण होती है। शरीर के साथ अपनी (आत्मा की) तन्मयता स्वीकार करना मोह की बलिहारी है। यही बन्धकथा विसंवादिनी है और असत्य भी है। बन्ध के साथ अभूतार्थ और अबन्ध दशा के साथ भूतार्थ का प्रयोग किया गया है।

पर पदार्थों के साथ तन्मयता होना यह हमारी गलती है, पदार्थ की नहीं। पदार्थ में तन्मयता का प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु मन पर उसका प्रभाव पड़ता है। जैसे कि यदि आप हीरे को तिजोरी में न रखकर बाहर रख देते हैं तो वह कभी नहीं कहेगा कि आपने मुझे खरीदा और यूँ ही बाहर रख दिया। लेकिन आपके मन पर कितना प्रभाव पड़ता है ? स्वप्न में भी याद आ जाता है कि मैंने हीरा खरीदा था और भूल से बाहर ही रखा छोड़ दिया। अरे! अनर्थ कर दिया। उसी समय रात्रि के बारह बजे भी उठकर देखता है। हीरे को ढूँढ़ता है और मिल जाने पर सोचता है कि चलो, अच्छा हुआ, अनर्थ टल गया। भगवान् को एक छत्र चढ़ा देंगे। एक करोड़ की कीमत बच गई, एक छत्र चढ़ाने में कितना खर्च होगा, नाम भी हो जायेगा। यह तन्मयता का ही प्रभाव है। भले ही दोनों द्रव्य भिन्न हैं किन्तु मोह के कारण ''यह मेरा है'' मैं ही इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार भाव बना रहता है। अतः इस स्वामित्व का त्याग अपने आपमें महत्त्वपूर्ण होता है।

स्वामित्व बुद्धि का त्याग कैसे करें ?—

स्वामित्व बुद्धि का त्याग करने के लिए ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखो। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का प्रयोग कीजिए। पर पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक भाव रखने से स्वामित्व बुद्धि छूटना प्रारम्भ हो जाती है। यह विचार करो कि जो दिख रहा है, अथवा जिसको मैं जान रहा हूँ वह ज्ञेय है और जानने वाला

मैं ज्ञाता हूँ। पर को पर के रूप में, स्व को स्व के रूप में जानना ज्ञेय-ज्ञायकपना है। पर पदार्थों के साथ यदि हमारा मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध रहे तो कोई बाधा नहीं। आत्मा में ज्ञान है ज्ञान का काम जानना है, चाहे स्व को जाने अथवा पर वस्तु को। लेकिन ज्ञान के साथ जब मोह होता है तो स्वामित्व बुद्धि उत्पन्न होती है। उस स्वामित्व बुद्धि से विसंवादिनी बन्धकथा प्रारम्भ हो जाती है। अतः हमेशा मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध बना रहे तो स्वामित्व बुद्धि का त्याग सहजता से हो सकता है। कितने और कौन-कौन से पदार्थों से आपका सम्बन्ध है ? थोड़ा विचार तो करो, किस-किसको छोड़ोगे ? फिर भी ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध यह सब सहज संभव है।

कई लोग मेरे को कहते थे-महाराज! आप इन्दौर क्यों नहीं आते ? इन्दौर से नाराजगी है क्या? नहीं, नाराजगी तो नहीं है लेकिन राजी भी नहीं होना चाहता क्योंकि इन्दौर आपका है, हमारा तो है नहीं। मैं तो इस प्रयास में हूँ कि आपका भी इन्दौर छूट जाए। मेरा तो पहले से ही छूटा है। मैं भले ही इन्दौर में बैठा हूँ लेकिन यहाँ मेरा कुछ नहीं है। आप इन्दौर में हैं तो आपकी स्वामित्व बुद्धि के कारण विसंवादिनी कथा प्रारम्भ है। मेरी तो इन्दौर में भी एकत्व निश्चयगत आत्मकथा चल रही है। आपकी विसंवादिनी कथा छूट नहीं सकती क्योंकि आपने इन्दौर में पर पदार्थों को जोड़ने का और उनसे जुड़ने का प्रयास किया है। कितनी भी कोशिश करो, कितना भी भेदविज्ञान करो लेकिन यदि इन्दौर से स्वामित्व बुद्धि नहीं छूटेगी तो मात्र भेद-विज्ञान से आपका इन्दौर के साथ कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व नहीं छूट सकता।

मोह के कारण बाह्य पदार्थ हमारे साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि उनका सम्बन्ध विच्छेद होने पर आपका चेहरा उतर जाता है। भूख समाप्त हो जाती है। नाड़ी की गति में अन्तर आ जाता है। धड़कन बढ़ जाती है। दिल का दौरा हो जाता है। होशियार मस्तिष्क भी पागल हो जाता है। जिस वस्तु का वियोग हुआ वह वैसी की वैसी ही है। चार तोला थी तो चार तोला ही है लेकिन उसके वियोग में व्यक्ति का १० किलो वजन कम हो जाता है। जिसको वह वस्तु मिली उसका वजन बढ़ जाता है। ऐसा क्यों हुआ ! उस सोने से ममत्व होने के कारण ऐसा होता है। यह रहस्य अत्यन्त गम्भीर है। इस रहस्य को जानने वाले व्यक्ति बहुत पहुँचे हुए अर्थात् उच्च कोटि के माने जाते हैं।

उपसंहार–

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि एकत्व की कथा दो प्रकार की सिद्ध हुई। एक संवादात्मक और दूसरी विसंवादात्मक। एक में बन्ध संभव नहीं, दूसरी बन्ध के बिना नहीं। एक के साथ अपने गुण, पर्यायों से ही एकत्व है, दूसरी के साथ अनेकत्व है। एकत्व परिणमन सुन्दर है, अनेकत्व परिणमन असुन्दर होता है। अनेकत्व परिणमन वैभाविक परिणमन का फल है, जबकि एकत्व परिणमन स्वाभाविक है। स्वभाव से अन्यथा रूप परिणमन कर जाना विभाव है। विभाव का सम्बन्ध वैभाविक परिणमन से होता है। विभाव रूप परिणति नैमित्तिक होती है। एक द्रव्य का दूसरे

द्रव्य से प्रभावित होना, यह नैमित्तिक परिणमन है। जहाँ एकद्रव्य-दूसरे से प्रभावित हुए बिना अपने ही गुण पर्याय रूप परिणमन करता है तो स्वाभाविक परिणमन माना जाता है। एकत्व निश्चयगत परिणति वैभाविक नहीं होती, वह तो स्वाभाविक है। स्वाभाविक परिणमन में विसंवाद सम्भव ही नहीं होता। वैभाविक परिणमन विसंवाद युक्त होता है। एकत्व निश्चयगत जो शुद्धात्मा का स्वरूप संसार में सुलभ नहीं है, किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है। आगे प्रश्न होता है कि इस संसार में सुलभ क्या है ? इसका समाधान यही है कि शुद्ध-तत्त्व से जो विपरीत है वह आज तक सुलभ रहा। उसका एक पर्याय में भी अभाव नहीं हुआ। उसके लिए संसारी प्राणी को कभी कोई प्रयास नहीं करना पड़ा। न कोई प्रतीक्षा करना पड़ी। किसी न किसी रूप में उसका साथ संसार में चिरकाल से बना रहा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संसार में कुछ बातें सुलभ हैं तो कुछ दुर्लभ हैं। इसी विषय को आगे की गाथा में स्पष्ट किया जा रहा है।

उत्थानिका—अब एकाकीपन को प्राप्त हुए शुद्ध आत्मा का स्वरूप संसार में सुलभ नहीं है, ऐसा कहते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोग बंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स ॥४॥

अन्वयार्थ—**(सव्वस्स वि)** सभी [जीवों ने] **(कामभोग बंधकहा)** काम-भोग-विषयक बंध की कथा तो **(सुदपरिचिदाणुभूदा)** सुनी हुई है, परिचित है और अनुभव में आयी हुई है; किन्तु **(णवरि)** केवल **(विहत्तस्स)** रागादि से भिन्न **(एयत्तस्स)** एकत्व की **(उवलंभो)** प्राप्ति **(सुलभो)** सुलभ **(ण)** नहीं है।

अर्थ—काम भोग बन्ध की कथा तो सब ही जीवों के सुनने में भी आयी है, परिचय में भी आयी है तथा अनुभव में भी आयी है किन्तु सबसे पृथक् होकर केवल एकाकी होने की बात सुलभ नहीं है।

हैं काम भोग विधि-बन्धन की कथायें,
भोगी सुनी बहुत की पर ये व्यथायें।
एकत्व की निज-कथा सुखदा अकेली,
अत्यन्त दुर्लभ करूँ उस संग केली ॥४॥

व्याख्या—संसारी जीव के द्वारा काम, भोग एवं बन्ध की कथायें अनन्त बार सुनी गई हैं, अनन्त बार परिचय में आयी हैं तथा अनन्त बार अनुभव में भी आयी हैं। यह सब जीव को अत्यन्त सुलभ है किन्तु एकत्व की अर्थात् रत्नत्रय की एकता को प्राप्त अनुभव योग्य शुद्धात्मा की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है। उक्त कथाओं के सम्बन्ध आज तक विभक्त नहीं हुए। विभाजन का अर्थ है पृथक् हो जाना। राग-द्वेष आदि परिणामों से पृथक् हो जाना। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि राग-द्वेष आदि से रहित

एकत्व की उपलब्धि होना। इस संसार में रागादि रहित एकत्व की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है। काम की कथा इन्द्रिय विषयों की ओर ले जाती है। पाँचों इन्द्रियों में स्पर्शन एवं रसना कामेन्द्रिय मानी जाती हैं, शेष तीन भोगेन्द्रिय हैं। नोइन्द्रिय अर्थात् मन, काम और भोग दोनों से सहित होता है।

गृहस्थाश्रम में उक्त दोनों कथाओं से छुटकारा नहीं मिल सकता। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि गृहस्थ जब काम भोग की कथाओं को कम करता हुआ श्रावक बनकर उदासीन आश्रम में प्रविष्ट होता है तो उसके काम-भोग की कथायें सीमित हो जाती हैं। इनके सीमित होने पर बन्ध भी सीमित हो जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे वह निर्बन्ध स्वरूप आत्मकथा की ओर विकास करने लगता है। **संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ रात-दिन इन तीनों का परिचय प्राप्त न होता हो, उनसे मिलन एवं उनका अनुभव न होता हो। अतः अब हमें यह समझना आवश्यक है कि मैं इनसे विभक्त कैसे होऊँ। हालाँकि इनसे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है, फिर भी प्रयास सफल हो सकता है।**

जिज्ञासा—काम, भोग, बन्धकथा से मुक्ति कैसे संभव है ?

समाधान—काम-भोग-बन्ध की सामग्री से परिपूर्ण इसी संसार में भगवान् भी रहते हैं। उन्हें भी ये कथा सुनने में आती होगी, उनसे परिचय होता होगा तथा उनका अनुभव भी होता होगा ? विचार कीजिए यह सब उनके भी सम्भव है क्या ? यदि नहीं है तो क्यों नहीं है ? यदि है, तो वे भगवान् क्यों कहलाते हैं ? हमारे जैसे ही उनको भी होना चाहिए। उनके पास भी केवलज्ञान, केवलदर्शन है। शब्दज्ञान उनको भी है भले ही कान से नहीं सुनते। लेकिन अतीन्द्रिय स्वरूप केवलज्ञान से वे सब कुछ जान रहे हैं, देख रहे हैं, उनसे कुछ भी अनजाना एवं अनदेखा नहीं है फिर भी वे काम-भोग-बन्धकथा से पूर्णतः पृथक् हैं, इनसे उनका कभी कोई मिलन नहीं होता, उन्हें इनका अनुभव भी नहीं होता क्योंकि भगवान् तो हमेशा एकत्व विभक्त आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं। आश्चर्य तो होता है कि ऐसा कैसे सम्भव है। फिर भी आचार्यों ने युक्ति देकर समाधान दिया है।

संसार में अनन्त पदार्थ हैं। उनके प्रति ग्राह्य-ग्राहक भाव बन्धकथा को उत्पन्न करता है। जबकि ज्ञेय-ज्ञायक भाव उनसे मुक्ति दिलाता है। भगवान् का अनन्त पदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव होता है फलस्वरूप वे बन्ध के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होते अतः उसका अनुभव भी नहीं करते, किन्तु काम-भोग-बन्ध से मुक्त रहते हैं। संसारी प्राणी स्वयं पर पदार्थों से कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं स्वामित्व भाव रखता है इसलिए बन्ध को प्राप्त होता है। संसार के पदार्थ हमसे चिपकते हैं या हम पदार्थों से चिपकते हैं। यदि पदार्थ आकर जीव से चिपकते हैं तो भगवान् से भी चिपकना चाहिए जबकि समवसरण में भगवान् के चरणों में सारा दिव्य वैभव लोटता है फिर भी भगवान् उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। यहाँ तक कि वे सिंहासन से चार अंगुल ऊपर ही आसीन रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि पदार्थ हमसे नहीं चिपकते किन्तु हम अपने ममत्व भाव के कारण पदार्थ से चिपकते हैं।

अतः हम भी अपने ज्ञान के माध्यम से राग–द्वेष को छोड़कर एकत्व विभक्त आत्मानुभव को कर सकते हैं। एकत्व विभक्त तत्त्व की अनुभूति अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है। काम–भोग की कथा के अनुभव से जीव का कोई महत्त्व नहीं होता क्योंकि इन कथाओं का ही स्वयं में कोई महत्त्व नहीं है। इस बात को अच्छी तरह बार–बार समझने का प्रयास करो। उनसे मात्र ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध बनाने का प्रयास करो तो काम–भोग कथा से छुटकारा मिल सकता है।

श्रमण हमेशा एकत्व–विभक्त आत्मतत्त्व की अनुभूति कर सकते हैं लेकिन वे भी बन्ध से रहित एकत्व विभक्त की अनुभूति नहीं कर पाते क्योंकि बन्ध की प्रक्रिया तो तेरहवें गुणस्थान तक होती है। दसवें गुणस्थान तक साम्परायिक आस्रव होता है। ग्यारह से तेरहवें गुणस्थान तक मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। इस प्रकार बन्ध की कथा १३वें गुणस्थान तक है लेकिन उसका असर १४ वें गुणस्थान में भी रहता है। हम सभी अपनी भूमिका के अनुरूप काम, भोग, बन्ध की कथा को सीमित बनाने का प्रयास करें। बन्ध का सम्बन्ध आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ रहता है। बन्ध रूप परिणमन का आधार स्वयं आत्मा है। पर के निमित्त से बन्ध रूप परिणमन होता है लेकिन परिणमन करने वाला आत्मा स्वयं है।

पौद्गलिक कर्म का कर्त्ता, भोक्ता कौन ?—

जीव के राग द्वेषादि वैभाविक परिणामों के निमित्त से कार्मण वर्गणायें कर्म रूप परिणमन करती हैं इसलिए जीव स्वयं पौद्गलिक कर्मों (द्रव्यकर्म) का निमित्त रूप से कर्त्ता होता है। लेकिन चूँकि पौद्गलिक कार्मण वर्गणायें स्वयं कर्म रूप परिणमन करती हैं अतः कथंचित् पुद्गल को भी पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता कहा गया है। पुद्गल के पास जीव में राग द्वेष पैदा करने की क्षमता है और आत्मा के पास रागद्वेष रूप परिणमन करने की क्षमता है। इस प्रकार भावकर्म को उत्पन्न करने की शक्ति वाला होने से पुद्गल को भावकर्म का भी कर्त्ता कहा जा सकता है। अतः पुद्गल कर्म का कर्त्ता तो हो सकता है लेकिन कर्म का भोक्ता नहीं हो सकता। किसी भी आध्यात्मिक या आगमिक ग्रन्थों में पुद्गल को कर्म का भोक्ता नहीं कहा गया। जो भोगता है वह कर्त्ता होता है और जो भोगने में आता है वह कर्म होता है, वह भोक्ता नहीं हो सकता। जिस प्रकार पुद्गल कथञ्चित् कर्म का कर्त्ता है वैसे ही यदि कर्म का भोक्ता माना जायेगा तो कर्मत्व के अभाव में उसे मुक्ति का भोक्ता भी अवश्य होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता। आत्मा वैभाविक अवस्था में कर्म का भोक्ता होता है और कर्म से मुक्ति होने पर आत्मा ही मुक्ति का भोक्ता होता है। पहले वैभाविक भावों का कर्त्ता एवं भोक्ता था मुक्त होने पर स्वाभाविक भावों का कर्त्ता भोक्ता हो जाता है।

काम, भोग, बन्धकथा का क्रमिक ह्रास—

जैसे किसी को १०७ डिग्री बुखार आ जाता है तो वह बेहोश हो जाता है। जब १–२ प्वाइंट बुखार कम होता है तब वह होश में आ जाता है। होश में आने पर लगता है अब वह ठीक हो जायेगा। घबराहट

में कमी आ जाती है। बेहोश अवस्था में इलाज के योग्य नहीं था अब इलाज के योग्य तो हो गया। पहले बोल नहीं रहा था अब बोलने लगा। ४-५ डिग्री कम होकर १०२-१०३ डिग्री बुखार रह गया तो चिकित्सा पद्धति प्रारम्भ हो गई। जिसके फलस्वरूप बुखार और अधिक डाउन होता गया। आंशिक बुखार कम होने पर वह पूर्ण स्वस्थ नहीं हुआ लेकिन स्वास्थ्य की ओर हो गया। जब ९८ डिग्री तक बुखार उतर जाता है तब वह पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। अब आप विचार कीजिए कि आंशिक बुखार कम होता गया इसका अर्थ यह तो नहीं है कि शरीर के किसी एक अंग से कम हुआ हो, किन्तु बुखार का अस्तित्व तो सम्पूर्ण शरीर में था। बुखार कम हुआ तो सम्पूर्ण शरीर में कम हुआ। ऐसा कभी नहीं होता कि पहले एक हाथ का पूरा बुखार कम हो जाये, बाद में दूसरे हाथ का, फिर सिर का, पैर का इत्यादि। आंशिक बुखार कम होने का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर में ही कमी आती है। तारतम्य का यही अर्थ है। इसी तरह काम, भोग, बन्ध की कथाएँ आंशिक कम हो गई तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि आत्मा कुछ अंशों में शुद्ध हो गया उसे स्वभाव झलकने लगा, किन्तु इसका अर्थ है कि आत्मा के सभी प्रदेशों में बन्ध की कथा अर्थात् अनुभाग आदि की कमी होना।

देशना लब्धि की पात्रता—

देशना लब्धि की पात्रता उसी को प्राप्त होती है जिसके कर्मों के द्विस्थानीय अनुभाग का उदय हो। त्रिस्थानीय एवं चतु:स्थानीय के उदय होने पर जिनवाणी का उपदेश स्वीकृत नहीं होता। उपदेश सुनने को पहुँच भी जावे तो उसकी ऐसी स्थिति बनती है कि एक कान से सुने और दूसरे से निकाल दे। उपदेश का प्रभाव हृदय तक नहीं पड़ पाता। वह उपदेश सुनकर इधर-उधर की बातों पर प्रश्न तो कर सकता है लेकिन समाधान पाकर ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखता। देशना लब्धि का पात्र तो वही होता है जो उपदेश को ग्रहण एवं स्वीकार करने की दृष्टि से सुनता हो। बार-बार वह सोचता हो कि यह उपदेश मेरे हित के योग्य है। उपदेश सुनकर तत्त्व-चिन्तन की गहराई में पहुँचने का अभ्यास करता हो। उसके विचार-विमर्श में संलग्न रहता हो। विचार-विमर्श करने वाला उपदेश को ग्रहण कर ही ले यह जरूरी नहीं है लेकिन एक समय ऐसा आ सकता है कि वह यदि तात्कालिक सम्यग्दृष्टि नहीं भी हो परन्तु कालान्तर में उपदेश के स्मरण से भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भूमिका बन सकती है।

दृष्टान्त—

जैसे बचपन में बच्चों को टीका लगाते हैं, कालान्तर में वह कितना बड़ा हो जाता है। वही टीका आगे यह प्रभाव दिखाता है कि जीवन भर उसे कभी भी छोटी-बड़ी माता नहीं निकलती। जिस प्रकार कालान्तर में टीका का प्रभाव देखने में आता है उसी प्रकार देशना भी कालान्तर में सम्यग्दर्शन प्राप्ति के साधन स्वरूप जातिस्मरण के रूप में कारण बनकर अपना प्रभाव दिखा सकती है। अतः जब भी देशना प्राप्ति का अवसर आये तो अवश्य ही उसका लाभ लेने का प्रयास करना चाहिए।

अनेक दृष्टिकोणों से तारतम्य का अर्थ—(आगम के परिप्रेक्ष्य में तारतम्य का अर्थ)—

'तारतम्य' शब्द कमीवेशी का वाचक है, मुख्य-गौण का वाचक नहीं। संस्कृत में तर और तम प्रत्यय का प्रयोग होता है। तर और तम में युट् प्रत्यय लगाकर तारतम्य शब्द बनता है। यह भाववाचक शब्द है। यह कमीवेशी अर्थ में प्रचलित है। अंग्रेजी में भी इसका डिग्री के रूप में प्रयोग होता है। जैसे-Good, Better, Best इन तीनों में भी गौण मुख्यता नहीं है किन्तु कमोवेशी है। अच्छा, उससे अच्छा, सबसे अच्छा। The Best सबसे अच्छा। The Best के स्थान पर एवन का भी प्रयोग किया जाता है।

स्वाध्यायशील व्यक्तियों द्वारा इसका अर्थ गौण मुख्य निकाला जा रहा है जो उचित नहीं है। उन्हें संस्कृत भाषा का अच्छे से अध्ययन कर लेना चाहिए क्योंकि भाषा ज्ञान के माध्यम से ही शब्द से अर्थ और अर्थ से भाव की ओर हमारी यात्रा होती है।

आगम में येनांशेन शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ ऐसा करते हैं कि जितने अंश में कषाय चली गई, उतने अंश में बन्धकथा कम हो गई। उतने अंश में, शुद्ध एकत्व निश्चयगत तत्त्व की प्राप्ति हो गई। ऐसा अर्थ लगाना आगमिक नहीं हैं। जैसे २-३ डिग्री बुखार में कमी आ गई तो वह स्वस्थ हो गया यह कहना उचित नहीं है किन्तु स्वास्थ्य की ओर है यह कहना ठीक है। उसी प्रकार शुद्धत्व की प्राप्ति नहीं किन्तु शुद्धत्व की ओर हो गया ऐसा अर्थ कहना चाहिए। बुखार का कम होना, आरोग्य की ओर होना, इसे कहते हैं तारतम्य। उसी तरह कषाय की कमी होना, आरोग्य की ओर आगे बढ़ना, अशुभोपयोग में कमी होना शुभोपयोग की ओर आगे बढ़ना। जैसे प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक अशुभोपयोग हीनता को लेकर होता है। चौथे से सातवें तक या छठवें गुणस्थान तक शुभोपयोग बढ़ता हुआ होता है। इसके आगे १२ वें गुणस्थान तक बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग होता है। यह तारतम्य की दृष्टि से कथन किया गया है। इसी प्रकार लेश्याओं में भी तारतम्य को लेकर कथन किया है।

गुणस्थानों में भी भावों की तरतमता का कथन आगम में है। जैसे कि श्रेणी चढ़ते समय कोई जीव ८ वें गुणस्थान से ९ वें में जा रहा है तो वह वर्धमान की अपेक्षा से ऊर्ध्वगामी है किन्तु कोई जीव श्रेणी से उतरते समय १० वें गुणस्थान से ९ वें में आ रहा है तो वह हीयमान की अपेक्षा अधोगामी है। एक श्रेणी चढ़ रहा है अतः उसकी विशुद्धि ९ वें गुणस्थान में, श्रेणी से उतरने वाले ९ वें गुणस्थान की अपेक्षा अधिक है। एक के परिणाम ऊपर की ओर हैं दूसरे के परिणाम नीचे की ओर हैं। यही इन दोनों के बीच परिणामों में तारतम्य दर्शाया है। आचार्यों ने अन्यत्र इसी प्रकार तारतम्य को घटित किया है। इसी प्रकार पाठकों को भी तारतम्य का अर्थ प्रसंगानुसार लगाना चाहिए।

काम, भोग, बन्धकथा का तारतम्य—

यहाँ काम, भोग, बन्ध की कथा के प्रसंग में भी तारतम्य की दृष्टि से कथन किया गया है। एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों में काम, भोग, बन्ध की कथा पायी जाती है। सभी जीवों ने

अनन्तों बार इन कथाओं को सुना है, परिचय प्राप्त किया है एवं अनुभव किया है। एकेन्द्रिय जीवों में मात्र स्पर्शन इन्द्रिय है। उसके स्पर्शन इन्द्रिय जन्य काम, भोग, बन्ध होगा, क्योंकि जितनी मात्रा में वासना होगी, इन्द्रिय विषयों की सामग्री होगी उतनी मात्रा में बन्ध होगा। एकेन्द्रिय जीव के सबकी अपेक्षा बन्ध कम होगा। द्वीन्द्रियादि जीवों में एक-एक इन्द्रिय का विकास होता चला जाता है। तत्सम्बन्धी उसका ज्ञान भी विकसित होता जाता है। जितना-जितना ज्ञान बढ़ेगा उतना-उतना काम, भोग कथा का परिचय एवं अनुभव बढ़ता जाता है। फलतः बन्ध भी अधिक होता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव के सबसे अधिक बन्ध होता है। उसी पञ्चेन्द्रिय जीव के काम भोग से जितना परिचय कम होगा उतना बन्ध भी कम होगा। संक्लेश या आसक्ति का भाव अधिक होने से बन्ध भी अधिक होता है और विशुद्धि एवं अनासक्ति का भाव अधिक होने से बन्ध कम होता है। **जितना परिचय होगा उतना ही संक्लेश होगा, जितना कम परिचय होगा उतनी विशुद्धि बढ़ेगी।** विचार कीजिए आप क्या करना चाहते हो ? संयोग के द्वारा संसारी प्राणी पर दुःख का पर्वत टूट पड़ता है क्योंकि संयोग में आदमी रच-पच जाता है परन्तु जब उनका वियोग होता है तो अकेला रह जाता है अतः दुःखी होता है। सोचो! सिद्धपरमेष्ठी अनन्तकाल तक अकेले रहते हैं। वैसे भी आत्मा अकेला ही है। वियोग होने पर एकत्व की भावना तो भाया करो। आप सोचते हैं जब महाराज बनेंगे तब एकत्व की बात कर लेंगे। अभी से एकत्व की बात क्यों करें! बात बिल्कुल ठीक है लेकिन ध्यान रखो **''ज्ञान जितना विपरीत होगा उतना ही खतरा होगा''।** जैसे जब नदी में जल की धारा विपरीत होती है तो नैय्या खतरे में होती है। खतरे में आने पर नैय्या डूब जाती है। खतरे की निशानी है विपरीत ज्ञान। विपरीत ज्ञान के द्वारा जीवन रूपी नैय्या भवसागर में डूब जाती है। इसी को समझाते हुए आचार्यों ने कहा है कि-एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जीवों का विपरीत ज्ञान नरक गति में नहीं ले जा सकता लेकिन पञ्चेन्द्रिय जीवों का विकसित विपरीत ज्ञान नरकगति को प्राप्त कराता है। पञ्चेन्द्रिय में भी जो असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं वे प्रथम पृथ्वी तक जा सकते हैं किन्तु संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव सप्तम पृथ्वी तक जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि क्रमशः जैसे-जैसे इन्द्रियों का विकास होता जाता है वैसे-वैसे जीव विपरीत ज्ञान के द्वारा अधिक-अधिक पाप करने में समर्थ होता है परिणाम स्वरूप दुर्गति के रूप में पाप का अधिक-अधिक फल प्राप्त करता है। यदि विपरीत ज्ञान है तो स्पर्शन से अधिक रसना इन्द्रिय के द्वारा पाप होता है रसना से अधिक नासिका, नासिका से अधिक नेत्रइन्द्रिय और आँख से अधिक पाप कर्ण के द्वारा होता है, ऐसा कहा जा सकता है। ठीक इसके विपरीत यदि समीचीन ज्ञान है तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ही अत्यधिक पाप कार्यों से बच सकता है। पुण्य कार्यों को बढ़ा सकता है, यहाँ तक कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ही स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति कर सकता है।

एकेन्द्रिय से संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होना कितना दुर्लभ है। कितना अधिक विकास हो चुका है। लेकिन इस विकसित अवस्था में भी ज्ञान के दुरुपयोग से जीव पाँच इन्द्रियों और मन के २८ विषयों में

रञ्जायमान होता हुआ दुर्गति का पात्र बन जाता है। जबकि साधु इन्हीं विषयों पर संयमन करता हुआ २८ मूलगुणों का पालन करके स्वर्ग एवं अपवर्ग की प्राप्ति करता है। स्पर्शन इन्द्रिय के ८ विषय, रसना के ५, घ्राणेन्द्रिय के दो, चक्षु के ५ और कर्ण के ७ तथा एक मन का, इस प्रकार २८ इन्द्रिय विषयों के द्वारा या संसार वृद्धि के २८ मूलगुणों द्वारा संसारी प्राणी संसार से कभी छूट नहीं सकता। आचार्यों ने कहा है कि उक्त २८ विषयों से विरक्त होकर संसार मुक्ति के साधनभूत २८ मूलगुणों को धारण करो तो भव-भ्रमण छूट सकता है।

बन्धकथा कहाँ से कहाँ तक–

बन्ध शब्द से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चार भेद स्वीकार किये गये हैं। योग और कषाय के कारण उक्त चारों बन्ध होते हैं। योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं। कषाय के द्वारा स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं। प्रथम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक कषाय के द्वारा आबाधाकाल सहित स्थिति अनुभाग बन्ध होते हैं। इसके आगे ११ वें, १२ वें और १३ वें गुणस्थानों में मात्र योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं। वह आबाधा रहित एक समय स्थिति वाला बन्ध होता है। अनुभाग भी प्रशस्त होता है लेकिन यह एक समय की स्थिति एवं शक्तिशाली प्रशस्त अनुभाग कषाय के द्वारा नहीं होता। इस प्रकार बन्धकथा का अस्तित्व प्रथम से तेरहवें गुणस्थान तक है। १४ वें गुणस्थान में चूँकि योग और कषाय दोनों प्रत्यय नहीं हैं अतः नवीन बन्ध तो नहीं है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों का अस्तित्व तो वहाँ पर भी है। यह बात अलग है कि १४वें गुणस्थान के अंत समय में चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा अवशेष समस्त बन्धकथा का अवसान हो जाता है। फलतः आत्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। संसार दशा में यह बन्धकथा अत्यन्त सुलभ है किन्तु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का ऐक्य प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। भेद-रत्नत्रय के साथ भी बन्धकथा रहती है, किन्तु अभेद रत्नत्रय निर्बन्ध दशा की प्राप्ति का साक्षात् कारण होता है। भेद रत्नत्रय शुभोपयोग के साथ होता है, किन्तु अभेद रत्नत्रय शुभोपयोग के साथ नहीं रहता। वह तो शुद्धोपयोग के साथ रहता है। उसे ही एकत्व विभक्त वीतराग दशा को प्राप्त शुद्धोपयोगी कहा जाता है। भेद रत्नत्रय की दशा में एकत्व की अनुभूति नहीं हो सकती। जैसे–जल है, बादाम है, खसखस है, शक्कर (बूरा) है। ये सभी जब तक अलग-अलग हैं तब तक ठण्डाई नहीं बन सकती। ठण्डाई की सामग्री तो है परन्तु उनमें ठण्डाई का स्वाद कभी नहीं आ सकता। समस्त सामग्री के मिलने पर ही ठण्डाई का स्वाद आता है। ठण्डाई बनने के बाद किसी एक स्थान में बादाम हो, एक स्थान में शक्कर हो, कहीं कालीमिर्च हो कहीं खसखस हो ऐसा नहीं होता। उसमें से अब किसी भी एक चीज को अलग नहीं किया जा सकता। जहाँ पर बूरा है वहीं बादाम है, वहीं कालीमिर्च, वहीं खसखस वहीं पर जल है। इसी प्रकार अभेद रत्नत्रय में तीनों अभिन्न अखण्ड शुद्ध उपयोग की दशा होती है। निर्विकल्प समाधि के समय रत्नत्रय भिन्न-भिन्न नहीं होता। जैसे अलग-अलग अकेले बादाम से, कालीमिर्च से या बूरा से ठण्डाई का स्वाद नहीं आता और उनके

पृथक्-पृथक् सेवन करने से गर्मी भी दूर नहीं होती, किन्तु समस्त के मिलने पर या उनकी अभेद अवस्था होने पर ही सेवन करने से ठण्डाई का स्वाद आता है और गर्मी भी दूर होती है। भेद रत्नत्रय के समय पर भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की भिन्नता में आत्मा का कोई स्वाद नहीं आता। तीनों की अभिन्नता होने पर ही आत्मानुभूति का स्वाद आता है। अभेद रत्नत्रय गुप्ति की बेला में होता है जबकि भेद रत्नत्रय भुक्ति की बेला में समिति के समय होता है। प्रवृत्ति के समय अभेद रत्नत्रय नहीं होता। अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति बंद करो व समिति भी बन्द करो। प्रवृत्त्यात्मक आवश्यक कार्य भी तब रुक जाते हैं। सामायिक काल में जब साधक ध्यान की अवस्था में लीन हो जाते हैं तब तीनों अभिन्न हो पाते हैं। उस समय उपयोग की दशा बाहर न होकर अन्तरंग में चली जाती है। इतनी अभ्यन्तर में चली जाती है कि पञ्चेन्द्रिय के विषय और मन की समस्त प्रणाली समाप्त हो जाती है। तब अभेद रत्नत्रय की दशा बनती है। इस प्रकार की त्रिगुप्ति गुप्त दशा संसार दशा में अन्यत्र कहीं नहीं पायी जाती केवल श्रामण्य दशा में मिलती है। इस अवस्था में बन्धकथा कम होते-होते सहज रूप से समाप्त होती जाती है। जैसा कि छहढाला में कहा है-

''ज्ञानी के छिनमाँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरें ते॥''

ज्ञानी के त्रिगुप्ति अवस्था में सहज ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। त्रिभुक्ति (तीन बार भोजन) की अवस्था में नहीं। मोक्ष मार्ग में त्रिगुप्ति अवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ज्ञान चेतना के विषय में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी** ने **पञ्चास्तिकाय** ग्रन्थ में कहा है- **पाणित्तमदिक्कं ता णाणं विंदंति ते जीवा** अर्थात् प्राणों से अतिक्रान्त, बन्धातीत, कर्मरहित शुद्ध सिद्ध अवस्था में ज्ञान चेतना होती है। 'ते जीवा' ये शब्द अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। वे जीव जो इस संसार में परोक्षभूत हैं सिद्धपरमेष्ठी जो प्राणों से मुक्त हैं उनमें ज्ञान चेतना पायी जाती है। चूँकि १३ वें गुणस्थान में भी जीव छह प्राणों से मुक्त हो जाता है और १४ वें गुणस्थान में मात्र एक आयु प्राण रहता है इस अपेक्षा से १३वें, १४वें गुणस्थान में भी 'आचार्य अमृतचंद्र स्वामी' ने ज्ञान चेतना का स्वामित्व कहा है।

तेरहवें गुणस्थान में योग के संयोग से बन्धकथा का अस्तित्व तथा चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव होने से नवीन बन्ध की अपेक्षा तो बन्धकथा नहीं है लेकिन पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता एवं कर्मोदय की अपेक्षा बन्धकथा है।

विशेष कथन—ग्रन्थ का नाम मुझे स्मरण में नहीं आ रहा है लेकिन एक स्थान पर आया है कि- आस्रव क्या है? कर्मों का सत्ता में से उदयावली या उदय में आने का नाम भी आस्रव है। कर्मों (कर्म-वर्गणाओं) के आने का नाम अथवा कर्म-वर्गणाओं का कर्मरूप परिणमन होने का नाम तो आस्रव है ही, कर्म जब उदय में आते हैं तो उस समय जो भाव होते हैं उनको भी भावास्रव कहते हैं। जो नवीन द्रव्यास्रव के लिए कारण होता है। इस विवक्षा से कर्मोदय को भी आस्रव कहने में कोई बाधा नहीं

है। लेकिन १४ वें गुणस्थान में कर्मोदय नवीन कर्मास्रव में कारण नहीं होता। असिद्धत्व औदयिक भाव है, लेकिन यह नवीन कर्मबन्ध में कारण नहीं होता। यह बहुत गहरा कर्म सिद्धान्त है। यहाँ द्रव्य कर्म की बात नहीं किन्तु भाव कर्म की विवक्षा है। यहाँ द्रव्यास्रव की नहीं मात्र भावास्रव की विवक्षा है। द्रव्य आस्रव तो रुक गया लेकिन भावास्रव नहीं रुका। कर्म के उदय में जो औदयिक भाव हो रहे हैं, यही असिद्धत्व भाव है। नवीन बन्ध के हेतुओं का अभाव तो हो गया लेकिन फिर भी कर्मोदयजन्य असिद्धत्वभाव है। चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा सत्तागत कर्म नष्ट होने पर ही गुणस्थानातीत सिद्धत्व भाव उत्पन्न होता है। संसार दशा में असिद्धत्व है और असिद्धत्व का अनुभव करने वाला ज्ञान चेतना का अधिकारी नहीं होता इसीलिए १४ वें गुणस्थान में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** जी ने ज्ञान-चेतना के स्वामित्व का कथन नहीं किया। यहाँ योग नहीं है लेकिन कर्म का संयोग तो है। वे भावातीत नहीं है। केवल शुद्ध भाव वहाँ पर भी नहीं है। वहाँ चूँकि ध्यान है और ध्यान स्वभाव भाव नहीं है। जो-जो स्वभाव भाव नहीं है उसे निकाल देना अनिवार्य होता है। ध्यान विभाव भाव है लेकिन यह अन्य किसी विभाव भाव को पैदा नहीं करता, किन्तु वैभाविक परिणामों के द्वारा जो बन्ध हुआ था उसकी निर्जरा करता है।

समस्त शुक्लध्यान संवर और निर्जरात्मक होते हैं लेकिन चतुर्थ शुक्लध्यान मात्र निर्जरात्मक होता है, क्योंकि १३वें गुणस्थान तक पूर्ण संवर हो जाता है। १४ वें गुणस्थान में कर्मास्रव नहीं है तो आस्रव निरोध रूप संवर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। १४ वें गुणस्थान में भी पूर्ण स्वाभाविक परिणमन नहीं है लेकिन स्वाभाविक शुद्ध-सिद्ध रूप परिणमन की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ स्वरूप चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यान स्वभाव है क्या ? नहीं, तो विभाव है क्या ? इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि ध्यान स्वभाव नहीं है क्योंकि वह सिद्धों में नहीं पाया जाता इससे स्पष्ट होता है कि वह भी विभाव है। ध्यान में सिद्धत्व की अनुभूति नहीं है क्योंकि जब तक ध्यान है तब तक असिद्धत्व है। १४वें गुणस्थानवर्ती जीव संसारी नहीं हैं किन्तु सिद्ध बनने के उम्मीदवार हैं।

स्व-संबोधन—

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जो एकत्व विभक्त तत्त्व का वर्णन किया है वह कितना गम्भीर है ? कितना विशद तत्त्व है ? उसकी गम्भीरता को सुनकर अपने आप उतावलापन समाप्त हो जाना चाहिए। अभिमान भी समाप्त हो जाना चाहिए। अपने आपको लघु बन जाना चाहिए। उसकी विराटता को देखकर विचार आना चाहिए कि जिन्होंने एकत्व विभक्त तत्त्व का अनुभव किया है ऐसे सिद्धों की अनन्त शक्तियाँ उद्घाटित हो चुकीं। हमारी एक भी शक्ति पूर्ण रूप से उद्घाटित नहीं हुई। अपने पास अपनी आत्म शक्तियों का कितना कम उद्घाटन है। अभी तो हम लोग उनकी गिनती में ही नहीं हैं। हमने सिद्धों के बारे में कितना सुना है, कितने ग्रन्थ पढ़े हैं, उनका परिचय भी प्राप्त किया है लेकिन आज तक सिद्धत्व की अनुभूति नहीं हुई। अपनी स्थिति तो वैसी ही है कि कैप्सूल में औषधि है इसे

जान लिया, उस पर विश्वास भी कर लिया यहाँ तक कि कैप्सूल को मुँह में भी डाल दिया। तो कैप्सूल का स्वाद तो आ गया परन्तु औषधि का स्वाद नहीं आया। चूँकि औषधि कड़वी है इसलिए वह कैप्सूल का केप भीतर जाकर खुलेगा और अपना प्रभाव दिखायेगा। मुख में कैप्सूल का डालना केवलज्ञान की अवस्था का प्रतीक है। केवलज्ञान के द्वारा कैप्सूल की औषधि को जान लिया लेकिन औषधि का अनुभव नहीं किया। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान के द्वारा सिद्धत्व जानने में तो आता है लेकिन अनुभव में नहीं आता, उसकी अनुभूति के लिए सिद्धावस्था को प्राप्त करना आवश्यक है।'' **सिद्ध बने बिना कभी शुद्ध का या सिद्धत्व का अनुभव नहीं हो सकता।**'' केवलज्ञान होने के बाद भी कुछ ऐसे कर्म हैं जो सिद्धत्व की अनुभूति में बाधक होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का कहना है कि–**भैय्या! संसार दशा में कभी भी सिद्धत्व का अनुभव नहीं कर सकते। यदि संसार दशा में सिद्धत्व का अनुभव होता तो कोई संसार दशा को छोड़ता ही नहीं।** जिस प्रकार ये कहा जाता है कि मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता वैसे ही जब तक पण्डित-पण्डित मरण नहीं होगा तब तक सिद्धत्व का अनुभव नहीं होता। कितना अद्‌भुत है यह ! आगम के माध्यम से उस पर श्रद्धान तो किया जा सकता है लेकिन सिद्धत्व का अनुभव नहीं किया जा सकता।

दिन और रात में कितना अन्तर है ? प्रकाश और अन्धकार में जितना अन्तर है उतना ही दिन और रात में अन्तर है। इसी प्रकार संसार और मुक्त दशा में भी जमीन-आसमान का अन्तर है। द्रव्य का परिणमन कितना अद्‌भुत है। सिद्धत्व का अनुभव केवलज्ञानी को ही होगा लेकिन केवलज्ञानी की अवस्था में नहीं। परम आश्चर्य है कि एक समय बाद औदयिक भाव समाप्त हो जायेगा तो सिद्धत्व का अनुभव हो जायेगा। सिद्ध बनने के एक समय पूर्व भी उसका अनुभव केवलज्ञानी को भी नहीं हो सकता तो फिर हमारी आपकी बात तो बहुत दूर है। मानना पड़ेगा कि उस औदयिक भाव का कितना पावर है ? सभी शक्तियाँ अपनी-अपनी स्वभाव शक्ति से युक्त है, इसको टाला नहीं जा सकता। वह अभूतपूर्व तत्त्व जो पूर्व में कभी अनुभूत हुआ ही नहीं। इस बात का विश्वास करना भी सम्यग्दर्शन है।

रागादि रहित 'एकत्व-विभक्त' तत्त्व की भावना करने से ही उसकी अनुभूति के निकट पहुँचा जा सकता है अतः हमेशा उस विशुद्ध तत्त्व की भावना करते रहना हर साधक का कर्तव्य है।

उत्थानिका—काम, भोग बन्ध की कथा सुलभ है इसका कथन चतुर्थ गाथा में किया जा चुका है। अब आगे 'एकत्व सुलभ नहीं है' अतः उसका कथन किया जाता है।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्के ज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५॥

अन्वयार्थ–(तं) उस पूर्वोक्त **(एयत्तविहत्तं)** एकत्वविभक्त **(अप्पणो)** अभेदरत्नत्रय आत्मस्वरूप को **(सविहवेण)** निज वैभव से **(दाएहं)** मैं दिखलाता हूँ **(जदि)** यदि **(दाएज्ज)** मैं

दिखाऊँ, **(पमाणं)** (तो उसे) प्रमाण मानना **(चुक्केज्ज)** यदि कहीं पर चूक जाऊँ, तो **(छलं)** विपरीत भाव (दुर्जन के समान विपरीत अभिप्राय) **(ण घेत्तव्वं)** ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अर्थ—मैं अपने आपके ज्ञान से उस एकत्व विभक्त का अर्थात् शुद्धात्मा का वर्णन कर बतलाऊँगा। यदि मैं बतला सकूँ तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमें कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

स्वात्मानुभूति बल से तुमको दिखाता,
एकत्वरूप शुचि आतम जो सुहाता।
भाई! दिखा यदि सका उर में सु-धारो,
हो काश! भूल इसमें छल हा! न धारो ॥५॥

व्याख्या—पूर्वाचार्यों ने जिस ढंग से एकत्व-विभक्त का वर्णन किया है, मैं भी अपनी शक्ति के अनुसार उसे कहने का प्रयास कर रहा हूँ। यदि आचार्यों के अनुसार कह पाऊँ तो उसको प्रमाण रूप में स्वीकार कर लेना और यदि मैं चूक जाऊँ, मुझसे उसमें कुछ भूल हो जाये तो कोई छल ग्रहण मत करना।

जीव तत्त्व की व्याख्या—

जो प्राणों के द्वारा जी चुका, वर्तमान में जी रहा है और भविष्य में जीता रहेगा इसका नाम जीव है। सामान्य तौर पर कहा जाता है कि जो जानता है, देखता है, चलता है, फिरता है अथवा नाक, कान, आँख आदि इन्द्रियों वाला होने से जो दिखता है वह जीव है। श्वासोच्छ्वास के द्वारा जो जीता जागता नजर आता है वह जीव है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया से डॉक्टर अथवा वैद्य नाड़ी देखकर बताते हैं कि यह किस दिशा और किस दशा में है। यह व्यक्ति जीवित है या मृतक, इसका निर्णय श्वासोच्छ्वास की क्रिया से होता है। इस प्रकार कुछ उपर्युक्त साधनों से जीवत्व की पहचान होती है।

नयों की विवक्षानुसार जीव की व्याख्या—

सर्वप्रथम शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा जो शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप शुद्ध चैतन्य प्राणों से जीता है वह जीव है। द्वितीय अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जो क्षायोपशमिक रूप अशुद्ध भाव प्राणों द्वारा जीता है वह जीव है। तृतीय असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा जो यथासम्भव द्रव्य प्राणों द्वारा जीता है वह जीव है। तीनों कालों की अपेक्षा लगा लेना चाहिए कि जो उक्त प्राणों के द्वारा जी रहा है, जी चुका है और आगे जीयेगा वह जीव है।

जिज्ञासा—अशुद्ध और शुद्ध निश्चयनय में क्या अन्तर है ?

समाधान—स्वभाव भाव को शुद्ध निश्चयनय एवं विभावभाव को अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। अतः शुद्ध निश्चयनय का विषय शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप होता है तथा अशुद्ध निश्चयनय का विषय क्षायोपशमिक रूप विभाव-भाव होता है।

असद्भूत व्यवहारनय का सम्बन्ध द्रव्य प्राणों के साथ जुड़ता है। हालाँकि अशुद्ध निश्चय का विषय भी कर्माश्रित क्षायोपशमिक भाव रूप होता है फिर भी उसे असद्भूत व्यवहारनय का विषय न बनाकर जीव की वैभाविक परिणति का प्रतीक मानकर उसे अशुद्ध निश्चयनय का विषय बनाया। साक्षात् आँख, नाक, कान, स्पर्शन, रसना आदि जो पौद्गलिक रूप इन्द्रियाँ हैं, शरीर है, यह सब असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। इस प्रकार पाठक को हमेशा जीव की पहचान के लिए उक्त तीनों नयों की विवक्षा को दृष्टि में रखना चाहिए।

असद्भूत व्यवहारनय के दो भेद–

असद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार का होता है–१. उपचरित असद्भूतनय, २. अनुपचरित असद्भूत नय। पर द्रव्यों के साथ जहाँ सम्बन्ध जुड़ता है वह उपचरित असद्भूत नय का विषय बनता है। जैसे–मेरा मकान, मेरी दुकान, मेरे वस्त्र इत्यादि। चूँकि मकान, वस्त्र आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जीव से पृथक् हैं। जहाँ पृथक्करण होता है वहाँ उपचार होता है, किन्तु जो जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध को लेकर अपृथक् होते हैं उनके साथ अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के विषय का कथन किया जाता है। जैसे–जीव के कर्म अथवा जीव का शरीर। चूँकि जीव के प्रदेशों के साथ कर्म प्रदेशों का एवं नोकर्म वर्गणाओं का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, अतः ये अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के विषय होते हैं। इस प्रकार दोनों नयों का विषय पर-द्रव्यों से सम्बन्धित है फिर भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय जीव प्रदेशों से बिल्कुल पृथकता को लेकर होता है जबकि अनुपचरित नय का विषय जीव प्रदेशों के साथ अपृथक् एक क्षेत्रावगाह रूप होता है। यही इन दोनों नयों में अन्तर है।

निश्चयनय–

निश्चयनय का विषय उपयोग से सम्बन्धित होता है। जैसे जीव की राग-द्वेषादि रूप भाव-प्रणाली उपयोग में ही घटित होती है अतः यह निश्चयनय का विषय है लेकिन यह भाव-प्रणाली चूँकि विभाव रूप है, औपाधिक है अतः यह अशुद्ध निश्चयनय का विषय है। अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा जीव अपने रागादि अशुद्ध भावों का कर्त्ता, भोक्ता एवं स्वामी होता है। शुद्ध निश्चयनय में वैभाविक भाव प्रणाली का सम्बन्ध टूट जाता है, केवल स्वभाव का सम्बन्ध जुड़ता है। शुद्ध निश्चय की अपेक्षा जीव अपने शुद्ध स्वभाव का कर्त्ता, भोक्ता होता है।

उक्त तीनों नयों का विषय भव्य जीव के साथ ही जुड़ता हो ऐसा नहीं है। अभव्य जीव के साथ भी जुड़ता है। हमें यह देखना आवश्यक है कि तीनों नयों का विषय कौन सी सन्धि के साथ चल रहा है। एक नय तो सन्धि समास से रहित है। संसारी जीव का आज तक जो कुछ भी राज्य चल रहा है वह गठबन्धन के साथ ही चल रहा है। अभी तक कभी भी गठबन्धनातीत साम्राज्य को प्राप्त नहीं किया, क्योंकि संसार में उपचरित पृथक् वस्तुओं के साथ झगड़ा चल रहा है। हमें नयों की विवक्षा

समझकर यह विचार करना चाहिए कि इन तीनों नयों में से उपादेयभूत विषय कौन सा है। हमें उक्त उपादेयभूत विषय तक पहुँचने का, उसे अनुभव करने का प्रयास करना चाहिए। आज हम वैभाविक प्रणाली में रहकर भी स्वाभाविक प्रणाली का श्रद्धान तो कर सकते हैं लेकिन उसकी अनुभूति संभव नहीं है। दरिद्र होकर भी हम राजा या सेठ साहूकार बनने का श्रद्धान तो कर सकते हैं लेकिन दरिद्र अवस्था में रहकर जो एक कोंड़ी का भी अधिपति नहीं है वह करोड़पतित्व के श्रद्धान के साथ उसका अनुभव कभी नहीं कर सकता। उसी प्रकार वर्तमान में नर, नारकी, देव, तिर्यञ्च आदि अशुद्ध अवस्था में रहते हुए ''मैं त्रिकाली शुद्ध हूँ'' इसकी अनुभूति नहीं की जा सकती।

शुद्ध निश्चय की विवक्षा से स्वभाव की दृष्टि से तो अभव्य जीव भी सिद्ध परमेष्ठी के समान शुद्ध है। संसार के सभी प्राणी स्वभाव की दृष्टि से शुद्ध हैं। जैसा कि–**द्रव्यसंग्रह** में एक गाथा का चतुर्थ चरण है–**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।**

श्रद्धान त्रैकालिक होता है लेकिन अनुभूति तात्कालिक होती है। मैं सिद्धों के समान शुद्ध हूँ अथवा शुद्ध बन सकता हूँ इसका श्रद्धान वर्तमान में किया जा सकता है लेकिन उस शुद्धत्व की अनुभूति नहीं की जा सकती। जैसे करोड़पति बनने पर ही करोड़पतित्व का अनुभव किया जा सकता है वैसे ही सिद्ध बनने पर ही शुद्धत्व अथवा सिद्धत्व का अनुभव किया जा सकता है। यह हमेशा याद रखने योग्य सूत्र है।

द्रव्य-पर्याय की परिणमनशीलता–

द्रव्य में शुद्ध पर्याय को पैदा करने की क्षमता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि आज की वर्तमान पर्याय तो अशुद्ध हो और उसका मालिक आधारभूत द्रव्य शुद्ध रहा आवे। द्रव्य शुद्ध हो और उसकी पर्याय अशुद्ध रहे यह त्रैकालिक असत्य है, क्योंकि द्रव्य स्वयं जैसा परिणमन करता है उसकी वैसी ही पर्याय प्रकट होती है। जैसा कि प्रवचनसार में एक गाथा में कहा कि धर्म से परिणत आत्मा धर्मात्मा शुभ से परिणत आत्मा शुभ, अधर्म या अशुभ से परिणत आत्मा अधर्मात्मा या अशुभ रूप तथा शुद्ध से परिणत आत्मा शुद्ध कहलाता है।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोग जुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

दृष्टान्त–द्रव्य हमेशा परिणमनशील होता है, पर्याय परिणाम रूप होती है। परिणाम का पुनः परिणाम नहीं होता। जैसे परीक्षा का एक बार परिणाम (रिजल्ट) आता है, पास या फेल के रूप में। फेल होने का पुनः कोई परिणाम नहीं होता। हाँ, फेल होने वाले का दूसरा परिणाम आ सकता है। यदि वह अच्छी पढ़ाई कर ले तो वह पास हो सकता है। लेकिन ध्यान दीजिए, यह फेल का दूसरा परिणाम नहीं है। फेल का परिणाम तो फेल रूप ही था किन्तु पास होना यह फेल होने वाले छात्र का दूसरा परिणाम है। कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र एक द्रव्य है उसमें फेल और पास होने रूप अनेक

सम्भावनायें हैं। वह फेल भी हो सकता है, पास भी हो सकता है। वह फेल होकर भी पुनः पास होने की क्षमता वाला होता है लेकिन क्षमता होने के कारण फेल की अवस्था में ही उसे पास कह दें, यह गलत है। ऐसा कोई कहता भी नहीं है। इसी तरह द्रव्य की अशुद्ध पर्याय की अवस्था में ही द्रव्य को शुद्ध होने की क्षमता वाला होने से शुद्ध कह देना उचित नहीं है। जो लोग हमेशा यह रटना लगाये रहते हैं कि द्रव्य तो त्रिकाली शुद्ध है, वह कभी अशुद्ध रूप परिणमन करता ही नहीं है। मात्र पर्याय अशुद्ध रूप परिणमन करती है द्रव्य तो शुद्ध है यह आगम विरुद्ध कथन है। पक्षाग्रह के कारण कभी आगम के विरुद्ध कथन नहीं करना चाहिए। यदि वे इस प्रकार पक्षाग्रह को नहीं छोड़ते तो समझना चाहिए कि द्रव्य, गुण, पर्याय के बारे में उन्हें अभी क, ख, ग भी ज्ञात नहीं है।

मान लो कि–किसी की माँ की गमी (मृत्यु) हो गई। उसके घर में इस मान्यता वाले लोग हैं कि यह सूतक तो पर्याय में लगता है द्रव्य में नहीं। वे उस समय भी यदि यह कहें कि मेरा द्रव्य तो शुद्ध है, उनके यहाँ कोई व्रती भोजन करने जायेगा क्या ? नहीं, वह तो लोक व्यवहार की अपेक्षा भी शुद्ध नहीं है फिर वस्तु का परिणमन शुद्ध कैसे हो सकता है ?

विशेष-चिन्तन—

द्रव्य शुद्ध है इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि एक द्रव्य का एक अंश भी दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करता। जो द्रव्य जितने प्रदेशवाला था, उतने ही प्रदेश अभी भी हैं, आगे भी रहेंगे। यह त्रैकालिक शुद्धत्व द्रव्य का है इसको कोई भी मिटा नहीं सकता किन्तु यह विवक्षा वैभाविक और स्वाभाविक रूप शुद्ध अशुद्ध से हटकर विषय है। इस विवक्षा में विभाव और स्वभाव की अपेक्षा कथन नहीं है। इसी तरह गुण की पर्याय के बारे में विचार करें तो मतिज्ञान के साथ केवलज्ञान शुद्ध पर्याय भी है या मतिज्ञान केवलज्ञान की किरण है ऐसा कथन करना आगम से विरुद्ध है क्योंकि क्षायोपशमिक गुण पर्याय के साथ क्षायिक गुण पर्याय नहीं हो सकती। क्षयोपशम अवस्था में क्षायिक अवस्था का श्रद्धान तो हो सकता है, लेकिन क्षायिक अवस्था का अनुभव नहीं हो सकता। मतिज्ञान है तो मतिज्ञानी ही कहा जायेगा उसे केवलज्ञानी कभी नहीं कह सकते। मतिज्ञान को भी केवलज्ञान की किरण सिद्ध करना यह आगम से विपरीत है। इसे ही स्वरूपविपर्यास भी कहते हैं। केवलज्ञान मात्र केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न नहीं होता किन्तु मतिज्ञानावरणादि पाँचों ज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है। सूर्योदय होते ही जीरो वॉट का हो, चाहे हजार वॉट का बल्ब हो सबका प्रकाश उसमें छुप जाता है। मतिज्ञान भी रहे और केवलज्ञान भी प्रकट हो जाये ऐसा किसी भी आगम में नहीं लिखा।

अतः निष्कर्ष रूप में यही कहा जायेगा कि एक द्रव्य की शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थायें एक साथ घटित नहीं हो सकती। किसी भी द्रव्य का एक अंश भी अन्य किसी द्रव्य में नहीं जा सकता। अब इससे अधिक तो नहीं कहा जा सकता। इतना ही पर्याप्त है कि शुद्धनय, अशुद्धनय, असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा जो विवक्षित प्राणों से जी चुका, जी रहा है आगे भी जीयेगा वही जीव है।

शक्ति के अनुसार कथन की प्रतिज्ञा की है। शक्तियाँ कई प्रकार की होती हैं। जैसे–मानसिक शक्ति, वाचनिक शक्ति, कायिक शक्ति, आगमिक शक्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति इत्यादि। यहाँ मुख्य रूप से आगमिक एवं वाचनिक शक्ति के अनुसार कथन का प्रयोजन है। इस गाथा में 'छल' शब्द महत्त्वपूर्ण है। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने अपनी लघुता को तथा प्राचीन आचार्यों से उन्हें जो उपलब्ध हुआ उसकी गरिमा को ज्यों का त्यों बनाए रखने का प्रयास किया है। "**जो जितना लघु होता है वह उतना महान् होता है।**" आचार्य स्वयं कह रहे हैं कि यदि मैं भूल जाऊँ तो मेरी भूल को छल के रूप में ग्रहण मत कर लेना, यह उनकी महानता है।

आचार्य की लघुता–

प्रायः संसारी प्राणी अपना बड़प्पन दिखाने के लिए जो उनसे बड़े हैं, गौरव के स्थान हैं उनको भी भूल कर, यह सब मेरा ही प्रताप है, यह सब मेरे ही पुरुषार्थ का परिणाम है इस तरह कहता है लेकिन **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** की लघुता को देखिए! जिन्होंने यह लिखा कि वह एकत्व अपने आपमें सुन्दर है, अविसंवादनीय है, स्वीकार करने योग्य है हम उसको शब्दों के माध्यम से कहना चाहते हैं उसमें भूल सम्भव है अतः छल ग्रहण नहीं करना अर्थात् विपरीत परिणति के साथ स्वीकार नहीं करना। उन्होंने कहा कि मैं अपने बुद्धि-वैभव के द्वारा दिखाता हूँ। हालांकि उनका वह बुद्धि वैभव सामान्य नहीं है। जिस बुद्धि ने रत्नत्रय को स्वीकार किया है वह विशिष्ट बुद्धि का ही परिचय देती है। फिर भी उन्होंने अत्यन्त लघुता का परिचय दिया। तात्पर्यवृत्तिकार **आचार्य जयसेन स्वामी** जी ने टीका में बुद्धि-वैभव का अर्थ "आगमप्रत्यक्षेण इति" किया है। भावार्थ रूप से यह स्पष्ट किया है कि आगम के आधार पर, तर्क की कसौटी पर, परमगुरु के उपदेश से प्राप्त जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, उसके माध्यम से मैं आप लोगों के समक्ष कुछ कह रहा हूँ। उसको आप लोग भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा परीक्षित करके प्रमाण रूप में स्वीकार करना। यदि इसमें मुझे या आपको सफलता नहीं मिले तो दुर्जनों के समान विपरीतता को (छल को) स्वीकार मत करना।

जिज्ञासा–आचार्य कुन्दकुन्ददेव जैसे महान् आचार्य ने ऐसा क्यों कहा कि यदि मैं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण मत करना ?

समाधान–संसारी प्राणी किसी भी बात को हमेशा अपनी इच्छा के अनुसार, अपनी अनुकूलता के अनुसार, अपने अभिप्राय से स्वीकार करता आया है। कलुष आशय होने के कारण किसी भी सत्य तथ्य को भी असत्य रूप में स्वीकार करता है। कभी-कभी वक्ता का भी कलुष आशय होने के कारण वह सत्य तथ्य को समीचीनता के साथ प्रस्तुत नहीं करता। **आचार्य समन्तभद्रस्वामी** जी ने **युक्त्यनुशासन** ग्रन्थ में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए एक श्लोक लिखा है–

कालः कलि-र्वा कलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व लक्ष्मी, प्रभुत्व शक्तेरपवादहेतुः ॥५॥

अर्थ–हे वीर जिन! आपके शासन में एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मी का स्वामी होने की जो शक्ति है, उसके अपवाद का अर्थात् एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकने का कारण एक तो कलिकाल है जो कि साधारण बाह्य कारण है, दूसरा प्रवक्ता का वचनानय अर्थात् निरपेक्ष नय के साथ वचन व्यवहार है जो कि असाधारण बाह्य कारण है और तीसरा श्रोता का कलुषित आशय है जो कि अन्तरंग कारण है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तीन हेतु देकर इस बात को स्पष्ट किया है कि शासन में किन-किन कारणों से अपवाद हो सकते हैं। काल कलिकाल है, आशय कलुष है, निरपेक्ष नय के साथ वचन व्यवहार है इत्यादि। काल का प्रभाव एक सामान्य हेतु है लेकिन वक्ता एवं श्रोता के हृदय की कलुषता का होना विशेष हेतु है। जैसे–वक्ता यदि कालुष्य के साथ जिनवाणी का उद्बोधन करता है तो उसमें जिनवाणी का दोष नहीं है उसकी कलुषता या उसके कलुष अभिप्राय का दोष है। वक्ता का अभिप्राय दूषित होता है तो श्रोता भी कलुष आशय से ग्रहण कर सकता है। यह श्रोता की और वक्ता की कलुषता का दोष है। भगवान् के मत का इसमें कोई दोष नहीं है।

उक्त बात को ध्यान में रखते हुए **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** को भी यह कहना पड़ा कि मैं उस एकत्व को बताने में यदि कहीं भूल जाऊँ तो छल ग्रहण मत कर लेना। उन्हें स्वयं यह ज्ञात था कि यह कलिकाल है, व्यक्ति भी दुर्मेधी होंगे स्वल्पबुद्धि भी होगी साथ ही वक्ता एवं श्रोता के अभिप्राय भी कलुष होंगे अतः उन्होंने सावधान किया कि **छलं ण घेत्तव्वं**। एकान्त नयों का निरपेक्ष कथन होगा जिससे अनेकान्त स्वरूप भगवान् का शासन दूषित हो सकता है। शासन सुरक्षित रहे इसलिए भी सचेत किया।

आगमिक कथाओं के भेद–

पूर्व गाथा कथित काम, भोग, बन्धकथा एवं एकत्व विभक्त आत्मकथा के अतिरिक्त आगम में चार प्रकार की कथाओं का वर्णन किया है–१. संवेगनी, २. निर्वेगनी, ३. आक्षेपणी और ४. विक्षेपणी। इनमें से प्रारम्भ की दो कथायें वैराग्यपरक है। इनके श्रवण से संसार से भय भी होता है। पापों से भीति भी होती है एवं संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य दृढ़ भी होता है। आक्षेपणी और विक्षेपणी कथायें बुद्धि को सन्तुलित एवं बुद्धि को पैनी करने के लिए प्रयुक्त होती हैं। सभी के लिए इन दो कथाओं के प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं किया गया। समाधि के समय अन्तिम दो कथाओं का श्रवण नहीं कराया जाता। समाधि के समय तो संवेगनी, निर्वेगनी कथाओं का श्रवण एवं उन्हीं से सम्बन्धित धर्मोपदेश श्रवण कराने को कहा गया है। सामान्य धर्मोपदेश के समय भी इन्हीं कथाओं का उपदेश दिया जाता है। धर्मोपदेश का अर्थ भी यही किया है कि–६३ शलाका पुरुषों के जीवन-चरित्र का कथन करना। जिससे पापों से भीति हो जाए और पुण्यार्जन का भाव जागृत हो जाये, ऐसा ही उपदेश धर्मोपदेश माना गया है। इन कथाओं के उपदेश श्रवण से पाप-पुण्य का फल एवं जीवन में उतार चढ़ाव के कारण विदित होते हैं। **श्री समन्तभद्र स्वामी जी** ने **रत्नकरण्डक**

श्रावकाचार ग्रन्थ के उपसंहार में कहा है–

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति॥

उक्त कारिका में आगम का निचोड़ है। उन्होंने कहा कि श्रेष्ठ ज्ञाता वही माना जाता है, जो यह जान लेता है कि पाप मेरा शत्रु है, धर्म मेरा बन्धु है। जानने का अर्थ मात्र शाब्दिक रूप से जानना नहीं है किन्तु पाप को पाप जानकर छोड़ देना और धर्म को बन्धु समझकर उसे स्वीकार करना है। 'ध्रुवं' शब्द का प्रयोग जोर देने के लिए किया है।

अभेद रत्नत्रय का परिपालन करना और उसका प्रतिपादन करना दोनों में बहुत अन्तर है। जैसे आप लोग किसी विषय को पढ़कर स्नातक तो हो जाते हैं लेकिन दूसरों को पढ़ाने के लिए बी॰ ए॰ करने के उपरान्त बी॰ एड॰ करना आवश्यक होता है। एम॰ ए॰ किया है तो भी बी॰ एड॰ या एम॰ एड॰ करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि पढ़ना और पढ़ाना दोनों में बहुत अन्तर है। किसी विषय को पढ़कर बाद में पढ़ाना फिर भी ठीक है लेकिन आगम पढ़कर आगम की अनुभूति करने में और अधिक अन्तर है। समयसार ग्रन्थ पढ़ने में जो उत्तीर्ण हो गया इतने मात्र से वह स्वयं को एवं दूसरों को भव-सागर तरने-तारने में सक्षम हो ही जायेगा, यह कोई नियम नहीं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं कह रहे हैं कि **आगम का आलोड़न करना, मुनियों के मुख से आत्म-तत्त्व को जानना सरल है लेकिन आत्म-तत्त्व की अनुभूति करके दूसरों को बतलाना अत्यन्त कठिन होता है।** इसलिए कहा है कि–कलिकाल है, आशय कलुषित है, नयों के सम्यक् प्रयोग नहीं हैं अतः छल ग्रहण न कर लेना। आचार्य स्वयं कह रहे हैं कि मैं क्षमा चाहता हूँ, यदि चूक जाऊँ तो विपरीत ग्रहण मत करना। यदि सावधान करने के उपरान्त भी किसी ने छल ग्रहण कर लिया तो मैं जिम्मेदार नहीं हूँ, क्योंकि तत्त्व ही सूक्ष्म है। यह तो वैसा ही है कि जैसे–किसी से पूछा जाए कि सूर्य गतिमान है या नहीं ? तो सूर्य को देखकर कोई भी शीघ्रता से यह नहीं कह सकता कि सूर्य गतिमान है। फिर भी दिशान्तर गमन देखकर कोई कहता है कि सूर्य गतिमान है। इसमें भी यदि कोई यह तर्क रखता है कि सूर्य गतिमान नहीं है, किन्तु पृथ्वी के घूमने से सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर दिखने लगा। अब उत्तर क्या दें ? दोनों जमीन पर हैं सूर्य आकाश में गतिमान है, कैसे उत्तर दें ? इसलिए आचार्यों ने कहा कि–"**परायत्तं परोक्षं स्वायत्तं प्रत्यक्षं**" परोक्ष पराधीन होता है और प्रत्यक्ष स्वाधीन होता है। परोक्ष को व्यवहार और प्रत्यक्ष को निश्चय भी कह सकते हैं। ऐसी स्थिति में जो प्रत्यक्ष का विषय है उसको परोक्षज्ञान के द्वारा परोक्षज्ञान वाले व्यक्ति के सामने रखने में चूक होना सम्भव है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष होता है और अनुमान तो अनुमान होता है। **आँखों से देखना और कानों से सुनने में अन्तर है या नहीं** ? बहुत अन्तर है।

छल ग्रहण करना संसारी प्राणी का एक स्वभाव सा बन गया है। प्रत्येक बात में वह उलट-पुलट

करता रहता है। अपने अनुरूप अर्थ निकालना चाहता है। कलुष अभिप्राय होने से वस्तु का सही स्वरूप भी विपरीत ही दिखता है। सही आशय हो तो वस्तु भी सही स्वरूप वाली दिखाई देती है। **गोम्मट्टसार जीवकाण्ड** में **आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी** ने भी कहा है–**अजाणमाणो गुरुणियोगा** अर्थात् जिस व्यक्ति को सिद्धान्त का ज्ञान न हो वह गुरु के नियोग से तत्त्व को गुरु जैसा कहे वैसा स्वीकार करे तो वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है लेकिन यदि उसे गलत अभिप्राय से गलत ग्रहण कर लेता है और समझाने पर भी वह उसे गलत न माने तो उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यह सम्यक् और मिथ्या अभिप्राय का ही परिणाम है। इसीलिए **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने कहा कि मिथ्या अभिप्राय से छल ग्रहण मत कर लेना। इस प्रकार पञ्चम गाथा की व्याख्या पूर्ण हुई।

उत्थानिका–अब आगे शुद्धात्मा कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हुए कहते हैं–

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव ॥६॥

अन्वयार्थ–(जो दु) जो **(जाणगो भावो)** ज्ञायकभाव है–वह **(ण वि)** न ही **(अप्पमत्तो)** अप्रमत्त **(होदि)** है **(ण)** न **(पमत्तो)** प्रमत्त है **(एवं)**–इस प्रकार (उसे) **(सुद्धं)** शुद्ध **(भणंति)** कहते हैं **(च)** और **(जो णादा)** जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ **(सो दु)** वह तो स्वरूप जानने की अवस्था में भी **(सो एव)** ज्ञायक ही है।

अर्थ–जो प्रमत्त और अप्रमत्त इन दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुए है वह शुद्धात्मा है, ऐसा शुद्धनय के जानने वाले महापुरुष कहते हैं।

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध, शुद्धनय ये मद-मान-मुक्त।
ज्ञाता वही, सकल ज्ञायक यों बताते,
वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥६॥

व्याख्या–जो शुद्ध नय का अवलम्बन लेकर रत्नत्रय में लीन रहते हैं उनका कथन इस गाथा में किया गया है। शुद्धनय का विषय शुद्धात्मा है। वह न प्रमत्त है न अप्रमत्त है किन्तु वह तो ज्ञायक भाव वाला होता है। शुद्धात्मा क्या है ? इसके समाधान में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि वह तो जो है सो है। शुद्धात्मा कैसा है ? इसके उत्तर में इतना ही कहा कि वह न प्रमत्त है न अप्रमत्त, वह तो ज्ञायक स्वभाव वाला है। जैसे–स्वर्ग का सुख कैसा है ? इसे किसी से उपमित नहीं किया जा सकता। इसके बारे में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** ग्रन्थ में इतना ही कहा है–**नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव** अर्थात् स्वर्ग का सुख तो स्वर्ग के सुख के समान ही है। इसे उपमित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शुद्धात्मा कैसा है ? इसे किसी वस्तु से उपमा नहीं दी जा सकती।

एक विशेष बात है कि **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने इस गाथा में ज्ञाता और ज्ञायक शब्द का प्रयोग किया है लेकिन दृष्टा और दर्शक शब्द का प्रयोग नहीं किया ? इस जिज्ञासा के समाधान में **आचार्य श्री विद्यासागरजी** महाराज ने समाधान देते हुए कहा कि–उपयोग दो प्रकार के होते हैं–१. ज्ञानोपयोग, २. दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग साकार होता है, जबकि दर्शनोपयोग निराकार होता है। ज्ञानोपयोग स्व और पर दोनों को विषय बनाता है। दर्शनोपयोग भी स्व और पर दोनों को विषय बनाता है लेकिन इसमें विकल्प नहीं होता अर्थात् ज्ञेयाकार रूप विषय नहीं बनता। छद्मस्थ अवस्था में दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। दर्शन का विषय दृश्य है लेकिन उन विषयों में छटनी यानि पृथक्-पृथक् पहचान नहीं होती। ज्ञायक का विषय ज्ञेय है, इसमें छठनी होती है अर्थात् ज्ञेय को विशेष चिह्नों के साथ जानता है। अतः ज्ञायक कहने के उपरान्त दर्शक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है अतः दर्शन ज्ञान में अन्तर्गर्भित है। मात्र ज्ञायक ज्ञेय को जानता है, दर्शक दृश्य को देखता है। ज्ञेयों का क्लासिफिकेशन नहीं करता। चूँकि दर्शन सामान्य को ग्रहण करता है अतः उसमें किसी प्रकार की विकृति या छल नहीं होता किन्तु ज्ञान विशेष को ग्रहण करता है अतः उसमें विकृति एवं छल होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसलिए ज्ञान के साथ ही प्रमाण और अप्रमाण, अच्छा या बुरा आदि का प्रसंग आता है, दर्शन के साथ नहीं। आगे **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने स्वयं कहा है कि–**दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।** ज्ञान को दर्शन के समान बनाने का प्रयास करना आध्यात्मिक साधक की सर्वोत्कृष्ट साधना है।

ज्ञान की दर्शनवत् यात्रा–

ज्ञान के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध बनता है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें स्व और पर सभी को ज्ञेय बनाने की प्रक्रिया चलती है। दर्शन में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध नहीं होता। अनुमान, व्याप्ति, तर्क, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सभी ज्ञान के परिणमन हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, आदि भी ज्ञानोपयोग की यात्रा में हैं। यदि ज्ञान को दर्शन जैसा निर्विकल्प बनाना है तो ज्ञान की यात्रा को पीछे रिवर्स में लौटाना होगा। स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान, धारणा, अवाय, ईहा अवग्रह तक रिवर्स में आना पड़ेगा। ज्ञान की यात्रा अवग्रह तक आते-आते निर्विकल्प दर्शन जैसी हो सकती है। हालाँकि ज्ञान दर्शन रूप नहीं हो सकता और दर्शन ज्ञान रूप नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों पृथक्-पृथक् गुण हैं। एक गुण कभी दूसरे गुण रूप नहीं होता, यह वस्तु-व्यवस्था है। फिर भी ज्ञान को विकल्पजाल से उपरत बनाने के लिए ज्ञान को दर्शनवत् बनाओ ऐसा कहा। ज्ञान का जो विषय है वह ज्ञान ही बनायेगा और दर्शन के योग्य विषय को दर्शन ही विषय बनायेगा। ज्ञान का विषय दर्शन और दर्शन का विषय ज्ञान बनाये ऐसा कभी नहीं होता। छद्मस्थ अवस्था में ये दोनों एक साथ नहीं होते, इनके विषय भी कभी परिवर्तित नहीं होते। दर्शन वस्तु के सामान्य अंश को विषय बनाता है और ज्ञान विशेष को ग्रहण करता है। ज्ञान वस्तु के आभास मात्र

को ग्रहण करके निर्विकल्प रह सकता है अर्थात् 'वस्तु है' मात्र इतना जानना। क्या है ? किसकी है? कहाँ है ? क्यों है ? आदि विकल्प न करे। यही ज्ञान की निर्विकल्प यात्रा है। इस '**निर्विकल्प यात्रा में अच्छा-बुरा, राग-द्वेष, आदि अवकाश नहीं पा सकते।**' इस प्रकार का रागादि रहित निर्विकल्प ज्ञान ही केवलज्ञान की प्राप्ति में कारण होता है।

दृष्टान्त—दर्शन और ज्ञान को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे–फोटोग्राफर जब फोटो निकालता है तो सर्वप्रथम नेगेटिव बनता है बाद में पॉजीटिव। नेगेटिव फोटो में मात्र बार्डर होती है, इससे ही पॉजीटिव फोटो तैयार होती है। फोटोग्राफर आपको नेगेटिव नहीं देता। आप उसे खरीदते भी नहीं हैं। आप तो पॉजीटिव फोटो खरीदते हैं। नेगेटिव में रेखा मात्र होती है, पॉजीटिव में पूरा चित्र उभरकर आता है। ठीक इसी प्रकार दर्शन और ज्ञानोपयोग की स्थिति रहती है। नेगेटिव फोटो की तरह दर्शनोपयोग होता है और पॉजीटिव फोटो की तरह ज्ञानोपयोग होता है। जिस प्रकार नेगेटिव फोटो से ही पॉजीटिव फोटो तैयार होता है, उसी प्रकार दर्शनोपयोग जिस वस्तु की सामान्य रेखा मात्र को ग्रहण करता है, ज्ञानोपयोग उसी वस्तु के विशेष चित्र को ग्रहण करता है। दर्शन और ज्ञान की इसी सामान्य और विशेष ग्रहण की प्रक्रिया को निराकार और साकार रूप कहा है। दर्शन सामान्य निराकार रूप द्रव्य को विषय करता है उस समय ज्ञेयात्मक द्रव्य की अनुभूति नहीं होती। हो सकता है कि इसीलिए गाथा में आचार्य ने दर्शक और दृष्टा का कथन न किया हो। अत: गाथा में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने **णादा जो सो दु सो चेव** कहा है।

शुद्धात्म तत्त्व क्या है ?

शुद्धात्म तत्त्व ज्ञायक स्वरूप है। ज्ञाता कहो अथवा ज्ञायक एक ही बात है। **णादा जो सो दु सो चेव** आत्मा का इतना परिचय पर्याप्त है कि जानना और देखना आत्मा का स्वभाव है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। मुझे इस संसार में केवल ज्ञाता और दृष्टापन स्वभाव को प्राप्त करना है। शेष जितने भी वैभाविक परिणमन हैं वे प्राप्त हो जाते हैं और बिछुड़ जाते हैं। प्राप्ति और बिछुड़न के समय भी ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए। बिछुड़ते समय विचार करना कि मेरा क्या गया ? और प्राप्ति के समय चिन्तन करना कि मेरे भीतर क्या आया ? आय और व्यय का जो सही-सही विचार नहीं करता वह दिवालिया दुकानदार माना जाता है। प्राप्ति के समय जीव को आया जैसा लगता है परन्तु स्वभाव में कुछ आता नहीं और वियोग के समय गया जैसा लगता है जबकि स्वभाव से कुछ जाता नहीं। ज्ञानी के इस सम्यक् चिन्तन को एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—दर्पण के समक्ष अनेक पदार्थ आते हैं और जाते हैं। पदार्थों के आने पर दर्पण भरता नहीं और पदार्थों के जाने पर वह खाली नहीं होता। दर्पण तो जैसा था जितने परिमाण में था वैसा, उतना ही रहता है। दर्पण में पदार्थों के प्रतिबिम्ब झलकते हैं। उनको देखकर ही लोग कहते हैं कि दर्पण भर गया और दर्पण खाली हो गया। यथार्थ में तो दर्पण में कुछ आता नहीं और दर्पण से कुछ जाता नहीं

है। वस्तुओं के प्रतिबिम्ब मात्र आते हैं और जाते हैं लेकिन उनसे दर्पण का कुछ न बिगड़ता है, न सुधरता है।

जीव का स्वभाव भी दर्पण की भाँति है। शुद्धद्रव्यार्थिकनय की विवक्षा में जीव शुद्ध है **शुभाशुभपरिणामाभावात्** अर्थात् शुद्ध नय से आत्मा न शुभ रूप है, न अशुभ रूप, किन्तु शुभ-अशुभ से रहित शुद्ध स्वभाव स्वरूप है। इसी प्रकार शुद्ध नय से न वह प्रमत्त रूप है और न अप्रमत्त, किन्तु प्रमत्त-अप्रमत्त से रहित जो है सो है। वर्तमान अवस्था में यदि हम प्रमाद अथवा आलस्य करते भी जायें और अपने को प्रमाद रहित भी स्वीकार करें तो यह शुद्ध नय की विवक्षावश तो घट सकता है, वह भी स्वभाव की श्रद्धा के कारण। लेकिन अशुद्ध नय या व्यवहारनय की दृष्टि से प्रमाद को भी स्वीकार करना होगा। हाँ, यह बात अलग है कि प्रमाद जीव का स्वभाव नहीं है। जब अप्रमत्त रहना भी जीव का स्वभाव नहीं है तो प्रमाद तो जीव का स्वभाव कभी हो ही नहीं सकता।

यदि हम उपदेश से अपने में अच्छाई को आरोपित करना चाहते हैं तो बुराई का भी ध्यान रखना पड़ेगा, क्योंकि **सत्ता सप्पडिवक्खा** ऐसा **पञ्चास्तिकाय** ग्रन्थ में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने कहा है। द्रव्य किसी विवक्षा से शुद्ध है तो किसी विवक्षा से अशुद्ध भी सिद्ध होता है। प्योर है तो इम्प्योर भी है। अस्ति है तो नास्ति भी है। जैसे-'मैं हूँ' यह कहना भी एक प्रकार से ''तुम नहीं हो'' इस नास्ति कथन को सिद्ध करता है। यह सही भी है कि ''मैं जीव हूँ, अजीव नहीं'' इस प्रकार का कथन सत्ता सप्रतिपक्ष हो तभी घटित होता है। सप्रतिपक्ष सत्ता के बिना शुद्धाशुद्ध की परिकल्पना भी समाप्त हो जाती है। दो के बीच भेद-कथन में ही छोटा-बड़ा, बुद्धिमान-मूर्ख, नया-पुराना आदि व्यवहार घटित होते हैं। ''मैं सुखी हूँ'' इसका मतलब ही यह है कोई दूसरा दुःखी है अथवा मैं ही कभी दुःखी था या दुःखी हो जाऊँगा।

उक्त समस्त कथन सामान्य ग्रहण की दृष्टि से नहीं होते किन्तु विशेषग्राही नय की दृष्टि से ही घटित होते हैं। सामान्य कथन में तो ''जो है सो है'' इतना कहना पर्याप्त है। सामान्य कथन में आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त। प्रथम गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक प्रमत्त है और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक अप्रमत्त विशेषण है। आत्मा गुणस्थानातीत है अतः न प्रमत्त है, न अप्रमत्त। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक मात्र है। केवलज्ञान की धारा में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आती। किसी भी पदार्थ को देखो तो, वह पदार्थ भले ही भिन्न देखने में आता है लेकिन देखने वाला तो एक अभिन्न द्रव्य ही रहता है। आत्मा में ज्ञान के द्वारा जानने की प्रक्रिया हमेशा चालू रहती है।

जिज्ञासा—सिद्ध परमेष्ठी तो हमेशा सिद्धत्व स्वरूप रहते हैं उनमें उत्पाद, व्यय कैसे घटित होता है ? ज्ञेयों में उत्पाद, व्यय होता है पर सिद्धों में कैसे ?

समाधान—ज्ञेयों में उत्पाद, व्यय रूप परिणमन होता है, चूँकि वे ज्ञेय उनके ज्ञान के विषय बनते हैं तो तज्जन्य उत्पाद व्यय सिद्धों के ज्ञान में भी स्वीकार किया जाता है। दूसरी दृष्टि से देखें तो

सिद्धों में अगुरुलघु गुण द्वारा षड्गुणी हानि-वृद्धि स्वरूप स्वभाव अर्थ पर्याय होती है। उसके द्वारा उनमें प्रतिसमय उत्पाद व्यय रूप परिणमन होता है। तृतीय विवक्षा से भी उनमें उत्पाद व्यय घटित होता है। वह विवक्षा है कि संसार दशा का अभाव और मुक्त दशा का प्रादुर्भाव। जीवत्व ज्यों का त्यों बना रहता है। इस प्रकार उक्त तीनों विवक्षाओं की दृष्टि से सिद्ध परमेष्ठी में उत्पाद व्यय होते हुए भी सिद्धत्व शाश्वत बना रहता है। वे शाश्वत रूप से ज्ञायक स्वभाव युक्त रहते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी अनन्त हैं। शब्द संख्यात हैं। शब्दों के द्वारा हम सिद्ध परमेष्ठियों का स्मरण करेंगे तो हजार की संख्या से आगे नहीं बढ़ पायेंगे। समस्त सिद्धों का पृथक्-पृथक् शब्दों, संज्ञाओं से स्मरण नहीं कर सकते। सिद्ध बनने के बाद कहाँ किसका नाम रह जाता है। अनन्त चौबीसी हो चुकीं, हमें तो भूत, वर्तमान, भविष्य तीन चौबीसी के भी नाम स्मरण में नहीं है। इस प्रकार चिन्तन करके अपनी ख्याति, प्रसिद्धि चाहने के भाव को छोड़ देना चाहिए। हमारा ज्ञान कितना संकीर्ण है (स्वल्प है) फिर भी हमारा अभिमान कितना विशाल सम्राट् स्वरूप है। यह मान कषाय की विशेषता है। इस कषाय से उपरत होने का प्रयास करना चाहिए। जैसे-जैसे कषाय कम होती जायेगी, वैसे-वैसे ज्ञान विशुद्ध होता चला जायेगा। यही विशुद्ध ज्ञान एक दिन साधक को केवलज्ञान प्राप्ति में कारण बनता है।

वस्तु को जानने की क्षमता का नाम ज्ञान है। कोई कितना भी जाने, एक अक्षर भी जाने तो भी जानना तो माना जायेगा, चूँकि जानना जीव का त्रिकाल लक्षण है, यह कभी मिट नहीं सकता। निगोद अवस्था में अक्षर का अनन्तवाँ भाग मात्र ज्ञान होता है। वह अविनश्वर होता है, उसे कोई मिटा नहीं सकता। वह नित्य उद्घाटित और निरावरण होता है। निरावरण है इसलिए क्षायिक है ऐसा नहीं समझना। निरावरण का अर्थ इतना ही है कि ज्ञान के घटने की सीमा यहाँ तक है, इस अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान को आवरित नहीं किया जा सकता। किसी भी अवस्था में इससे कम ज्ञान नहीं हो सकता। इतना तो ज्ञान बना ही रहता है।

इस प्रकार 'समयसार पीठिका' में स्वतंत्र रूप से छह गाथाओं का '**प्रथम स्थल**' समाप्त होता है।

उत्थानिका—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव के प्रमत्ताप्रमत्त आदि विकल्प नहीं हैं। इस विषय को स्पष्ट किया। आगे बताते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी नहीं है। प्रमत्त, अप्रमत्त शब्द द्रव्य वाचक हैं और दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणवाचक शब्द हैं। यह सब व्यवहारनय से जीव के हैं निश्चय से नहीं। आगे इसी विषय का स्पष्टीकरण किया जाता है।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धा ॥७॥

अन्वयार्थ—**(णाणिस्स)** ज्ञानी के **(चरित्त-दंसणं-णाणं)** चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीन भाव **(ववहारेण)** व्यवहार से **(उवदिस्सदि)** कहे जाते हैं, निश्चयनय से **(ण वि णाणं)** न ही ज्ञान है, **(ण**

चरित्तं) न चारित्र है **(ण दंसणं)** न दर्शन है वह तो **(जाणगो)** ज्ञायक **(सुद्धो)** शुद्ध भाव है।

अर्थ—व्यवहारनय अभेद में भेद करके बताने का है। इसके द्वारा ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र पृथक्-पृथक् उपदेशित होते हैं, किन्तु निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र पृथक् न होकर उन सबसे समाविष्ट एक केवल ज्ञायक शुद्धात्मा ही है।

विज्ञान औ चरित दर्शन विज्ञ के हैं,
जाते कहे सकल ये व्यवहार से हैं।
ज्ञानी परन्तु यह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥७॥

व्याख्या—एकत्व निश्चयनय का विषय होता है तो 'अनेकत्व' व्यवहारनय का विषय होता है। निश्चयनय से जीव के प्रमत्तादिक भाव नहीं होते उसी प्रकार भेदस्वरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र जीव का स्वभाव नहीं है। जैन दर्शन में किसी भी विषय का कथन गौण मुख्य विवक्षा से होता है। कभी द्रव्य मुख्य होता है तो गुण गौण रहते हैं और जब गुण मुख्य होते हैं तो द्रव्य गौण होता है। कभी भेद गौण होता है तो कभी अभेद गौण होता है। सामान्य विशेष, निश्चय व्यवहार भेद-अभेद, गौण-मुख्य आदि कथन के भेद हैं। पाठक का जिस ओर झुकाव है उसे तो वह स्वीकार कर ही रहा है लेकिन जिस ओर उसका झुकाव नहीं है, उस विषय के बारे में जानकारी देना यह वक्ता का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। इसी को **वक्तुः इच्छा विवक्षा** बोलते हैं। वक्ता की विवक्षा का यह अर्थ नहीं है कि वक्ता जैसे चाहे वैसे अपनी इच्छा व्यक्त करे। बल्कि सामने वाले श्रोता को देखकर आगमानुसार कथन करना वक्ता की इच्छा विवक्षित होती है। श्रोता को जो बात स्वीकृत है वह तो है ही लेकिन अज्ञान के कारण उसे जो पहलू ज्ञात नहीं है उसे बतलाने का प्रयास आवश्यक होता है।

जिस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से प्रमत्तादि जीव के नहीं हैं। ये तो चौदह गुणस्थान सम्बन्धी भाव जीव के व्यवहारनय से कहे गये हैं क्योंकि ये जीव के शुद्ध स्वभाव नहीं हैं। उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि विकल्प (भेद) भी जीव के व्यवहारनय से हैं, निश्चयनय से नहीं हैं क्योंकि निश्चयनय अभेद रूप कथन करता है।

व्यवहारनय के भेद—

व्यवहारनय दो प्रकार का है—दो पदार्थों की मिश्रण रूप संयोगी अवस्था में एक का व्याख्यान करने वाला। जैसे—घी अलग है, घड़ा अलग है लेकिन जिस घड़े में घी रखा है उसे घी का घड़ा कहना। अथवा शरीर अलग है और आत्मा अलग है लेकिन संयोगी अवस्था में दोनों एकमेक दिख रहे हैं। शरीर में आत्मा का अस्तित्व होने से शरीर को देखकर कथंचित् आत्मा या आत्मा का शरीर कह देना, किन्तु दूसरा व्यवहार वह है जो भेद व्यवस्थापक होता है। वह अखण्ड आत्म प्रदेशों में रहने वाले गुणों का भेदपरक कथन करता है। वह भूतार्थ होता है। उसमें किसी भी प्रकार का उपचार स्वीकृत नहीं होता।

वह अभूतार्थ नहीं होता। फिर भी व्यवहार क्यों है ? क्योंकि अभेद में भी भेद का कथन करता है। जैसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र शुद्ध जीव में अभेद रूप ही हैं फिर भी भेदरूप पृथक्-पृथक् कथन करना कि जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों हैं। इस बात को एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

जैसे-एक व्यक्ति है उसके अभेद शरीर में यह उसका बाँया हाथ है, यह दाँया हाथ है, वो पैर हैं, ये नासिका है, कर्ण हैं, आँखें हैं, उदर है, पृष्ठभाग है इत्यादि रूप कथन करना भेदपरक कथन करने वाला व्यवहारनय है, सत्यार्थ है, किन्तु दो के मिश्रण में एक का कथन करने वाला व्यवहार कथंचित् झूठा हो सकता है। लेकिन एक द्रव्य के आधारभूत अनन्त गुण पर्यायों का पृथक्-पृथक् कथन करने वाला व्यवहार झूठा नहीं होता, असत्य नहीं होता, औपचारिक भी नहीं होता, क्योंकि वह भी वस्तु स्थिति का ही भेदपरक कथन करता है। जब भेद कथन को गौण किया जाता है तो अभेद कथन मुख्य होता है जिसका कथन निश्चयनय के द्वारा होता है। स्याद्वाद शैली से जब कथन होता है तो एक नय मुख्य होता है दूसरा गौण होता है, वह अभाव रूप नहीं होता। जैसा कि **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने **बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र** में 'श्री श्रेयोनाथ' भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि-**विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो, गुणो विवक्षो न निरात्मकस्ते** अर्थात् जो विवक्षित होता है वह मुख्य होता है, जो अविवक्षित होता है वह गौण होता है लेकिन निरात्मक नहीं होता। मुख्य का अर्थ है प्रासंगिक और गौण का अर्थ है अप्रासंगिक। **आचार्य उमास्वामी** जी ने अर्पित, अनर्पित भी कहा है। वक्ता की विवक्षा के अनुसार मुख्य-गौण की व्यवस्था बनती है। जो प्रासंगिक हो, समयोचित हो वह विवक्षित या अर्पित होता है इसके विपरीत अनर्पित या अविवक्षित कहलाता है। इनमें जो मुख्य है वह सत्य है, जो गौण है वह असत्य है, ऐसा नहीं समझना। यदि ऐसा माना जायेगा तो जिस समय गुण मुख्य होंगे तो द्रव्य, पर्याय का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा और जिस समय द्रव्य या पर्याय मुख्य होंगी तो गुण का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। जबकि कभी भी द्रव्य के बिना गुण-पर्याय नहीं रहते और गुण-पर्याय के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं होता। जैसे-धन के बिना धनी का अस्तित्व नहीं होता। यहाँ धनी शब्द में इन् प्रत्यय स्वामी के अर्थ में है अर्थात् जो अपेक्षा से अधिक धनवाला होता है उसे धनी कहा जाता है। धन का स्वामी धनी, गुणों का स्वामी गुणी कहलाता है।

द्रव्य गुणी बन सकता है लेकिन गुण कभी भी गुणी नहीं बन सकते। **आचार्य उमास्वामी** जी ने **तत्त्वार्थसूत्र** में गुण को परिभाषित करते हुए लिखा है-**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः** अर्थात् गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं लेकिन गुण किसी दूसरे गुण को आश्रय नहीं देते इसलिए गुण निर्गुण कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान गुण हमेशा मात्र ज्ञान गुणमय होता है ज्ञान कभी दर्शन गुण को आश्रय नहीं देता। यदि एक गुण भी दूसरे गुण को आश्रय दे दे तो वह गुण नहीं कहलायेगा द्रव्य कहलायेगा क्योंकि आश्रय देने वाला तो द्रव्य होता है और गुण निर्गुण लक्षण वाला होता है। जबकि द्रव्य गुण-पर्याय वाला होता है। **तत्त्वार्थ-सूत्र** में कहा ही है-**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**। यदि एक गुण दूसरे गुण को आश्रय

देगा तो वह उसका अवगुण माना जायेगा। अवगुण होने पर गुण का लक्षण 'निर्गुण' घटित नहीं होगा। इसी तरह द्रव्य में पर्याय है लेकिन पर्याय में पर्याय भी नहीं और द्रव्य गुण भी नहीं होते। द्रव्य और गुण में पर्याय होती है लेकिन पर्याय में पर्याय नहीं हो सकती। द्रव्य के बिना पर्याय का अस्तित्व नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं होता। जैसा कि **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने **पञ्चास्तिकाय** ग्रन्थ में इसी परिप्रेक्ष्य में दो गाथायें लिखी हैं–

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ताय पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥

इसी तरह गुण के बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य के बिना गुणों का अस्तित्व नहीं, इस विषय को भी एक गाथा द्वारा स्पष्ट किया है–

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥१३॥

अर्थात् पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होतीं। दोनों में अनन्यपना है ऐसा श्रमणों ने प्ररूपित किया है। द्रव्य बिना गुण नहीं होते, गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता इसलिए द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्त भाव (अभिन्नपना) है। इसी प्रकार व्यवहारनय की देशना में सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र आत्मा के हैं लेकिन निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद रूप नहीं है किन्तु तीनों के अभेद रूप ज्ञायक स्वभावी है। व्यवहारनय की अपेक्षा एक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से अनन्त गुण पृथक्-पृथक् स्वीकार नहीं किए जाते, क्योंकि **भेदको व्यवहारः अभेदको निश्चयः** अर्थात् भेद करने वाला व्यवहारनय है और अभेद को विषय करने वाला निश्चयनय होता है। इसीलिए **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने इस गाथा में **ववहारेणुवदिस्सदि** कहा है। गाथा के पूर्वार्ध में व्यवहारनय एवं उत्तरार्ध में निश्चयनय की दृष्टि से उपदेश दिया गया है।

विशेष चिन्तन–

आत्म द्रव्य अनन्त शक्तिवाला है। उन शक्तियों के माध्यम से आत्मा कार्य करता है। जैसे आत्मा ज्ञान गुण के द्वारा जानता है, दर्शन के द्वारा देखता है। बिना द्रव्य के शक्तियाँ कोई कार्य नहीं करतीं। वैसे तो बिना द्रव्य के इन शक्तियों का अस्तित्व ही नहीं होता लेकिन अन्य मतावलम्बी जैसे–द्रव्य को, गुण को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा अलग है और ज्ञान गुण अलग है। आत्मा से पृथक् ज्ञान जानने की क्रिया स्वतन्त्र रूप से नहीं करता इसीलिए आत्म द्रव्य के साथ ज्ञान का समवाय सम्बन्ध करके आत्मा को ज्ञान गुण सहित करते हैं पश्चात् 'आत्मा जानता है' ऐसा स्वीकार करते हैं। लेकिन आत्मा किसके द्वारा जानता है ? इसके समाधान में आत्मा ज्ञान गुण के द्वारा जानता है। ऐसा सभी मानते हैं। जैन दर्शन में द्रव्य के बिना गुण और गुण के बिना द्रव्य पृथक् रूप से स्वीकार नहीं किया गया अतः बिना समवाय के आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है ये सिद्ध ही है। चूँकि

कर्त्ता स्वतन्त्र होता है **स्वतन्त्रः कर्त्ता** यह कहा है। द्रव्य हमेशा स्वतन्त्र होकर कार्य करता है षट्कारकों में कर्त्ता कारक स्वतन्त्र होता है शेष कारक उसके सहयोगी होते हैं। गुण कथञ्चित् स्वतन्त्र भी होते हैं कथञ्चित् परतन्त्र। चूँकि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं अतः पराश्रित हैं। पर्याय भी इसी प्रकार है। पर्याय भी कर्त्ता नहीं हो सकती। पर्याय स्वयं द्रव्य का परिणाम है। परिणाम कभी परीक्षा देने वाला नहीं हो सकता। फल का कोई फल नहीं होता किन्तु वृक्ष का फल होता है। बीज का फल होता है। इसी तरह गुण और पर्याय द्रव्य के आश्रित हैं, द्रव्य के परिणाम हैं। द्रव्य के स्वतन्त्र परिणमन की शक्ति को कोई छीन नहीं सकता। अनन्त गुण और पर्यायें मिलकर भी द्रव्य की परिणमन करने की शक्ति को छीन नहीं सकतीं। अन्य अनन्त द्रव्य मिलकर भी परिणमन शक्ति को समाप्त नहीं कर सकते। द्रव्य की यह परिणमन शीलता स्वाधीन है अनादिकाल से है अनन्तकाल तक रहेगी।

उदाहरण—हम पेन से लिखते हैं। पेन अच्छा लिखता है यह एक व्यवस्था है, मेरी आँख बहुत अच्छा देखती है। आप सो जायें तो भी आँख देखती है क्या ? आपका पेन अच्छा लिखता है तो हमेशा चलता है क्या ? पेन स्वयं चलता है लेकिन लिखने वाले का इशारा हो तो ही चलता है, बिना इशारे के कभी नहीं चलता। इसी तरह आँख से जब आप देखना चाहेंगे तभी देखेगी अन्यथा सोते समय भी देखना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता। देखने और लिखने आदि की सभी क्रियायें उपयोग साथ में नहीं हो तो नहीं होती अर्थात् चेतन द्रव्य का आर्डर न हो तो देखने-जानने की क्रिया नहीं होती। यदि उपयोग चूक जाए तो पेन तो क्या लिखने वाला हाथ भी लिखते-लिखते रुक जायेगा। अतः करने वाला कर्त्ता कारक स्वतन्त्र होता है। द्रव्य स्वतन्त्र होता है। वैयाकरणों ने भी ऐसी ही व्यवस्था की है कि कर्त्ता स्वतन्त्र होता है शेष कारक स्वतन्त्र नहीं होते।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी **स्वयम्भूस्तोत्र** में श्री विमलनाथ की स्तुति करते हुए लिखा है कि-

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्यशेषं स्वसहायकारकम्।
तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥२॥

अर्थात् हे विमलनाथ भगवन्! आपको गौण-मुख्य विधियुक्त नय प्ररूपणा इष्ट है, क्योंकि **परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः** परस्पर अपेक्षा रखने वाले नय स्वपरोपकारी होते हैं। किस प्रकार ? जिस प्रकार एक-एक कारक अपनी सहायता करने वाले अन्य कारक की अपेक्षा करके कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ होता है। **करोतिक्रियां निर्वर्तयतीति कारकं** अर्थात् जो क्रिया को करता है उसे कारक कहते हैं। कर्त्ता, कर्म, करण आदि के भेद से कारक अनेक प्रकार का होता है। **यः करोति सः कर्त्ता** जो करता है वह कर्त्ता है। **यत्क्रियते तत् कर्म** जो किया जाता है वह कर्म है। **येन क्रियते तत् करणं** जिसके द्वारा किया जाता है वह करण कहलाता है इत्यादि। ये सभी कारक अपने सहायक अन्य कारक की अपेक्षा रखकर ही कार्य करने में समर्थ होते हैं निरपेक्ष रहकर नहीं।

इसी प्रकार आँख और हाथ, पेन, इत्यादि सभी की सहायता से उपयोग कार्य करने में समर्थ होता है। लेखक प्रमुख कारक है और लेखन कार्य में जो अनेक सहयोगी कारण हैं उन्हें भी कथंचित् कारक कहा जाता है। जिन्हें निमित्त भी कह सकते हैं। हमेशा उपादान एक होता है और निमित्त अनेक होते हैं। जो कार्य रूप में ढलता है वह उपादान माना जाता है तथा कार्य रूप ढलते समय जो सहयोगी होते हैं वे निमित्त कहलाते हैं। उपादान और निमित्त इनमें भेदकथन करने वाला व्यवहारनय होता है। इसी व्यवहारनय की विवक्षा से जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र का कथन किया गया है। निश्चयनय की विवक्षा में उपादान व निमित्त में भेद कथन नहीं होता अतः आत्मा को ज्ञायक मात्र स्वीकार किया है। यदि व्यवहारनय के विषयभूत दर्शन, ज्ञान, चारित्र को स्वीकार नहीं करेंगे तो मोक्षमार्ग क्या है ? इसका उत्तर क्या होगा ? अतः व्यवहारनय से आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र वाला है यह भी स्वीकार करना ही होगा। लेकिन जिस समय साधक निश्चयनय का आलम्बन लेता है, निर्विकल्प समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग में पहुँच जाता है उस समय मात्र ज्ञायक स्वरूप आत्मतत्त्व की अनुभूति करता है।

निश्चय और व्यवहारनय को समझने हेतु–

दृष्टान्त–जैसे–आपके पास टॉर्च है। उसका स्विच ऑन करने पर सामने प्रकाश आ जाता है। टॉर्च के फोकस को जब आप नियरेस्ट बनाते हैं तो बीच में रिक्त स्थान नहीं रहता अर्थात् उतने पूरे स्थान में प्रकाश रहता है और यदि आप फोकस को थोड़ा दूर तरफ बनाते हैं तो बीच में गोलाकार रूप प्रकाश नहीं रहता किन्तु इधर-उधर फैला रहता है। इस प्रकार टॉर्च के फोकस को ढीला और चुस्त करते रहते हैं तो पास और दूर की वस्तु को देखने का कार्य होता रहता है। अब यदि उसका फोकस निकाल दो, काँच को भी निकाल दो, उसके फोकस के सभी पार्टस् को निकाल दो, केवल बल्ब लगा रहने दो? फिर उसका स्विच ऑन करो। फिर देखो क्या होता है ? मात्र प्रकाश ही प्रकाश रहता है। इस समय आप वस्तु को किसी फोकस या एंगल से नहीं देख सकते। केवल प्रकाश ही प्रकाश दिखता है। उसके इर्द-गिर्द स्थान भी प्रकाशित रहता है। यदि उसके ऊपर कोई रंग-रोगन नहीं है तो आप अभेद रूप स्थिति का अवलोकन कर सकते हैं।

इसी तरह निश्चयनय ज्ञाता-दृष्टा, ज्ञायक आत्मतत्त्व को अभेद के साथ जानता है वहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि के समस्त फोकस और एंगल समाप्त हो जाते हैं। केवल एक जलते हुए बल्ब की भाँति अभेदमय ज्ञायक तत्त्व को जानता है। यदि बल्ब के ऊपर का काँच भी निकाल दें तो और अधिक अभेद की ओर पहुँच जायेंगे। जब तक हम व्यवहार की दृष्टि में चलते हैं तब तक ही एंगल युक्त पदार्थ को आकार-प्रकार देते हैं। अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप एंगल युक्त दिखती है लेकिन जब निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय में चले जाते हैं तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि के समस्त एंगल, सारे के सारे फोकस उतार दिये जाते हैं केवल ज्ञायक स्वरूप आत्मतत्त्व रूपी बल्ब रह जाता है उस समय केवल प्रकाश ही प्रकाश का अनुभव होता रहता है। नीचे टॉर्च है या नहीं इसका

भी बोध नहीं होता।

भेद-अभेद की दृष्टि को अन्य उदाहरणों से भी समझा जा सकता है। जैसे-ऑपरेशन थियेटर में सिविल सर्जन स्वयं किसी रोगी का ऑपरेशन कर रहा है, उसके लिए अन्य आठ-दस सहयोगी सहयोग दे रहे हैं। उस समय सहयोगियों की ओर देखें तो ऑपरेशन करने वाले आठ-दस की संख्या में दिखते हैं। सिविल सर्जन की ओर देखेंगे तो ऑपरेशन करने वाला एक ही दिखेगा। अन्य समस्त सहयोगी गौण हो जाते हैं। उस समय वे सभी हमारी दृष्टि में नहीं आते। चूँकि सिविल सर्जन प्रमुख होता है अतः अभेद रूप से एक डॉक्टर ने ऑपरेशन किया ऐसा कथन में आता है। इसी प्रकार अभेद दृष्टि में ज्ञायक आत्मा प्रमुख होता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र गौण हो जाते हैं। एक और प्रयोगात्मक उदाहरण से इस विषय को स्पष्ट किया जा सकता है।

जैसे-मन्दिर के फर्श प्रायः संगमरमर के बने होते हैं। जब आप मन्दिर में जाते हैं तो देखते हैं कि मन्दिर के फर्श पर एक काला और एक सफेद टाइल्स की क्रमशः एक पट्टी बनी है। वहाँ पर आप यदि काले रंग के टाइल्स के ऊपर दृष्टि को थोड़ी देर तक एकाग्र करके देखते हैं तो देखते-देखते सफेद टाइल्स भी काले रूप में परिवर्तित हुए जैसे दिखते हैं। तथा यदि आप अपनी दृष्टि को सफेद टाइल्स पर एकाग्र करके देखते हैं तो काले टाइल्स भी कुछ समय में सफेद रंग में परिवर्तित जैसे दिखने लगते हैं। अब देखो! वर्तमान में आपकी दृष्टि एक पर स्थिर हो गई तो सफेद भी काले और काले भी सफेद रूप में दिखने लगते हैं ऐसा क्यों होता है ? एकाग्रता के कारण होता है। इसी प्रकार जब हम मात्र आत्मा की ओर अभेद दृष्टि से देखने लग जायें तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि समस्त गुणभेद गौण हो जाते हैं और जब आत्मा को भेद दृष्टि से देखेंगे तो आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र वाला दिखाई देता है।

एक और उदाहरण है कि जैसे-भगवान् की वेदी में भगवान् की मूर्ति के अतिरिक्त बहुत सारा परिकर रहता है लेकिन जब हमारी दृष्टि भगवान् की ओर होती है तो अन्य समस्त परिकर गौण हो जाता है। भगवान् की मूर्ति की प्रमुखता होने से मात्र वही देखने में आती है। अर्थ यह है कि दृष्टि में जिस पार्ट को हाईलाइट करते हैं तो वह अच्छी तरह दिखता है। जैसे टॉर्च के फोकस से किसी भी वस्तु के जिस पार्ट को हाईलाइट करते हैं तो वह अच्छी तरह दिखने लगता है। भेद-अभेद नय दृष्टि में भी ऐसा ही होता है। मुख्य पार्ट हाईलाइट में होगा तो शेष सभी पार्टस् डिम लाइट में आ जाते हैं। जब भेद दृष्टि मुख्य होती है तो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय आत्मा विषय बनता है। अभेद दृष्टि में दर्शन, ज्ञान, चारित्र गौण हो जाते हैं, ज्ञायक स्वरूप आत्मा प्रमुख विषय होता है। गुणों की ओर देखने से वस्तु विस्तृत दिखती है। जैसे-आत्मा ज्ञान गुण युक्त है। वह ज्ञान गुण मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान पर्यायरूप है। मतिज्ञान ३३६ भेद वाला है, श्रुतज्ञान भी अनेक भेदयुक्त है, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान भी भेद युक्त हैं। ये समस्त भेद ज्ञान गुण की पर्याय रूप हैं। लेकिन केवलज्ञान भेदयुक्त

नहीं है। सामान्य ज्ञान गुण की दृष्टि से देखें तो उसमें पर्याय भेद गौण हो जाता है। अतः निगोद दशा में भी ज्ञान है, त्रस अवस्था में भी है, केवली भगवान् के पास भी ज्ञान है। इन सभी में ज्ञान सामान्य अभेद दृष्टि से है। लेकिन भेद दृष्टि से किसी को मतिज्ञान है, किसी को श्रुतज्ञान है, किसी को अवधिज्ञान, मनःपर्यय या केवलज्ञान है। ऐसा कथन किया जाता है। सामान्य ज्ञान धारा त्रैकालिक है।

ज्ञान स्वाश्रित है या पराश्रित–

सामान्य ज्ञान धारा स्वाश्रित है, त्रैकालिक है लेकिन विशेष (भेद) की ओर देखें तो मतिज्ञान आदि चारों क्षायोपशमिक ज्ञान तो पराश्रित है ही, क्योंकि मतिज्ञान की उत्पत्ति में मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ-साथ इन्द्रिय और मन भी सहयोगी होते हैं। शेष तीनों ज्ञानोत्पत्ति में भी तत्-तत् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की आवश्यकता होती है। छद्मस्थावस्था में दर्शन पूर्वक ज्ञान का होना यह भी एक प्रकार की पराश्रितता है। अतः मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है। अवधिज्ञान में अवधिदर्शन की पराश्रितता होती है और मनःपर्यय ज्ञान भी ईहामतिज्ञान पूर्वक होता है अतः वह भी पराश्रित है। इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था में होने वाले चारों ज्ञान पराश्रित हैं। केवलज्ञान में चूँकि दर्शन की पराश्रितता नहीं है, क्योंकि केवली अवस्था में केवलदर्शन और ज्ञान युगपत् होते हैं। लेकिन फिर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति में भी केवलज्ञानावरण कर्म (निमित्त) का क्षय होना अनिवार्य है। जब तक केवलज्ञानावरण कर्म का क्षय नहीं होता तब तक केवलज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती अतः कथञ्चित् केवलज्ञान भी पराश्रित है। क्षायिक भाव भी स्वभाव नहीं होता ऐसी घोषणा करने का साहस आचार्य कुन्दकुन्ददेव जैसे ही कर सकते हैं, उसको हजम करने वाले भी ऐसे ही होना चाहिए। केवलज्ञान को भी पर्याय स्वरूप कहा है। पर्याय त्रैकालिक नहीं होती। सामान्य गुण त्रैकालिक होता है। त्रैकालिक को विषय बनाने से द्रव्यदृष्टि कहलाती है। द्रव्यदृष्टि में अस्थिरता समाप्त हो जाती है, स्थिरता मुख्य रहती है। अस्थिरता समाप्त करने के लिए अध्यात्म में दर्शन ज्ञान, चारित्र इत्यादि को गौण करके और स्थिरता लाने के लिए द्रव्यदृष्टि के विषयभूत ज्ञायक आत्मा पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता होती है।

नयात्मक दृष्टिकोण से दर्शन, ज्ञान, चारित्र की व्याख्या–

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने व्यवहारनय से आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं, ऐसा कहा है। शुद्ध निश्चयनय से ये आत्मा के नहीं हैं। शुद्ध निश्चय से आत्मा ज्ञायक मात्र है। इसको पूर्व में व्याख्यायित किया जा चुका है। आचार्य श्री पुनः यहाँ कह रहे हैं कि सद्भूत व्यवहारनय की विवक्षा में ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं। शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा में वे असद्भूत हो गये आगे **ववहारोभूदत्थो** इस गाथा को लेकर विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा। आगे व्यवहार को असद्भूत कहा जायेगा। निश्चय में दर्शन, ज्ञान, चारित्र जीव के हैं ही नहीं ऐसा मंजूर है क्या ? यदि निश्चय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र को

स्वीकार ही नहीं करेंगे तो निश्चय मोक्षमार्ग जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के एकत्व स्वरूप हैं वह सिद्ध नहीं होगा। पूर्वापर विवक्षा से आचार्यों का कथन होता है हमें भी पूर्वापर विवक्षाओं का ध्यान रखना चाहिए। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाला है। इसकी अनुभूति के लिए पाँचों इन्द्रियाँ को बन्द करो। आँखें बन्द कर लो, कानों में उपयोग मत ले जाओ, नासिका पर भी ध्यान मत दो, जिह्वा इन्द्रिय को सुप्त कर दो, स्पर्शन इन्द्रिय से कह दो कि अब विराम ले लो। बस पाँचों इन्द्रियों से उपयोग का जो सम्पर्क सूत्र था वह समाप्त कर दिया। अब हमारा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। ज्ञानी अपना परिचय, अपना सम्पर्क अपने आप में रखता है। ज्ञानी अपना वास्तविक परिचय प्राप्त करता है।

जिज्ञासा—निश्चय से यदि कोई यह स्वीकार करता है कि मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो मात्र एक ज्ञान स्वभावी आत्मतत्त्व हूँ तो फिर उसका कोई सहयोगी नहीं बनेगा ?

समाधान—आत्मतत्त्व पर श्रद्धान करने वाला ज्ञानी विचार करता है कि यदि कोई किसी का सहयोगी है तो वह शरीर का सहयोगी है। आत्मतत्त्व तो एकत्वस्वरूप है। उसका कोई सहयोगी नहीं होता उसे किसी के सहयोग की आवश्यकता भी नहीं होती अतः यदि उसका कोई सहयोगी नहीं बनता तो विकल्प नहीं करता और यदि कोई सहयोगी है भी तो विचार करता है कि ये सभी सहयोगी व्यवहारनय से बाह्य निमित्त मात्र हैं। उपादान स्वरूप तो मैं अकेला आत्मरूप ही हूँ। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व अनुप्रेक्षा का चिन्तन करके अपने ज्ञान को समाधानशील बनाता है।

ज्ञानी का प्रत्येक समय, प्रत्येक परिस्थिति में आत्मतत्त्व की ओर ध्यान रहता है। शरीर में लकवा लगने के बाद भी भीतर मैं हूँ इस प्रकार की प्रतीति रहती है। भले ही बाहर की इन्द्रियाँ गायब हो जायें, वे अपना कार्य करना छोड़ दें तो भी अहं प्रत्यय की प्रतीति रहती है। गूंगे के गुड़ के स्वाद के समान उसकी प्रतीति को कोई मिटा नहीं सकता। कई लोग मेरे पास आकर कहते हैं कि महाराज ! हम सो भी जाते हैं तो भी आत्मतत्त्व की प्रतीति बनी रहती है। इसी का नाम ज्ञान है। दिन की अपेक्षा रात्रि में शान्त एकान्त वातावरण रहता है। चार पाँच वर्ष पूर्व की बात है कि रूस के एक लेखक ने परीक्षण किया चार-पाँच प्रतिभा सम्पन्न बच्चों का चयन करके उन्हें अच्छी तरह स्वयं ने दिन में पढ़ाया। इसके उपरान्त उनको रात्रि में मशीन के माध्यम से पढ़ाया गया। परीक्षण किया तो परिणाम यह आया कि दिन में अध्ययन करने वाले परिणाम से रात्रि में अध्ययन का परिणाम अच्छा आया। इसका कारण स्पष्ट ही है कि रात्रि में बाधक तत्त्व की कमी होने से उपयोग शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। कम समय में अधिक कार्य हो जाता है। इसी प्रकार चेतनात्मक अनुभूति उसी को होती है जो निर्विकल्प होकर अभेद की साधना करता है। अभेद की साधना बाहर के सम्पर्क सूत्र समाप्त होने पर होती है। व्यवहार में सम्पर्क सूत्र बहुत रहते हैं। निश्चय में उन सबसे विराम लेना अनिवार्य होता है तभी आनन्द की अनुभूति होती है। पाँचों इन्द्रियों के विषय समाप्त हो जायें, मन भी नियन्त्रित हो जाये, इच्छा शक्ति

पर संयम हो जाये तो राग-द्वेषादि वैभाविक विचार भी समाप्त हो जाते हैं। आत्मा में राग-द्वेष नहीं होते तभी आत्मतत्त्व की प्रतीति की भूमिका निर्मित होती है। पञ्चेन्द्रियों के विषयों के प्रति अनास्था भाव हो जाये तो तत्सम्बन्धी आकुल-व्याकुल परिणाम भी समाप्त हो जाते हैं।

जिज्ञासा—यदि कोई आत्मतत्त्व को नहीं जानता तो आप क्या करोगे ?

समाधान—महाराज ! मैं तो यही चाहता हूँ कि सभी को आत्म ज्ञान प्राप्त हो जाये।

किसी भी तरह निश्चय या व्यवहार की अपेक्षा आत्मतत्त्व के स्वरूप को समझ जाये। मैं तो उससे कहूँगा कि आत्मज्ञान को प्राप्त करने का उपाय करो। फिर भी यदि वह कहता है कि आप ही आत्मज्ञान प्राप्त कर लो मुझे नहीं करना। मुझे इतना धर्म नहीं करना। अब क्या करें ? उसका उपादान ही जागृत नहीं है तो क्या करें ? किसी का उपादान जागृत हो तो उसकी फिक्र की जा सकती है। आज सबको दूसरे की चिन्ता है कि उसका क्या होगा ? आचार्य कहते हैं-किसका क्या होगा ? सब कुछ छोड़ दिया अब किसकी चिन्ता करता है ? संसार में यही सबसे बड़ा व्यवधान है कि-उसका क्या होगा? साधक बनने के उपरान्त भी पूर्व सम्बन्धी जनों की चिन्ता रहती है। फिर कहते हैं कि पूर्व गृहस्थावस्था में वो थी उनका क्या हुआ ? यदि कोई कहे कि-ऐसा क्यों कहते हो, सीधा-सीधा कहो न कि मेरी माँ का क्या हुआ ? इस प्रकार कहने पर व्यवहार बिगड़ता है। आचार्य कहते हैं कि व्यवहार बिगड़ रहा है, निश्चय बिगड़ रहा है। व्यवहार की अपेक्षा से ये उनके पूर्व के माँ-पिता थे इत्यादि स्वीकार करना ठीक है, लेकिन यह ध्यान रखो कि व्यवहार एक ऐसा जाल है जो बहुत दूर जाने के उपरान्त भी नहीं छूटता है। कुछ ऐसे भी व्यवहार होते हैं जो सच्चे होते हैं लेकिन सच्चे होकर भी निश्चय के सामने वे सभी फीके नहीं हो पा रहे हैं। निश्चय का रस आना चाहिए। शुद्ध-बुद्ध चेतना का रस आना चाहिए। चेतना का रस आते ही वे सभी फीके हो जाते हैं। सभी बाह्य सम्बन्ध छूट जाते हैं। मोक्षमार्ग अकेले का है। निश्चय मोक्ष मार्ग और भी अधिक अकेले का है। व्यवहार का निभाना अत्यन्त कठिन होता है। निश्चय बहुत सरल है क्योंकि इसमें परिश्रम नहीं होता, थकान नहीं होती, विकल्प नहीं होते।

निश्चय में या अभेद में गुप्त्यात्मक परिणति रहती है। उस समय वस्तु को मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध से देखता है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध में हेय-उपादेय रूप पृथक् बुद्धि नहीं रहती। जब तक हेय बुद्धि रहती है तब तक ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि हेय-उपादेय में छोड़ने या ग्रहण करने के लिए परिश्रम होता है। परिश्रम करने वाले उपयोग में वह निर्विकल्प मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध वाली स्थिति नहीं आ सकती। **परीक्षामुख** में एक बहुत सुन्दर न्याय सूत्र होते हुए भी अध्यात्म भरा हुआ है। **ज्ञानस्य फलं किं** ज्ञान का फल क्या है ? **आचार्य श्री माणिक्यनन्दी** जी कहते हैं-**हानो-पादानोपेक्षा अज्ञाननिवृत्तिर्वा तत्फलं** अर्थात् हान, उपादान और अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान का फल है। पाँच पाप हेय हैं उसका त्याग करना, पाँच व्रत उपादेय हैं उन्हें ग्रहण करना। अज्ञान से निवृत्त होना

और ज्ञान को प्राप्त होना ये सभी ज्ञान के फल हैं। जैसे–टेलरिंग करने वाला टेलर है, मान लो उसे पीले धागे से कपड़े को सिलना है। उसे मशीन के ऊपर लगा देता है। नीला धागा जो मशीन पर लगा था उसे निकाल देता है। प्रकाश के माध्यम से देख लेता है यंत्र ठीक है या नहीं। यदि ठीक नहीं है तो उसे ठीक कर लेता है। उसे नीला धागा हेय है, पीला उपादेय है और ज्ञान के माध्यम से मशीन की कमी को दूर किया यह अज्ञान की निवृत्ति हो गई। ज्ञान के द्वारा सब कुछ सेट करके सिलना प्रारम्भ कर देता है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर वह इतना अधिक अभ्यस्त हो जाता है कि इधर बातें भी करता जाता है और मशीन भी चलाता रहता है। वह कलाप्रवीण हो जाता है। सिलते समय उसके मस्तिष्क में अन्य कोई भी विचार नहीं रहते। उस समय वह ज्ञाता-दृष्टा मात्र रह जाता है। पैर चलाता रहता है, वह अपनी दृष्टि को कन्ट्रोल करता रहता है, सिलाई होती रहती है। यह सब ज्ञान का फल, हान, उपादान और अज्ञान की निवृत्ति का प्रभाव है।

इसी प्रकार साधक जब भेद रत्नत्रय से अभेद रत्नत्रय में जाता है उस समय उसकी भी यही स्थिति होती है। छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। इस परिवर्तन को आँखों से देखा नहीं जा सकता। कहने में भी नहीं आ सकता। वह तो अनुभव की बात है।

जिज्ञासा—यदि कोई कहता है कि परमार्थ का वर्णन करना चाहिए व्यवहार के वर्णन की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—आचार्य आगे की गाथा में इसी जिज्ञासा का समाधान करेंगे। फिर भी आचार्य कहते हैं कि प्रारम्भिक अवस्था में जो परमार्थ को नहीं समझते उन्हें परमार्थ का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार के वर्णन की आवश्यकता होती है। बिना व्यवहार के परमार्थ का कथन नहीं हो सकता। जिज्ञासु को यह बात समझ में आती है तो ठीक है अन्यथा हम क्या कर सकते हैं। दया तो आती है, उन पर दया भी की जा सकती है लेकिन दया भी एक सीमा तक ही की जा सकती है। जिसके पास पैर नहीं है उन्हें बैसाखी दी जा सकती है लेकिन हाथ भी नहीं है तो बैसाखी किस काम की। बाईसिकल दे सकते हैं लेकिन उसे कोई चलाने वाला भी रखना होगा क्योंकि हाथ न होने से चला नहीं सकेगा। अर्थात् जिसके पास हाथ भी नहीं, पैर भी नहीं है उसके लिए बाईसिकल भी क्या करेगी ?

उत्थानिका—अब शिष्य कहता है कि जब शुद्ध निश्चयनय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र नाम के गुण जीव से भिन्न नहीं हैं तो फिर उन्हें भिन्न-भिन्न क्यों कहा जाता है, एक परमार्थ रूप अखण्ड आत्मा का ही वर्णन करना चाहिए, व्यवहार की आवश्यकता ही क्या है ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं–

जह णवि सक्क मणज्जो अणज्जभासं विणा हु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

अन्वयार्थ–(जह) जैसे **(अणज्जो)** अनार्य को **(अणज्जभासं विणा दु)** अनार्य-भाषा के बिना **(गाहेदुं)** अर्थ ग्रहण कराना (समझाना) **(ण वि सक्कं)** शक्य नहीं है, **(तह)** उसी प्रकार

(ववहारेण विणा) व्यवहार के बिना **(परमत्थुवदेसणं)** परमार्थ का उपदेश देना **(असक्कं)** अशक्य है।

अर्थ—जिस प्रकार किसी अनार्य (अनाड़ी) पुरुष को उसकी भाषा में बोले बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी व्यवहार के बिना नहीं हो सकता। अर्थात् परमार्थ को समझाने के लिए व्यवहारनय का आलम्बन लिया जाता है।

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा।
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया,
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥८॥

व्याख्या—जैसे कोई पढ़ा-लिखा आर्य अनार्य (अनाड़ी) पुरुष को अपनी भाषा में कोई बात समझाये तो उसे समझ में आयेगी क्या ? नहीं, किन्तु जब उसी की भाषा में समझायेंगे तो समझ सकता है। उस अनार्य से आप उसकी भाषा को गौण करके आप अपनी भाषा के लच्छेदार शब्दों से समझाओगे तो वह कहेगा कि आप इतना सारा समझाने का प्रयास कर रहे हो परन्तु एक भी शब्द समझ में नहीं आ रहा है। अतः उसी की भाषा में कुछ समझाओ तो उसे कुछ समझ में आ सकता है। आज के बच्चों को यदि उसके माँ-पिता अपनी भाषा में समझायेंगे तो उन्हें कुछ भी समझ में नहीं आयेगा क्योंकि उनकी भाषा ही अलग है। वे बिना भाषा के माँ-पिता के संकेतों से समझ लेते हैं, क्योंकि संकेतों को समझने की क्षमता भीतर रहती है। **परीक्षामुख** में एक सूत्र आया है कि- **शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्** अर्थात् शब्दों का उच्चारण किए बिना भी अर्थ का ज्ञान हो जाता है, स्व का अनुभव भी होता है। जैसे-यह पेन्सिल है बच्चा ऐसा शब्दों से भले ही न जाने लेकिन ये तो जानता है कि यह कोई वस्तु है। इतना जानना पर्याप्त है। इसे शब्दों के उच्चारण के बिना जान लिया। उसे इतना जानना पर्याप्त है। उसी प्रकार कोई अनार्य जो गुणी नहीं है लेकिन उसके पास गुणवान बनने की क्षमता है। आप गुणवान हैं उसे भी गुण वान बनाना चाहते हैं तो आप उसी की भाषा में थोड़ा-सा भी समझा देंगे तो वह अवश्य ही समझ जायेगा क्योंकि उसके पास समझने की क्षमता तो है ही। उस समय उसके चेहरे के भावों से आप समझ सकते हैं कि वह भी अपना हित चाहता है। वह भी **'स्वहितमुपलिप्सुः'** अर्थात् अपने हित की भावना वाला है। वह प्रज्ञावान अर्थात् पण्डित बनकर नहीं आया, किन्तु वह तो इतना जानता है कि यह दुःख है, इससे कैसे छूटें ? हित क्या है ? इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है लेकिन दुःख से कैसे छूटें ? यह बता दो। उसे संसार तो भयानक और दुःख सहित लग ही रहा है, वह संसार से भयभीत ही है लेकिन हित किसमें निहित है? इसका संकेत करना पर्याप्त है। वह समझ जायेगा और अपना हित कर लेगा।

एक स्थान पर लिखा है कि **'श्रुतज्ञान चाहिए'**। **'अक्षरज्ञान चाहिए'** ऐसा नहीं लिखा, क्योंकि

जिसे श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है तो अक्षरज्ञान तो हो ही जायेगा। तिर्यंचों में श्रुतज्ञान तो होता है लेकिन अक्षरज्ञान नहीं होता। अक्षर श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं हो तो चलेगा क्योंकि श्रुतज्ञान से वे समझ लेते हैं कि तत्त्व क्या है ? शब्दों से नहीं किन्तु उसका भाव क्या है ? यह पकड़ लेते हैं। अक्षरज्ञान के बिना भी तत्त्व के भाव को समझा जा सकता है। जो बच्चा बोलना नहीं जानता वह भी माँ की बोली को समझ लेता है। कुछ बच्चे साक्षर हो जाते हैं कुछ साक्षर नहीं हो पाते। अनक्षर होते हुए भी माँ के समस्त भावों को समझकर अपना काम कर लेते हैं। इसी तरह **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** यहाँ कह रहे हैं कि वह अनार्य (अनाड़ी) है आप सुशिक्षित हैं। आप अपनी भाषा में उसे कितना भी समझायेंगे वह नहीं समझ पायेगा। उसी की भाषा में संकेत मात्र भी देंगे तो समझ जायेगा। आप समझदार हैं इसलिए अपनी भाषा में उसे समझाने लग जाओगे तो यह आपकी समझदारी नहीं होगी। उसी की भाषा में समझाओगे तो समझदार कहलाओगे।

फिरोजाबाद की बात है, चातुर्मास चल रहा था। तीन-चार अन्धे आए थे। लोगों ने बताया कि महाराज ! ये सभी अपने ढंग से बहुत कुछ सीखते हैं, पढ़ते हैं, लिखते हैं आदि। उन्होंने बताया आप जो भी कहेंगे उसे ये लिखकर बता देंगे। हमने एक शब्द कहा-उन्होंने उसे अपने ढंग से लिखकर बता दिया। मैंने पूछा कहाँ लिखा है ? यह भी बता दिया। हमने कहा भइया ! आप तो आँख वाले हैं क्योंकि आप हमारे कहने पर बोल भी रहे हो, लिख भी रहे हो, कहाँ क्या है ? यह भी बता रहे हो। मैंने सोचा उनके सीखने के अपने ढंग अलग हैं। उन्हीं तरीकों से वे सीख सकते हैं। हमारे ढंग से नहीं सीख सकेंगे। इसी प्रकार आर्यों के लिए अनार्य भाषा अनार्य है और अनार्यों के लिए आर्य भाषा अनार्य है। अत: जिस प्रकार अनार्यों को कुछ समझाना है तो उनकी ही भाषा में समझाना आवश्यक होता है उसी प्रकार परमार्थ का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का ज्ञान करना अनिवार्य होता है। आंग्ल भाषा वाले को आंग्ल भाषा में ही समझाया जा सकता है। म्लेच्छ कभी आर्य भाषा में नहीं समझ सकता। उनको उन्हीं की भाषा में सम्बोधन करना अनिवार्य होता है। इसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का प्ररूपण उपदेश, व्याख्यान अथवा कोई भी जानकारी देना सम्भव नहीं है। म्लेच्छ खण्ड में कोई ब्राम्हण या साधु चला जाये तो वहाँ के लोग उन्हें देखकर नमस्कार तो करते ही हैं। भले ही महाराज न कहें और नमोऽस्तु शब्द का प्रयोग न करें। लेकिन ये तो वे भी जानते हैं कि ये साधु हैं इन्हें नमस्कार करना चाहिए। हम लोग भी जब विहार करते हैं तो कुछ अजैन भाई बन्धु देखकर बाबाजी! नमस्कार या नमस्ते कहकर विनय करते हैं। उनके लिए आपको भी तथाऽस्तु कहना पड़ेगा। चिरंजीव रहो, ऐसा कहोगे तो उन्हें इसका अर्थ समझ में नहीं आएगा। उस समय वह भैंस या मेढे के समान देखता रह जाता है। यदि आपने पूछ लिया कि ऐसे क्यों देख रहे हो ? तो वह कह देगा कि मैं क्या करूँ ? आप जो कह रहे हैं उसका अर्थ मुझे समझ में नहीं आ रहा तो क्या करूँ! आप उसे उसकी भाषा में अर्थ बताओगे तो समझ लेगा।

इसी प्रकार आप अज्ञानी जन के समक्ष कहो कि आत्मा है, आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है। वह कहता है आत्मा क्या है ? क्या पता ? अभी तक तो हम यह समझते आए हैं कि ये अमुक नाम वाले व्यक्ति हैं। ये पिता हैं, ये भाई हैं, ये माता हैं, ये बहिन हैं इत्यादि। आत्मा का परिचय अभी तक सुना ही नहीं। आत्म-भ्रान्ति के कारण समीचीन ज्ञान नहीं हो पाता। आत्मा क्या है इसकी वास्तविक अनुभूति परक जानकारी नहीं हो पाती। अतः आत्मा या जीव कहते ही व्यक्ति की ओर दृष्टि जाती है। जबकि जीव कहते ही रत्नत्रय की ओर दृष्टि जाना चाहिए। जीव का लक्षण उपयोग है अतः जीव कहते ही उपयोग धारा की ओर दृष्टि जाना चाहिए। इस प्रकार भेद और अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दो गाथाओं द्वारा द्वितीय स्थल समाप्त होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज की कथन शैली अध्यात्ममय है। वे शब्दों में कभी उलझते नहीं। जबकि आज हम शब्दों में उलझते चले जाते हैं। आचार्य देव गम्भीर से गम्भीर विषयों को बिना किसी शब्द उलझन के सीधी सरल शैली में प्रस्तुत करते चले जाते हैं उनके एक -एक शब्द की गहराई में जाने पर ऐसा लगता है कि मौन हो जाओ, कोई भी वाचनिक और शारीरिक चेष्टा मत करो। बार-बार समयसार का वाचन करने के उपरान्त भी पाचन की ओर दृष्टि नहीं जाती। गाय, भैंस आदि पशु दिन में घास खाकर आते हैं और रात्रि में चर्बण करते हैं अर्थात् जुगाली करते हैं। बिना जुगाली के पशु बीमार हो जाता है। **''ये रोधन्ति ते पशवः''** जो रोधन (जुगाली) करते हैं, वे पशु कहलाते हैं।

भगवती आराधना में आचार्य महाराज ने कहा है कि स्वाध्याय करने वाले दिन में स्वाध्याय करने के उपरान्त रात्रि में 'गइया' गाय के समान जुगाली करें अर्थात् रात्रि में अनुप्रेक्षा, आम्नाय, चिन्तन आदि के माध्यम से तत्त्व ज्ञान को पचा लें। कुछ शेष रह जाये तो अगले दिन पृच्छना करके पूर्ण ज्ञान (पूर्ण पाचन) कर लें। फिर दूसरा नया विषय ग्रहण करें। आज स्वाध्याय और वाचना के लिए जितना समय दिया जाता है उससे आधा भी समय चिन्तन के लिए नहीं दिया जाता। प्रत्येक व्यक्ति के पास चिन्तन-शक्ति रहती है। वह उस शक्ति का कहीं न कहीं उपयोग तो करता ही है। कई लोगों के पास तो ऐसी क्षमतायें होती हैं कि यदि वह तत्त्व-चिन्तन की गहराई में उतर जाए तो उसे अनेक प्रकार के ज्ञान रूपी मोतियों की उपलब्धि हो जाती है। विपरीत चिन्तन न करें तो चिन्तन शक्ति का उपयोग सम्यक् चिन्तन में होगा। चिन्तन अपने ज्ञान की अनुभूत्यात्मक होता है। चिन्तन में जो रस आता है उसी से तत्त्वज्ञान पचता है और वही अपने पास बचता है जो पुनः चिन्तन शक्ति को वृद्धिंगत करता है। भोजन पचने के बाद ही रस, रुधिर, मज्जा, रक्त, मांस, अस्थि आदि धातुओं में परिवर्तित होकर बल प्रदान करता है। यदि भोजन नहीं पचता तो रस रुधिरादि धातुओं का निर्माण नहीं होता फलतः शरीर में बल की कमी हो जाती है। भोजन की अच्छी तरह पाचन क्रिया के पूर्व चर्बण क्रिया अनिवार्य होती है। बिना चर्बण के भोजन सुपाच्य नहीं होता। चर्बण के लिए दाँतों को मजबूत होना चाहिए। जिनके पास दाँत नहीं होते वे खाद्य-सामग्री का चूर्ण बनाकर सेवन करते हैं। दाँतों का कार्य खलबट्टे

से करते हैं। चूर्ण होने के कारण पाचन क्रिया होकर रस, रुधिर आदि धातुयें बनती रहती हैं और शरीर में बल पैदा होता रहता है। वही शारीरिक बल स्वास्थ्य वर्धक होता है। उसी प्रकार स्वाध्याय रूपी भोजन का चिन्तन रूपी जुगाली की क्रिया होती है तब तत्त्व ज्ञान की अनुभूति, तत्त्वज्ञान का आनन्द रूपी रस निर्मित होता है। यही ज्ञान के पाचन की क्रिया है। तत्त्वज्ञान बलीभूत होता है, पुष्ट होता है। भविष्य के लिए भी ज्ञान संस्कार मजबूत होता है। अध्ययन के समय शब्द से अर्थ की ओर गति होना चाहिए। अर्थ से ज्ञान और ज्ञान से भाव प्रत्यय की ओर गति होती है तभी स्वाध्याय की एवं अध्यात्म रस की अनुभूति होती है। ''**चिन्तन की चक्की में ही शब्दों के अर्थ उद्घाटित होते हैं उसके बिना नहीं। यदि शब्द चिन्तन में नहीं आये बल्कि चित्त में ही रह गये तो जैसे चक्की की कील के इर्द-गिर्द गेहूँ पिसते नहीं हैं, ज्यों के त्यों रह जाते हैं उसी प्रकार शब्द चित्त में रह जाते हैं तो वे अर्थवान् न होकर अनुभूत नहीं हो पाते।**'' शब्द का अर्थ क्या है ? यदि इस ओर दृष्टि नहीं जाती तो स्वाध्याय का रस नहीं आता। अतः स्वाध्याय नहीं करो, ऐसा नहीं कहा जा रहा है किन्तु स्वाध्याय के साथ-साथ अर्थ की ओर चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षा की ओर भी बार-बार दृष्टि जाना चाहिए तभी सही स्वाध्याय होगा। स्वाध्याय का प्रयोजन भी सिद्ध होगा। अनुप्रेक्षा करना ही ज्ञान की रोधन-क्रिया है। अनुप्रेक्षा का अर्थ ही है कि आज जो पढ़ा है, जो श्रवण किया उसके बारे में बार-बार चिन्तन करना। द्वादश अनुप्रेक्षाओं के माध्यम से ही तत्त्व चिन्तन विकसित होता है। ''**मुहुर्मुहुश्चिन्तनं इति अनुप्रेक्षा**'' चिन्तन और अनुचिन्तन में उपयोग से ज्ञान से अपनत्व जुड़ जाता है और उसका चर्बण होने के कारण रस आना प्रारम्भ हो जाता है।

परमार्थ यद्यपि कथ्य नहीं है किन्तु व्यवहार के माध्यम से उसे कुछ अंशों में कथ्य के रूप में स्वीकार किया गया है। व्यवहारनय के बिना परमार्थ को कहा नहीं जा सकता अतः परमार्थ तक पहुँचने के लिए व्यवहार की आवश्यकता होती है। इसीलिए आगम में परमार्थ के साथ-साथ व्यवहार का कथन भी अनिवार्य होता है। व्यवहारनय के द्वारा निश्चय का या परमार्थ का पूर्णतः कथन तो सम्भव नहीं है फिर भी ''संकेत मात्र से भी कभी-कभी बहुत बड़े-बड़े कार्य सफल हो जाते हैं'' संकेत शब्द रूप भी हो सकते हैं, इशारे स्वरूप भी हो सकते हैं। इशारे वाले संकेतों से भी बहुत गहन अर्थ निकल आते हैं। जैसे वीतरागता शब्द के अर्थ को विस्तार से लिखें तो दस-बीस पृष्ठ भी लिखे जा सकते हैं इस हेतु १०-२० घंटों का समय लगेगा। लेख पढ़ने वालों को भी उसे समझने के लिए घण्टों का समय लगेगा तब समझ पायेंगे कि वीतरागता क्या है ? फिर भी वीतरागता की संक्षिप्त रूपरेखा ही समझ में आयेगी। जबकि दूसरा कोई व्यक्ति है जिसने वीतरागता का एक चित्र बनाकर सामने रख लिया। वह पढ़ा-लिखा नहीं है फिर भी चित्र से सेकण्ड मात्र में वीतरागता समझ में आ सकती है। इसे कहते हैं ''**शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्**'' अर्थात् शब्द के उच्चारण के बिना भी विषय को समझा जा सकता है। एक तिर्यञ्च जो पढ़ा-लिखा नहीं है लेकिन वीतरागता को देखकर

उसे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। जो वीतरागता का रहस्य नहीं समझ पाता भले ही मनुष्य हो तो भी उसे सम्यग्दर्शन का होना दुर्लभ है और पशु भी क्यों न हो अपढ़ होते हुए भी उसे चूँकि वीतरागता की महिमा समझ में आ जाती है अतः सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मात्र पढ़ना-लिखना अनिवार्य नहीं है किन्तु क्या पढ़ रहे हैं इसका भाव समझना अनिवार्य है। इसी प्रकार परमार्थ को समझना आवश्यक है। आत्मा का स्वभाव देखना और जानना है तो देखो, जानो, पढ़ो नहीं।

पदार्थ का सामान्य अवबोध बिना कथन के भी हो सकता है किन्तु विशेष ज्ञान के लिए अवलम्बन आवश्यक होता है। ''हमने प्रत्यक्ष देखा'' ऐसा कहा जाता है, यह लोक प्रचलित है। प्रत्यक्ष देखा इसका अर्थ है कि बीच में कोई व्यवधान नहीं था किन्तु परमार्थभूत तत्त्व के जानने में बीच में हमेशा व्यवधान रहता है। व्यवधान को दूर करने के लिए व्यवहार का सहारा लेना पड़ता है तभी परमार्थभूत तत्त्व-बोध तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार परमार्थ तत्त्व-बोध हेतु व्यवहार का अवलम्बन अनिवार्य होता है इस बात को इसी ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर आचार्य देव ने स्पष्ट किया है। परमार्थभूत तत्त्व परोक्ष रूप में होता है। आगे संवर अधिकार में स्वयं कहा है कि-

को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं॥

अर्थात् कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि आत्म-तत्त्व वर्तमान काल में इस छद्मस्थ के प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान में ही होता है। परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा वह छद्मस्थ ज्ञान से भी जान लिया जाता है।

परोक्षज्ञान में रहते हुए कोई भी परमार्थ को आत्मतत्त्व को मैंने हाथ में रखे हुए पदार्थ के समान देख लिया, ऐसा कह नहीं सकता क्योंकि परोक्षज्ञान के द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जाना जा सकता। उपदेश से भी साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई परमार्थ के प्रति श्रद्धान से अभिभूत हो जाता है, अपने उपयोग में आत्मा के स्वरूप को जैसा सुना वैसा आकार प्रकार देता है, उसकी धारणा बनाता है तब उसका कुछ परिणाम सामने आता है। यह प्रयोग अपने आप नहीं किया जा सकता। उसे कुछ न कुछ संकेत प्राप्त करना अनिवार्य होता है। ''दूध में घी है कि नहीं'' यह साक्षात् देखने से ज्ञान नहीं होता लेकिन ''दूध में घी है'' ऐसा विश्वास करके विधि के अनुसार पुरुषार्थ होता है तब दूध से घी ऊपर निकल आता है। दूध को देखने से, सूँघने से, स्वाद से विदित नहीं होता कि इसमें घी है किन्तु स्पर्श करने से थोड़ा पता चलता है क्योंकि दूध में चिकनाहट होती है। मट्ठा में जरूर कुछ ऐसे कण दिखते हैं जो चिकने होते हैं। उन चिकने कणों से घृत का अनुमान किया जाता है। पश्चात् घृत पर विश्वास करता है। इस प्रकार विश्वास करके ही विधिवत् पुरुषार्थ से घृत को प्राप्त कर पाता है। ठीक इसी तरह परमार्थ प्राप्ति की भी प्रक्रिया होता है। यथाविधि श्रद्धान, ज्ञान और पुरुषार्थ के बल पर ही

उसे अनुभूत किया जा सकता है।

उत्थानिका—जैसा पूर्व गाथा में कहा गया है कि व्यवहारनय के द्वारा ही परमार्थ को जाना जा सकता है उसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए आगे कहते हैं–

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥९॥

अन्वयार्थ–(जो) जो जीव **(हि)** वास्तव में **(सुदेण तु)** श्रुतज्ञान(भावश्रुत) से **(इणं)** इस अनुभव गोचर **(केवलं सुद्धं)** केवल एक शुद्ध **(अप्पाणं)** आत्मा का **(अहिगच्छदि)** अनुभव करता है **(तं)** उसको **(लोगप्पदीवयरा)** लोक के प्रकाशक **(इसिणो)** ऋषिगण **(सुदकेवलिं)** श्रुतकेवली (निश्चय श्रुतकेवली) **(भणंति)** कहते हैं।

अर्थ—जो द्वादशांग श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को अपने अनुभव में लाता है, उसे समस्त लोक के प्रकाशक सर्वज्ञ भगवान् निश्चय श्रुतकेवली कहते हैं।

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा,
शुद्धात्म को सहज से, तज राग सारा।
है पूर्ण भाव-श्रुतकेवलि वो निहाला,
ऐसा कहें ऋषि, करें जग में उजाला ॥९॥

व्याख्या—जो श्रुतज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली कहलाता है। **अहिगच्छदि** क्रिया रूप में गम्लृ धातु अपने आप में प्रवृत्यात्मक है। लेकिन ज्ञानात्मक भी है। अधिगम का अर्थ ज्ञान होता है। गत्यर्थक धातु केवल जाने के अर्थ में नहीं किन्तु जानने के अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। **धातुनां अनेकार्थः** अर्थात् धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। इस ग्रन्थ के टीकाकार **श्री जयसेनाचार्य** ने अहिगच्छदि का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है **अभिसमन्ताज्जानात्यनुभवति** अर्थात् पूर्ण रूप से जानता है, अनुभव करता है। किसको जानता है ? **केवलं** अर्थात् असहाय और **सुद्धं** अर्थात् रागादि रहित शुद्ध आत्मतत्त्व को जानता है। केवल का अर्थ अकेला भी होता है। अकेले का अर्थ शुद्ध भी होता है। दो या दो से अधिक पदार्थों के मिश्रण या संयोग का अर्थ अशुद्ध होता है। जो अकेला द्रव्य होता है वह हमेशा शुद्ध होता है। जैसे–अकेला आत्मा, परमात्मा, सिद्धात्मा। अकेला अणु, अकेला धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और कालाणु ये सभी अकेले होते हैं अतः शुद्ध होते हैं। दुनिया मिश्रण के साथ चलती है। इसलिए उसे शुद्ध का भाव या अनुभव नहीं होता। शुद्ध वस्तु में कुछ न कुछ मिलाकर ही काम होता है। स्वर्ण दो प्रकार का होता है एक काम में आने वाला दूसरा रखा रहने वाला। रखा रहने वाला स्वर्ण भी दो प्रकार का होता है–१. आभूषण के रूप में, २. गिट्टी या बिस्किट के रूप में। इसमें बट्टा नहीं होता। लेकिन आभरण में बट्टा होता है। बिना बट्टा के आभरण नहीं बनते, क्योंकि ओरीजनल स्वर्ण मृदु होता है। आभरण बनाने के लिए उसे कड़ा करना आवश्यक

होता है। आचार्य कहते हैं शुद्ध वही होता है जो अकेला होता है। जो अशुद्ध होता है वह अकेला रह ही नहीं सकता। वह कम से कम दो पदार्थों के साथ ही रहता है।

संसार दशा में शुद्ध का अनुभव कैसे ?

संसार दशा में चूँकि संयोगी अवस्था रहती है। आत्मा के साथ कर्म का संयोग है अतः एक अकेले शुद्धतत्त्व का अनुभव कैसे किया जा सकता है ? अनेकान्त के माध्यम से इसका समाधान हो सकता है। गौण, मुख्य की विवक्षा से कथन किया जाता है। संसार दशा में शुद्ध आत्मतत्त्व को श्रद्धान के माध्यम से जाना जा सकता है। मुख्य और गौण दृष्टि का समन्वय ही अनेकान्त स्वरूप होता है। अनेकान्त में दृष्टि मुख्य ही हो या दृष्टि गौण ही हो ऐसा एकान्त कभी नहीं होता। जैसे–स्वर्णकार अपने हाथ में स्वर्ण पाषाण लिए हुए है। "उसमें स्वर्ण है" ऐसा जिसे पता नहीं है, उसे ज्ञात कराया कि इसमें स्वर्ण है, तो वह सुनार से पूछता है कि इसमें कितना स्वर्ण है ? सुनार ने कहा–दो किलो का पाषाण है इसमें दस तोला सोना है। वह पुनः कहता है कि यह तो दो किलो का है ? सुनार ने कहा–स्वर्णपाषाण तो पाँच किलो का भी हो सकता है, उसमें क्या ? आपने तो यह पूछा है कि इसमें स्वर्ण कितना है? या उस पाषाण का वजन पूछा है ? स्वर्ण पूछा है तो दस तोला स्वर्ण है। वह पुनः कहता है कि आपके हाथ में तराजू कहाँ है ? तराजू नहीं होते हुए भी बिल्कुल सही–सही तोल कैसे बता रहे हो ? सुनार कहता है–तौलकर देख लो। तौलकर देखा तो, स्वर्ण पाषाण में से स्वर्ण दस तौला ही निकलता है।

उक्त दृष्टान्त में सर्वप्रथम तो यह प्रश्न आता है कि इस पाषाण में स्वर्ण है, यह कैसे जाना ? दूसरी बात, १० तौला सोना है, यह कैसे जाना ? आचार्य कहते हैं कि स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण का श्रद्धान है उसके माध्यम से जाना और दस तौला है इसे अपने अनुमानित ज्ञान के माध्यम से जाना। स्वर्णपाषाण में स्वर्ण प्रत्यक्ष नहीं दिख रहा है फिर भी स्वर्ण है इस पर श्रद्धा है, विश्वास है। श्रद्धा के बल पर स्वर्ण को जान लिया। वह स्वर्णपाषाण घर में ही था। पीढ़ी दर पीढ़ी लोग उसे प्रतिदिन उठाते रहे, रखते रहे, फिर भी यह ज्ञात नहीं था कि इसमें स्वर्ण है। उसे स्वर्णकार के यहाँ ले जाते हैं, सीखते हैं तो आपको भी ज्ञान हो जाता है। लेकिन सीखने से पूर्व 'पाषाण में स्वर्ण है' इस पर विश्वास होना अनिवार्य है, अन्यथा स्वर्णप्राप्ति का पुरुषार्थ क्यों किया जायेगा। विश्वास भी दृढ़ होना चाहिए। ढुल–मुल श्रद्धान होगा तो स्वर्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'स्वर्णपाषाण में स्वर्ण है और उसे यथाविधि प्राप्त किया जा सकता है' यह कला अपने आप नहीं आती किन्तु स्वर्णकार के संयोग से प्राप्त हो सकती है।

जो हि सुदेण विजाणदि केवलं सुद्धं अप्पाणं अहिगच्छदि तं सुदकेवलिं इति लोकप्रकाशका: जिनाः परमऋषयः भणन्ति कथयन्ति। अर्थात् लोक के प्रकाशक प्रदीप स्वरूप सर्वज्ञ भगवान् एवं परम ऋषिगणों ने श्रुतकेवली उसे कहा है जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल एवं शुद्ध आत्मा को जानता है। 'आत्मा है' इस पर भी सर्वप्रथम विश्वास अनिवार्य है। सर्वप्रथम श्रद्धा के माध्यम से

ही आत्मा को विषय बनाना आवश्यक है। पश्चात् अनुभूति का विषय बनता है।

श्रुतकेवली कौन है?–

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं। उन पाँच ज्ञानों में से श्रुतज्ञान और केवलज्ञान के साथ केवल शब्द का प्रयोग होता है। श्रुतकेवली और केवली ऐसा प्रयोग मिलता है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के साथ केवल शब्द का प्रयोग नहीं होता। क्यों नहीं होता ? यह समझ में नहीं आता। अवधि और मनःपर्यय ज्ञान को फिर भी गौण कर दें, लेकिन मतिज्ञान के साथ केवल शब्द का प्रयोग क्यों नहीं होता ? जबकि मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है। जो-जो श्रुतज्ञानी हैं वे मतिज्ञानी तो हैं, लेकिन जो मतिज्ञानी हैं वे श्रुतज्ञानी हों, ऐसा कोई एकान्त नहीं है, क्योंकि मतिज्ञान की गति श्रुतज्ञान तक हो यह एकान्त नहीं है। दो ज्ञानों के साथ केवल शब्द का प्रयोग होता है, इतना तो कह सकता हूँ, लेकिन शेष तीन के साथ क्यों नहीं ? इसके बारे में अभी कुछ नहीं, आगे प्रसंगानुसार विचार करेंगे। **देवागमस्तोत्र** में **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने दो ज्ञानों के साथ केवल शब्द का प्रयोग किया है। **बहुश्रुतकेवली** शब्द आया है। यहाँ समयसार ग्रन्थ में श्रुतकेवली को परिभाषित करते हुए लिखा है कि **जो श्रुत के माध्यम से अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह भाव श्रुतकेवली है।**

जिज्ञासा–सम्यग्ज्ञानी और श्रुतकेवली को एक मानने में क्या बाधा है ?

समाधान–सम्यग्ज्ञानी नियम से सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि संज्ञा चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाती है। वह भी अपने शुद्ध केवलज्ञान से विभूषित आत्मतत्त्व का श्रद्धान करता है और सम्यग्ज्ञान से उसे जानता भी है। तो क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को श्रुतकेवली संज्ञा देंगे ? नहीं, क्योंकि निर्विकल्प समाधि में निश्चय या वीतराग चारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यग्दृष्टि शुद्धतत्त्व की अनुभूति करता है, वही शुद्ध आत्मानुभूति या शुद्धोपयोग का अधिकारी होता है ऐसा आगम में कहा गया है। सामान्य से कोई भी सम्यग्दृष्टि अपने सम्यग्ज्ञान से आत्मा को जानता है तो उसे श्रुतकेवली कह दें क्या ? आचार्य कहते हैं, नहीं। ऐसा कथन करने पर आगम से अनेक बाधायें आती हैं।

हम किसी भी एक पक्ष को सिद्ध करना चाहते हैं तो हेतु देना आवश्यक है। हेतु भी ऐसा देना चाहिए जो विपक्ष में न जा रहा हो अन्यथा अतिव्याप्ति दोष आयेगा। पक्ष में भी अव्याप्ति दोष नहीं होना चाहिए। यदि हेतु अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष युक्त होगा तो कितना भी प्रयास करें पक्ष में साध्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। परिवार या समाज में भी व्यक्तियों के बीच विसंवाद तब होता है जब वे हेतु, हेतुमद्भाव को अपने ढंग से सिद्ध नहीं कर पाते। हाईकोर्ट में सुप्रीमकोर्ट में भी अपने पक्ष की सिद्धि के लिए वकील लगाना पड़ता है। लेकिन यदि वकील अपने पक्ष में निर्दोष हेतु नहीं देता और विपक्ष में बाधक हेतु प्रस्तुत नहीं करता तो कितने भी वकील लगाओ पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी। बाधक प्रमाण देने मात्र से या अपने साधक प्रमाण देने मात्र से सिद्धि नहीं होती किन्तु अपने पक्ष के साधक प्रमाणों के साथ विपक्ष को खण्डित करने के बाधक प्रमाण देना भी अनिवार्य है। यदि कोई

बाधक प्रमाण तो दे रहा है किन्तु साधक प्रमाण नहीं दे पा रहा तो भी साध्यसिद्धि में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

श्रुतकेवलित्व में बाधायें—समयसार ग्रन्थ में इस गाथा में आचार्य ने भावश्रुतकेवली का वर्णन किया है। आगे की गाथा में द्रव्यश्रुतकेवली का वर्णन किया है। भावश्रुतकेवली का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि कोई भी सामान्यतः श्रुतज्ञान से आत्मा को जानता हो किन्तु वह तो निर्विकल्प समाधि की भूमिका में होता है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे तो अनेक बाधायें आती हैं। जैसे–जितने भी लौकान्तिक देव हैं, वे सभी द्वादशांग के पाठी होते हैं और श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को भी जानते हैं तो उन्हें भी द्रव्यश्रुतकेवली एवं भावश्रुतकेवली की संज्ञा प्राप्त हो जायेगी। सौधर्म इन्द्रादि भी द्वादशांग के पाठी होते हैं अतः वे भी द्रव्य और भाव श्रुतकेवली संज्ञा को प्राप्त होंगे। सर्वार्थसिद्धि आदि में जो अहमिन्द्र हैं, वे भी उक्त संज्ञा को प्राप्त होंगे। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि के पास समीचीन श्रुतज्ञान होता ही है तो फिर सातों पृथ्वियों के नारकियों में भी श्रुतकेवलित्व घटित हो जायेगा। तिर्यंचों में भी कुछ ऐसे तिर्यंच होते हैं जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं उनको श्रुतकेवलित्व सिद्ध होगा। इस प्रकार बहुत सारे प्रश्न उपस्थित हो जायेंगे। अतः यह मानना आवश्यक है कि दुनिया में जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं उन सभी में श्रुतकेवलित्व का आरोपण नहीं किया गया, क्योंकि इस गाथा से पूर्व की गाथाओं एवं उनकी टीकाओं से ज्ञात होता है कि जो एकत्व निश्चयगत निर्विकल्पसमाधि में है उस समय उसे केवलज्ञान से अभिभूत परमात्मतत्त्व का अवबोध होता है, ऐसा कहा है। मान लो चतुर्थगुणस्थानवर्ती जो आत्मा को जानता है उसे भावश्रुतकेवली मान भी लें तो वह श्रुतकेवलित्व छूटता क्यों है ? हमेशा श्रुतकेवलित्व बने रहने में क्या बाधा है ? ऐसे कौन से बाधक तत्त्व आ जाते हैं जिनके कारण श्रुतकेवलित्व छूट जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों त्यों के त्यों हैं। मत्यज्ञान या श्रुताज्ञान हो गया हो ऐसा भी नहीं है। फिर ऐसा क्यों होता है ? क्या उसका समय कम है ? यदि नहीं, तो जहाँ-जहाँ सम्यग्ज्ञान है वहाँ-वहाँ श्रुतकेवलित्व होना चाहिए। ऐसा है तो विग्रहगति में भी जो सम्यग्दृष्टि हैं उनको भी श्रुतकेवलित्व का प्रसंग आना चाहिए। इसमें कोई बाधा नहीं आना चाहिए। इस प्रकार चौबीस घण्टे, बारह महीने, दिन-रात हमेशा श्रुतकेवलित्व की परम्परा टूटना नहीं चाहिए। सभी को श्रुतकेवलित्व प्राप्त हो जाये, मैं भी यही भावना भाता हूँ। किसी को बाधक क्यों बनूँ ? मैं किसी को अन्तराय क्यों डालूँ ? पूर्व में अज्ञानदशा में अन्तरायकर्म बन्ध गए अब क्यों बाँधूँ ? लेकिन यह सब कहने मात्र से नहीं होता। तत्त्वनिर्णय सही-सही होना चाहिए। बाध्य होकर तत्त्वनिर्णय नहीं लेना चाहिए, किन्तु बाधाओं को दूर करके निर्णय लेना चाहिए। आगम से निर्णय लेना चाहिए। पक्षाग्रह से कभी भी तत्त्व का निर्णय नहीं करना चाहिए। तत्त्वनिर्णय में क्षीर-नीर विवेक होना चाहिए।

श्रुतकेवलित्व कहाँ घटित होता है ?—

इस गाथा की टीका में श्री जयसेनस्वामी जी ने स्वयं **सुदेण** शब्द की व्याख्या में तीन विशेषण

दिए हैं–**भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन** कितना स्पष्ट लिखा है कि किस प्रकार के श्रुतज्ञान से आत्मा को जानने का प्रकरण है ? निर्विकल्प समाधि रूप, स्वसंवेदनात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्ण रूप से अपने आपकी आत्मा को अनुभव में लाता है। कौन जानता है ? कर्त्ता रूप में जीव जानता है। किसको जानता है ? केवल शुद्ध रागादि रहित अपने आत्मतत्त्व को जानता है। यह कर्म हो गया। किसके द्वारा जानता है ? करण रूप में भावश्रुतज्ञान के द्वारा जानता है, कैसा है भावश्रुत ? स्वसंवेदनात्मक भावश्रुत। किस दशा में जानता है ? निर्विकल्पसमाधि में स्थित दशा में जानता है ? **अहिगच्छदि** की व्याख्या है–''अभि आ समन्ताज्ज्ञानात्यनुभवति'' अर्थात् जानने का अर्थ अनुभव भी होता है। जानाति, अनुभवति, सञ्चेतयति आदि अनेक अर्थों में ज्ञा धातु है। यहाँ प्रसंग अनुभव या संचेतन का है। बिना ज्ञानशक्ति के अनुभव नहीं होता। अनुभूति के लिए भी ज्ञानशक्ति की आवश्यकता होती है। यह अनुभव भी हमेशा नहीं होता, किन्तु ज्ञानशक्ति का जब प्रयोग किया जाता है तभी सम्भव होता है। जैसे–देवों एवं नारकियों को हमेशा जीवन पर्यन्त अवधिज्ञान होता है लेकिन उसका कार्य हमेशा नहीं होता। जब जीव अवधिज्ञान का प्रयोग करता है तभी उसका विषय बनता है। चाहे अवधिज्ञान हो अथवा कुअवधिज्ञान। प्रयोग के बिना कार्य नहीं होता। जैसे–मोबाइल में स्विच ऑन करके सम्पर्क सूत्र सिद्ध करते हैं तभी मोबाइल कार्य करता है। मात्र मोबाइल होने से कार्य नहीं होता। इसी तरह जातिस्मरण, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान की क्षमता मात्र होने से ये कार्य नहीं करते। हर समय जातिस्मरण नहीं होता, हर समय अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान अपना विषय नहीं बनाते, किन्तु प्रयोग करने पर ये कार्य करते हैं। इसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान होने मात्र से आत्मानुभूति नहीं होती। वह तो हमेशा रहता है किन्तु निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोगात्मक अभेदरत्नत्रय में ढला हुआ स्वसंवेदनज्ञान आत्मानुभूति करता है अथवा शुद्ध आत्मा को जानता है।

केवलं शब्द का टीकाकार ने असहाय अर्थ लिया है। असहाय का अर्थ दीन, हीन नहीं। जिसका कोई सहायक नहीं है ऐसा नहीं किन्तु जिसे सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है वह असहाय है। केवलज्ञान को भी असहाय कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि उस केवलज्ञान के लिए छद्मस्थ की भाँति अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा अथवा इन्द्रिय, मन, आलोक आदि की अपेक्षा नहीं होती। शुद्ध का अर्थ रागादि रहित। रागादि रहित होने के लिए मोहनीय कर्म की सर्वघाति प्रकृतियों का उदयाभाव होना अनिवार्य है। मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों में से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि बारह इस प्रकार चौदह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। शेष संज्वलन की चार, नव नोकषाय एवं सम्यक्प्रकृति ये चौदह प्रकृतियाँ देशघाती हैं। सर्वघाति प्रकृतियों के उदय रहते हुए श्रमणत्व प्राप्त नहीं होता। संज्वलन की तीव्र उदय अवस्था में श्रमणत्व तो रहता है लेकिन प्रमत्त अवस्था रहती है। इस अवस्था में यद्यपि रत्नत्रय तो रहता है लेकिन निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोग तथा अभेद रत्नत्रय नहीं होता। इसलिए रागादि रहित शुद्धात्मा की अनुभूति भी नहीं होती। रत्नत्रय के साथ भी

श्रुतकेवलित्व की व्याप्ति नहीं है, अन्यथा जो रत्नत्रय धारक श्रमण हैं वे सभी श्रुतकेवली कहलायेंगे। रत्नत्रय के बिना भी श्रुतकेवलित्व सम्भव नहीं है। अतः रत्नत्रय के अतिरिक्त अन्य साधन भी आवश्यक होते हैं जो श्रुतकेवलित्व की भूमिका का निर्माण करते हैं। निर्विकल्प समाधि के लिए प्रमाद बाधक तत्त्व है। बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका में श्रीब्रह्मदेवसूरि ने प्रमाद की व्याख्या की है। **कः प्रमादः ? तस्य कति प्रकाराः सन्ति ? प्रमादः शुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः** होता है। प्रमाद दो प्रकार का है– १. बाह्य प्रमाद २. आभ्यन्तर प्रमाद। **बहिःप्रमादस्तु मूलोत्तरगुणमलजनकः** बाह्य प्रमाद मूलगुण और उत्तरगुणों में मल (दोष) या अतिचार उत्पन्न करता है। **आभ्यन्तरप्रमादस्तु शुद्धात्मानुभूति-चलनरूपः।** आभ्यन्तरप्रमाद शुद्धात्मानुभूति की स्थिरता नहीं रहने देता। उससे चलायमान कर देता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने भी प्रमाद को परिभाषित करते हुए सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में लिखा है– **कुशलेष्वनादरः प्रमादः** जो कुशल अर्थात् आत्मतत्त्व में अनादर करता है वह प्रमाद है। प्रमाद अन्य प्रकार से भी दो भेदयुक्त होते हैं–१. ध्यानकृत प्रमाद, २. समितिकृत प्रमाद। ध्यानकृत प्रमाद निवृत्ति के काल में होता है और समितिकृत प्रमाद प्रवृत्ति के समय होता है। निवृत्ति के समय ध्यान से स्खलन रूप या शुद्धात्मानुभूति से चलन रूप प्रमाद होता है। यह तो अनिवार्य है। चिर प्रव्रजित साधु भी हो, पूर्वकोटि काल तक मुनित्व धारण किये हुए हो, कामदेव हो, चक्रवर्ती हो, यहाँ तक कि तीर्थंकर भी क्यों न हो, अन्तर्मुहूर्त उपरान्त सभी का नियम से छठवाँ–सातवाँ गुणस्थान परिवर्तन होता ही है। जैसे घड़ी के पेण्डुलम को इधर–उधर घूमना अनिवार्य होता है उसी प्रकार छठवाँ–सातवाँ गुणस्थान परिवर्तन अनिवार्य होता है। तदुपरान्त ही श्रेणी चढ़ने की भूमिका तैयार होती है। इसके बिना श्रेणी आरोहण सम्भव नहीं।

उत्थानिका–भावश्रुतकेवली कहो या निश्चयश्रुतकेवली एक ही बात है। इस गाथा के द्वारा निश्चयश्रुतकेवलित्व का कथन किया गया। गाथा में भावश्रुतकेवली शब्द तो नहीं आया, द्रव्यश्रुतकेवली शब्द भी नहीं आया। निश्चय और व्यवहार शब्द भी नहीं आया। गाथा में तो मात्र **सुदकेवली** शब्द आया है। व्यवहार को कारण और निश्चय को कार्यरूप माना है। टीकाकार श्री जयसेनस्वामी जी ने टीका में स्पष्ट लिखा है–**अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम्** अर्थात् इस गाथा के द्वारा निश्चयश्रुतकेवली का लक्षण कहा है। आगे व्यवहारश्रुतकेवली का लक्षण कहते हैं–

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
सुदणाणमादसव्वं जह्मा सुदकेवली तह्मा ॥१०॥

अन्वयार्थ–(जो) जो जीव **(सव्वं)** समस्त **(सुदणाणं)** श्रुतज्ञान (द्वादशांग–द्रव्यश्रुत) को **(जाणदि)** जानता है **(तं)** उसे **(जिणा)** जिनदेव **(सुदकेवलिं)** श्रुतकेवली (व्यवहार श्रुतकेवली) **(आहु)** कहते हैं। **(जम्हा)** क्योंकि **(सव्वं)** सम्पूर्ण **(सुदणाणं)** श्रुतज्ञान (द्रव्यश्रुतज्ञान के आधार से

उत्पन्न भावश्रुत) **(आद)** आत्मा है **(तम्हा)** इस कारण **(सुदकेवली)** श्रुतकेवली है।

अर्थ—श्रुतज्ञान के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्यश्रुतकेवली कहते हैं। यतः सब ज्ञान आत्मा है, अतः आत्मा को ही जानने से श्रुतकेवली कहा जा सकता है।

जाना समस्त श्रुत को श्रुतकेवली हैं,
ऐसे महेश कहते जिन केवली हैं।
औचित्य ज्ञानमय आतम है सदी से,
हैं वन्द्य द्रव्यश्रुतकेवलि वो इसी से ॥१०॥

व्याख्या—जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है अथवा द्रव्य श्रुत के माध्यम से जो सभी पदार्थों को जानता है वह श्रुतकेवली कहलाता है। श्रुतज्ञान को जानने वाला श्रुतकेवली होता है क्योंकि **सुदणाणमादसव्वं** श्रुतज्ञान आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता अतः जो आत्मसंवित्ति और पर की परिच्छित्ति को विषय करने वाला होता है वह द्रव्यश्रुतकेवली होता है। उक्त गाथा में निश्चयश्रुतकेवली के लक्षण में बतलाया था कि जो श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जानता है लेकिन इस गाथा में व्यवहारश्रुतकेवली के लक्षण में यह स्पष्ट किया है कि श्रुतज्ञान आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता, इसलिए यह मात्र आत्मा को न जानकर सबको जानता है। गणधर परमेष्ठी जिस समय उपदेश देते हैं उस समय द्रव्यश्रुतकेवली तो हो सकते हैं, किन्तु आत्मतत्त्व के ज्ञाता एवं श्रद्धानी होते हुए भी अनुभवकर्त्ता या भावश्रुतकेवली नहीं होते, क्योंकि जिस समय श्रुतज्ञान के माध्यम से उपदेश दिया जाता है उस समय निर्विकल्प समाधि की अवस्था नहीं होती। आहार, विहार आदि किसी भी प्रवृत्ति के समय रत्नत्रय होते हुए भी आत्मा का श्रद्धान होने के बाद भी आत्मानुभूति के योग्य निर्विकल्पसमाधि की दशा नहीं रहती, अतः श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मसंवित्ति नहीं होती। श्रद्धान होना अलग है और अनुभूति होना अलग है।

कुछ स्वाध्याय करने वाले यह समझते हैं कि अप्रमत्त अवस्था ध्यानात्मक ही होती है, ऐसा नहीं है। अप्रमत्त गुणस्थान निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों अवस्थाओं में होता है। प्रवृत्त्यात्मक अप्रमत्तगुणस्थान को कैसे समझें ? जैसे—कोई मुनिराज एषणासमिति पूर्वक आहार कर रहे हैं। जब मुनिराज शोधन करते हैं तब उनकी अप्रमत्त दशा मानी जा सकती है और जब श्रावक के समक्ष ग्रास लेने हेतु अंजुलि खोलते हैं तब आहारसंज्ञा के प्रतीक के रूप में प्रमत्तगुणस्थान माना जायेगा। जिह्वा पर ग्रास रखना प्रमत्त अवस्था और यह मीठा है, यह खट्टा है आदि रस की ओर ध्यान नहीं जाने से अप्रमत्त अवस्था कह सकते हैं। इसी तरह विहार की क्रिया में पैर उठाने की इच्छा प्रमत्त अवस्था और आगम की आज्ञा पूर्वक निर्दोष ईर्यासमिति से चलना अप्रमत्त अवस्था है। गुप्ति के काल में निवृत्ति स्वरूप अप्रमत्त अवस्था होती है, उस समय निर्विकल्प समाधि में उपेक्षासंयम, शुद्धोपयोग, अभेद रत्नत्रय होता है, वहाँ ग्रहण

और त्याग रूप कोई क्रिया नहीं होती।

द्रव्यश्रुतकेवली या व्यवहारश्रुतकेवली–

जो द्वादशांग रूप सम्पूर्ण श्रुत को जानते हैं वे व्यवहार श्रुतकेवली होते हैं। व्यवहारश्रुतकेवली भी रत्नत्रय के धारक होते हैं। वे भी श्रमण होते हैं। अतः उन्हें झूठा नहीं कह सकते। श्रुतकेवली के निकट देवगण भी श्रुतदेवता की पूजा के लिए आते हैं। ग्यारह अंग, नव पूर्व तक अध्ययन होने तक कोई देव नहीं आते, किन्तु दसवें पूर्व में भिन्नदशपूर्वी और अभिन्नदशपूर्वी हो जाते हैं। तब देव आते हैं। इसके उपरान्त जब सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान हो जाता है तब भी देवगण आते हैं। ऐसा क्यों होता है? दसवें पूर्व में प्रवेश होने तक मिथ्यादृष्टि भी रह सकते हैं, लेकिन दसवें पूर्व का पूर्ण अध्ययन सम्यग्दृष्टि ही कर पाते हैं। उनके समक्ष एक साथ बारह सौ विद्याएँ उपस्थित होती हैं। उनको देखकर यदि उनका झुकाव विद्याओं की ओर हो जाता है या वे विद्याओं से प्रभावित हो जाते हैं, तो उसी समय से भिन्नदशपूर्वी मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। यह उनकी परीक्षा का समय होता है। यदि विद्याओं के प्रति झुकाव नहीं होता तो अभिन्नदशपूर्वी सम्यग्दृष्टि होकर आगे श्रुत को पूर्णतः जानने में समक्ष होते हैं तभी सम्पूर्ण श्रुतकेवली संज्ञा को प्राप्त होते हैं। उस समय भी देवगण श्रुत और श्रुतकेवली की पूजा करते हैं। जिनके पास श्रुत तो है लेकिन मिथ्यादृष्टि हैं तो उनकी देवगण पूजा नहीं करते। इसका अर्थ यह नहीं समझना कि ११ अंग और नव पूर्व अपूज्य हो गए, ऐसा नहीं मानना, किन्तु श्रुत का आधार सम्यक् नहीं है, इसलिए वे पूज्य नहीं होते। दसवें विद्यानुवादपूर्व के पहले सम्यग्दृष्टि भी हैं, नव पूर्व का ज्ञान हो गया तो भी देवगण पूजा करने नहीं आते। विद्यानुवाद पूर्व में पास होने पर ही पूजा के लिए देव आते हैं। अतः पूर्ण द्वादशांग श्रुत उसी को प्राप्त होता है, जो सम्यग्दृष्टि हो लेकिन जब तक रत्नत्रय की आराधना नहीं होती, तब तक देवगण पूजा नहीं करते। इसलिए द्रव्यश्रुतकेवली यूँ ही हो जाते हो, ऐसा नहीं है, किन्तु रत्नत्रय की आराधना भी आवश्यक है।

द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत–द्रव्यश्रुत शब्दात्मक होता है जबकि भावश्रुत ज्ञानात्मक होता है। द्रव्यश्रुत के आधार से भावश्रुत उत्पन्न होता है। इससे यह अर्थ लेना चाहिए कि पूर्ण द्रव्यश्रुत होना ही आवश्यक हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि जघन्य श्रुत भी हो सकता है। केवली की बात अलग है, लेकिन सारे के सारे द्रव्यश्रुतकेवली होकर ही केवली बनते हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। जैसे शिवभूति मुनिराज को शब्दात्मक श्रुत की अपेक्षा देखें तो "मा रुष मा तुष" उन्हें इतना ही पर्याप्त था। तुषमासभिन्नं इस प्रसंग में तुष और माष भिन्न है, इससे भेदविज्ञान जागृत हो गया। उन्हें यह भी याद नहीं था किन्तु उन्हें तुषमासं भिन्नं याद रहा। बाद में केवलज्ञान हो गया। उनके पास अक्षरश्रुतज्ञान या जिनवाणी गत अक्षरश्रुतज्ञान नहीं था, फिर भी बीजभूत श्रुत ही उन्हें भावश्रुत होने के लिए पर्याप्त था। द्रव्यश्रुत के आधार से भावश्रुत उत्पन्न होता है इसका इतना ही तात्पर्य है। भावश्रुत क्या है ? इसके बारे में आगम के आधार से कुछ स्पष्ट करूँगा।

विशेष चिन्तन—अक्षरज्ञान और अक्षरश्रुतज्ञान में बहुत अन्तर है। अक्षरज्ञान का अर्थ तो यही है कि ग्रन्थ में लिखे हुए शब्द या अक्षर, जिनके द्वारा वाच्य का ज्ञान होता है। अक्षरश्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो श्रुतज्ञान प्राप्त होता है वह अक्षरश्रुतज्ञान होता है। जैसे–एक पद में कितने अक्षर होते हैं ? यह अक्षरश्रुतज्ञान अक्षरज्ञान से भिन्न है। अक्षरश्रुतज्ञान लोकव्यवहार चलाने के लिए विचारों के आदान-प्रदान में शब्दात्मक रूप से सहयोगी होता है। द्रव्यश्रुत शब्दात्मक होता है उससे भावश्रुत उत्पन्न होता है। वाचक शब्दों से वाच्य अर्थ की ओर ज्ञानात्मक गति होती है। यह तो सामान्य द्रव्य और भावश्रुतज्ञान है। लेकिन 'समयसार' में भावश्रुतज्ञान को आत्मा का संवेदक कहा है।

जिज्ञासा—जिस समय भावश्रुतज्ञान होता है उस समय उपयोग कौन सा होता है ?

समाधान—एक-एक अन्तर्मुहूर्त में उपयोग परिवर्तन होता है। छद्मस्थ अवस्था में दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। यदि दर्शनोपयोग है तो ज्ञानोपयोग नहीं होता और ज्ञानोपयोग है तो दर्शनोपयोग नहीं होता। इस नियमानुसार सहज ही एक प्रश्न होता है कि जिस समय भावश्रुतज्ञान होता है उस समय ज्ञानोपयोग होता है या दर्शनोपयोग ? यदि कोई कहता है कि उस समय ज्ञानोपयोग होगा चूँकि भावश्रुतज्ञान की विवक्षा है। तब पुनः प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि जब ज्ञानोपयोग के पश्चात् दर्शनोपयोग होगा तो उस समय क्या भावश्रुत समाप्त हो जायेगा ? अतः आचार्यों ने भावश्रुत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि भावश्रुत का अर्थ है, ध्यान या उपयोग की संयत अवस्था। उपयोग चाहे ज्ञानोपयोग हो अथवा दर्शनोपयोग। उपयोग की निर्विकल्प या संयत अवस्था का नाम भावश्रुत है। आगम में कहा है कि भावश्रुत ज्ञान के माध्यम से केवलज्ञान होता है, द्रव्यश्रुतज्ञान आवश्यक है, ऐसा नहीं कहा। भावश्रुत का अर्थ है ध्यान। ध्यान भावश्रुतज्ञानात्मक ही होगा। भावश्रुत, द्रव्यश्रुत के आधार से होगा। लेकिन ध्यान या भावश्रुत के समय मात्र ज्ञानोपयोग ही रहेगा यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सबसे बड़ा दोष यह आता है कि जब दर्शनोपयोग होगा उस समय भावश्रुत रहेगा या नहीं ? निर्विकल्प ध्यान रहेगा या नहीं ? यदि भावश्रुत के समय मात्र ज्ञानोपयोग मानेंगे तो अव्याप्ति दोष आयेगा। अतः आगम में भावश्रुतज्ञान के लिए ध्यान की प्रणाली, संयत उपयोग, निर्विकल्प-समाधि, निर्विकार निराकार आदि नामों से भी घोषित किया है। निर्विकार अर्थात् कोई विकार नहीं, निर्विकल्प अर्थात् विषय कषाय आदि का कोई विकल्प नहीं। वीतराग ज्ञानोपयोग ही केवलज्ञान का कारण है, ऐसा नहीं किन्तु वीतराग दर्शनोपयोग भी कारण होता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए साकारोपयोग आवश्यक है लेकिन निष्ठापन दर्शनोपयोग के समय भी हो सकता है। **जयधवल** इत्यादि ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि दर्शनोपयोग के साथ भी उपशमश्रेणी का प्रारम्भ हो सकता है। उपशमश्रेणी ध्यानात्मक होती है। उस समय भावश्रुत भी रहता ही है। अतः भावश्रुत ज्ञानोपयोग में ही होता है, यह नहीं कहना चाहिए। यह भावश्रुत द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य अक्षरश्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त श्रुत से नहीं

है, किन्तु अर्थ, व्यंजन, योग संक्रान्ति तथा बोलचाल की भाषा के अक्षरों से है। **द्रव्यसंग्रह** ग्रन्थ में भी कहा है–**अण्णं च गुरूवदेसेण** अर्थात् गुरु पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य मन्त्र भी दे सकते हैं, जिसकी एकाग्रता से भावश्रुत की उत्पत्ति या ध्यान में स्थिरता हो सकती है। वही केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण हो सकता है। जैसे–शिवभूति महाराज को मन्त्र मिला था **मा रुष मा तुष** अर्थात् राग मत करो, द्वेष मत करो। यह भी उन्हें ज्यों का त्यों याद नहीं रहा। तो तुषमासभिन्नं बना दिया। इससे भी उनका काम हो गया। उससे ही उन्हें भावश्रुतज्ञान उत्पन्न हो गया। ज्ञान कहते ही ज्ञानोपयोग को ग्रहण करना ठीक नहीं क्योंकि जानाति अनुभवति भी कहा है। ज्ञा धातु अनुभूति अर्थ में भी स्वीकार की गई है। अत: भावश्रुत का अर्थ है जो आत्मा की अनुभूति करता है। आत्मा को सम्वेदित करता है या आत्मा को अपना विषय बनाता है। जबकि द्रव्यश्रुत केवली छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय, तीन लोक आदि को विषय बनाता है। जिस समय इन सबके प्रति विशेष जानकारी में उपयोग रहता है, उस समय स्वसंवेदनात्मक निर्विकल्पसमाधि या भावश्रुतज्ञान की अवस्था नहीं रहती। इसलिए वह द्रव्यश्रुत केवली अथवा व्यवहारश्रुतकेवली संज्ञा को प्राप्त होता है। उस समय वह रत्नत्रय धारी है, महान् द्रव्यश्रुतकेवलित्व को प्राप्त है, श्रमणों में भी श्रमणोत्तम माना जाता है।

जिज्ञासा—स्वसंवेदन के बल से वर्तमान काल में भी श्रुतकेवली होना चाहिए ?

समाधान—तन्न, अर्थात् नहीं हो सकते, क्योंकि **यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्मध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थ:।** अर्थात् जिस प्रकार पूर्वपुरुषों को शुक्लध्यानात्मक स्वसंवेदनज्ञान था वैसा आज नहीं है। आज यथायोग्य धर्मध्यानात्मक स्वसंवेदनज्ञान तो है लेकिन शुक्लध्यान नहीं होने से श्रुतकेवलित्व नहीं हो सकता। यह प्रसंग बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि कोई धर्मध्यान के काल में श्रुतकेवलित्व सिद्ध करना चाहे तो वह आगम विरुद्ध है।

धर्मध्यान भी दो प्रकार का होता है–१. सराग, २. वीतराग। सरागसम्यग्दृष्टि का धर्मध्यान सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टि का वीतराग धर्मध्यान होता है। वीतराग सम्यग्दर्शन का अर्थ क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन तो भरत चक्रवर्ती आदि को भी चतुर्थगुणस्थान में होता है किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन तो वीतराग चारित्र का अविनाभावी होता है। आगम में अनेक स्थलों पर इस विषय को स्पष्ट किया है। आगे इसी ग्रन्थ में आस्रवाधिकार में गाथा नं० १८४-१८५ की टीका में **आचार्य जयसेन स्वामी** जी ने लिखा है कि–**शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्य-स्वकीयशुद्धात्मसमाधिसञ्जातसहजानन्दैकस्वलक्षणसुखानुभूतिमात्रस्वरूपाप्रमत्तादि-गुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतु:।**

अर्थात् शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा के उपादेय होने पर उस योग्य शुद्धात्म समाधि से उत्पन्न सहज आनन्द एक स्वलक्षण रूप सुखानुभूति स्वरूप अप्रमत्तादि गुणस्थान में रहने वाला वीतराग चारित्र का अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व अन्यथा उत्पन्न हो नहीं सकता। इस प्रकार का स्पष्ट विवेचन

अनेक स्थलों पर है।

इस प्रकार दो गाथाओं द्वारा निश्चय श्रुतकेवली एवं व्यवहारश्रुतकेवली की व्याख्या पूर्ण हुई। इन्हें ही भावश्रुतकेवली एवं द्रव्यश्रुतकेवली संज्ञा प्राप्त है।

विशेष भावानुभूति—उक्त व्याख्यान के अवलोकन से बार-बार विचार आता है कि आचार्यों ने इतना सुन्दर व्याख्यान करके हम सभी पर कितना उपकार किया है। विषयों का कितना स्पष्ट विवेचन किया है। इस श्रुतदेवता की आराधना करने बैठ जाते हैं तो बाहर क्या हो रहा है कुछ पता ही नहीं चलता। गाथाओं के चिन्तन के समय शब्दों के अर्थों की ओर जब ध्यान एकाग्र होता है तब उपयोग में साक्षात् निर्विकल्प समाधि जैसा आनन्द आता है। जब चिन्तन में इतना आनन्द आता है तो वास्तव में जब निर्विकल्प समाधि स्वरूप उपयोग होता होगा तब कितना आनन्द आता होगा। चिन्तन में एकाग्रता के समय शरीर भी अड़ोसी-पड़ोसी जैसा हो जाता है। किसी साधक में यदि शारीरिक अनुकूलता नहीं है अर्थात् ढाई घण्टे की सामायिक या ध्यान आदि नहीं कर सकते, डॉक्टर ने ज्यादा देर बैठने का निषेध किया है। रीढ़ की हड्डी में कोई परेशानी है इत्यादि तो ऐसे समय श्रद्धान आस्था अथवा धारणा के माध्यम से आत्मरुचि, आत्मसाधना को जागृत करना चाहिए। ऐसी धारणा बनाना चाहिए कि आत्मा के पास अनन्त गुणों का वैभव है। धारणा के बल पर धीरे-धीरे वैभव से परिचय बढ़ता चला जाता है। आत्मरुचि बढ़ती चली जाती है फलतः रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग प्रशस्त होता जाता है। साधक आनन्द पूर्वक मोक्षपथ पर आह-वाह के बिना अथक-अरुक अबाधगति से बढ़ता चला जाता है। इस विषय में दो पंक्तियाँ हैं–

थकता रुकता कब कहाँ, ध्रुव में नदी प्रवाह।
आह वाह परवाह बिन, चलें सूरि शिव राह ॥४६॥ सूर्योदय शतक

साधक को सन्मार्ग पर चलने का इसी प्रकार उत्साह होना ही चाहिए। साधक को हमेशा-हमेशा आत्मानुभव नहीं होता, हमेशा निर्विकल्प समाधि नहीं रहती। इसलिए निश्चय श्रुतकेवलित्व से या भावश्रुतज्ञान से बाहर आना पड़ता है। बाहर आये बिना उसमें हमेशा नहीं रह सकता। साधना के क्षेत्र में ऊपर उठने के लिए अनेक आयाम किये जाते हैं। तब कहीं साधक साधना की ऊँचाईयों का स्पर्श कर पाता है। जैसे–आपको पर्वत के शिखर पर चढ़ना है, तो वहाँ सीधे ही नहीं पहुँच जाते हैं किन्तु वहाँ पहुँचने के लिए रास्ता भी घुमावदार होता है। दूरी ज्यादा हो सकती है। लेकिन चक्कर आने से बच जाते हैं। चक्कर को बचाने के लिए पर्वत का चक्कर लगाना पड़ता है। ऊपर पहुँचने पर नीचे नहीं देखना, क्योंकि ऊपर से नीचे देखने पर चक्कर आते हैं। अतः यहाँ ऊँचाई पर कैसे चढ़ेंगे ? इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि श्रुत के माध्यम से बाह्य द्रव्यों को सम्यक् प्रकार से जानो लेकिन इधर-उधर बाह्य पदार्थों में अपना उपयोग मत उलझाओ। जो द्रव्यश्रुत केवली होते हैं वे अपने श्रुतज्ञान से ए टू जेड समस्त पदार्थों को जानते हैं। पर पदार्थों को जानने से उन्हें यह ज्ञात हो जाता है कि भैय्या!

इन सबमें कोई सार नहीं है। पर पदार्थों को जानते हुए कितना भी काल व्यतीत करो, उससे केवलज्ञान नहीं होगा। गणधर परमेष्ठी को भी केवलज्ञान नहीं हुआ। भगवान् महावीर के मुक्त हो जाने पर उन्हें दिशाबोध प्राप्त हो गया। ज्यों ही प्रातः भगवान् महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त हुआ, अपनी ओर दृष्टि गई तो शाम को गणधर परमेष्ठी को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। यही सबकी दशा है भैय्या, अपनी ओर दृष्टि नहीं जाने से आज तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ।

संसार की वास्तविकता से परिचय नहीं होने के कारण व्यक्ति आपस में यह मानकर चलते हैं कि ''हम आपके और आप हमारे'' और किसी से कोई मतलब नहीं। ऐसी मान्यता वालों से आचार्य कहते हैं, यह तो महान् संकीर्णता है। या तो यह स्वीकार करो, कि ''सभी हमारे हैं और हम सभी के हैं'' अन्यथा ''ना हम किसी के ना कोई हमारा'' यह स्वीकार करो, क्योंकि श्रमण जब अन्तरात्मध्यान में तल्लीन रहते हैं तब उनके साथ ''ना हम किसी के ना कोई हमारा'' यह अध्यात्म घटित होता है। लेकिन वे ही श्रमण जब ध्यान से बाहर आते हैं तब उनके साथ **वसुधैव कुटुम्बकम्** व्यवहार घटित होता है **सत्त्वेषु मैत्रीं** प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का व्यवहार होता है। **वे श्रमण साधक बाहर आते हैं तो उनके जीवन में मूलाचार और भीतर चले जाते हैं तो समयसार घटित होता है।** बाहर आते हैं तो कोई भी द्रव्य का चिन्तन करते हैं और भीतर चले जाते हैं तो आत्मा का चिन्तन करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने **समयसार** ग्रन्थ में अध्यात्म रस का पान करते हुए आध्यात्मिक गाथाओं की संरचना की है। इन गाथाओं के रहस्यों को उद्घाटित करते समय ऐसा लगता है मानों अभी-अभी ताजी रसोई बनकर आई है। जब अपने को उन गाथाओं के रहस्योद्घाटन में अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है तब स्वयं आचार्य भगवान् को कितना आनन्द आया होगा। उन्हें कैसा अनुभव हुआ होगा ? तत्त्व क्या है ? धर्म क्या है ? पुण्य क्या है ? पाप क्या है ? उन्होंने इन समस्त प्रश्नों के समाधान दिए हैं। स्व क्या है ? पर क्या है ? किस समय किसका अवलम्बन होता है यह भी स्पष्ट किया है। दूसरे का केवलज्ञान भी पर है, यह अपने आपमें अद्भुत तत्त्व है। दूसरे के केवलज्ञान से मेरा कुछ होने वाला नहीं है। मुझे तो अपने ही केवलज्ञान या क्षायिकज्ञान का अनुभव होगा। अपने ही भावों का, अपने ही श्रुतज्ञान के माध्यम से स्वाद ले सकूँगा। अन्य केवली भगवान् के दिव्यध्वनि द्वारा उपदेशित तत्त्वज्ञान से हम अपने तत्त्व पर विश्वास तो कर सकते हैं, किन्तु उस तत्त्व की अनुभूति तभी कर पायेंगे, जब हम स्वयं उसकी गहराई में उतरेंगे। चाहे केवली भगवान् के चरणों में हों चाहे अन्यत्र कहीं भी हों साधक स्वयं निर्विकल्प हुए बिना स्वसंवेदन नहीं कर सकते। केवली भगवान् के चरणों में क्षायिक सम्यग्दर्शन तो हो सकता है, क्योंकि वह विकल्पात्मक अवस्था में हो सकता है। कैसे विकल्प ? ये हमारे लिए शरणभूत हैं ? इनके चरणों में मेरा कल्याण होगा। इनकी निकटता मेरी आत्मसन्निधि में कारण है इत्यादि। लेकिन स्वानुभूति के लिए सबका आधार छोड़कर अपने आपमें

आना होगा। आत्मसंवेदन निर्विकल्प ध्यान के साथ होता है।

निर्विकल्प का अर्थ क्या है?

इस विषय का आगे कथन करेंगे फिर भी प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि रागद्वेष, तेरा-मेरा, अच्छा-बुरा इत्यादि भाव रूप जो विकल्प हैं उनका नहीं होना। रागद्वेषादि रहित ज्ञान वीतराग विज्ञान है या निर्विकार ज्ञान है। अप्रमत्त अवस्था में मेरा-तेरा, अच्छा-बुरा नहीं चलता किन्तु वस्तु क्या है? कैसी है? इत्यादि ज्ञान तो होता है। जैसे-यह पेंसिल है, यह पेंसिल का ज्ञान है। पेंसिल को पेंसिल कहना यह ज्ञान है लेकिन यह मेरी है या अच्छी है यह मोह और राग हो गया। प्रमाद की भूमिका में रागद्वेषात्मक भाव होता है। मोह हमेशा विपरीत भाव पैदा करता है। पेंसिल को पेंसिल कहना यह वस्तु विज्ञान है, याथातथ्य है, किन्तु मेरा, तेरा या अच्छे-बुरे का भाव होना वास्तविक वस्तुविज्ञान नहीं है, याथातथ्य रूप नहीं है। सम्यग्ज्ञान का लक्षण बतलाते हुए **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** जी ने **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** के द्वितीय अधिकार में एक कारिका लिखी है-

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेदयदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

अर्थात् जो वस्तु को न्यूनता एवं अतिरिक्तता से रहित, याथातथ्य, विपरीतता से रहित एवं सन्देह से रहित जानता है उसे आगम के ज्ञायकों ने ज्ञान कहा है।

मोह, राग, द्वेष ये तीनों ज्ञान को विकल्पात्मक एवं विपरीतता से युक्त करते हैं। इनके द्वारा ज्ञान में स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व का विकल्प बना रहता है। कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्ट कल्पना के साथ जब ज्ञान का विषय बनता है तो इसे मोह की देन समझना चाहिए। इष्ट की ओर प्रवृत्ति राग का प्रतीक है और उसके प्रतिकार स्वरूप अनिष्ट की ओर प्रवृत्ति होना द्वेष का प्रतीक है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति होने से साधक वीतराग धर्मध्यान से दूर हो जाता है। सप्तम गुणस्थान में अप्रमत्त संयत मुनिराज का बहिर्मुखी उपयोग न होकर आत्मोन्मुखी उपयोग होता है। इस गुणस्थान में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं होती। यही ज्ञान की निर्विकल्प अवस्था है।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहारश्रुतकेवली का व्याख्यान करने वाली दो गाथाओं द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब आगे गाथा के पूर्वार्द्ध से भेदरत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध से अभेदरत्नत्रय की भावना का वर्णन किया जाता है-

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥११॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय से **(णाणह्मि)** ज्ञान में **(दंसणे चरित्ते य)** दर्शन और चरित्र में **(भावणा)** भावना **(कादव्वा)** करनी चाहिए **(पुण ते तिण्णिवि आदा)** और ये तीनों भी आत्मा हैं

(तह्मा) इसलिए **(आदे)** आत्मा में **(भावणं)** भावना **(कुण)** करो।

अर्थ—ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में दृढ़ता से भावना करनी चाहिए क्योंकि ये तीनों आत्मा के स्वरूप हैं। इसलिए आत्मा की भावना बार-बार करनी चाहिए।

सौभाग्य! बोध दृग की समुपासना हो,
चारित्र की बस निरन्तर साधना हो।
तीनों अभिन्न गुण आतम के इसी से,
हो जा विलीन निज आतम में रुची से ॥११॥

व्याख्या—ज्ञान, दर्शन, चारित्र यह रत्नत्रय माना जाता है। गुणों की मुख्यता से गाथा के पूर्वार्द्ध से कहा है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की भावना करनी चाहिए। गुणों का अस्तित्व किसी न किसी आधार में होता है। **तत्त्वार्थसूत्र** के पंचम अध्याय में **द्रव्याश्रया: निर्गुणा गुणा:** इस सूत्र से स्पष्ट किया है कि गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण भी आत्मा के आश्रय से रहते हैं। अत: गुणी की मुख्यता से गाथा के उत्तरार्द्ध में आचार्यदेव ने आत्मतत्त्व की आराधना या भावना करने का वर्णन किया। आत्मतत्त्व की आराधना करने से दर्शनादि तीनों गुणों की आराधना हो जाती है।

विश्व में अनेक मत वाले विचारक और दार्शनिक हैं। मुख्यत: षड्दर्शन से तो सभी परिचित हैं। ये सभी दर्शन वाले द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, तत्त्व, पदार्थ आदि को किसी न किसी प्रकार से स्वीकार किए हैं। किन्हीं ने सामान्य विशेष, द्रव्य गुण आदि को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है। पश्चात् समवाय सम्बन्ध के द्वारा द्रव्य और गुण का समन्वय स्वीकार करते हैं। समवाय सम्बन्ध को एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। जैसे-दो पेज को गोंद से चिपकाते हैं तो वे एक हो जाते हैं। उसी प्रकार जीव द्रव्य में ज्ञान गुण का समवाय सम्बन्ध के द्वारा एकत्व हो जाता है। समवाय सम्बन्ध गोंद के समान काम करता है। एक प्रश्न सहज ही आता है कि इस प्रक्रिया से पूर्व जीवद्रव्य चेतन था या अचेतन ? ज्ञान के समवाय होने से पूर्व यदि आत्मा चेतन था तो ज्ञान के द्वारा क्या विशेषता आई? और यदि अचेतन था तो ज्ञान का समवाय आत्मद्रव्य में ही क्यों होता है अन्य अचेतन द्रव्यों के साथ क्यों नहीं होता ? यदि अन्य अचेतन द्रव्यों के साथ ज्ञान का समवाय होता तो सभी द्रव्य ज्ञानवान हो जाते, फिर आत्मद्रव्य की कोई विशेषता नहीं रहती। जैनदर्शन में ये सभी प्रश्न सामने नहीं आते क्योंकि जैनदर्शन में द्रव्य-गुण, सामान्य-विशेष आदि को प्रदेशों की अपेक्षा अभेदस्वरूप एवं संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेदस्वरूप स्वीकार किया गया है। अत: उनमें समवाय सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। तब उससे सम्बन्धित प्रश्नावली भी नहीं रहती।

मोक्ष के लक्षण के विषय में भी अनेक मत हैं। कोई ज्ञानादि विशेष गुणों के अभाव को मोक्ष मानते हैं। इस परिभाषा के अनुसार यदि हम विचार करें तो जैनदर्शन में भी यह लक्षण कथंचित् घटित होता है। वैसे तो उन दोनों में यह विशेष अन्तर है कि वे ज्ञानादि विशेष गुणों का क्षय मानते हैं, जबकि

जैनदर्शन में ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय को मोक्ष मानते हैं। ज्ञानादि गुणों के अभाव का प्रसंग भी इस प्रकार घटित होता है कि क्षयोपशम रूप जो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारों ज्ञानों का मोक्ष में सद्भाव नहीं रहता किन्तु मोक्ष होने के पूर्व ही इनका अभाव हो जाता है। फिर भी केवल ज्ञानगुण तो रहता ही है। पूर्णतः ज्ञानगुण का अभाव नहीं माना जाता, क्योंकि ज्ञान गुण के अभाव में आत्मा का जानना-देखना स्वभाव ही समाप्त हो जायेगा। ऐसा मानने पर आत्मा और अन्य द्रव्यों की विशेष भेद रेखा समाप्त हो जायेगी। जैनदर्शन का समीचीन रूप से अध्ययन करने पर तत्त्वव्यवस्था में कहीं कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि यह अनेकान्तमय दर्शन है। जहाँ एकान्त का आग्रह होता है वहाँ विरोध होता ही है लेकिन अनेकान्तमय दर्शन में कोई आग्रह नहीं होता। आग्रह नहीं होने से विरोध भी नहीं होता। फिर अल्पज्ञानी पक्ष आग्रही, अनेकान्त स्वरूप वस्तु व्यवस्था को नहीं समझने के कारण अनेक आग्रहों को उपस्थित करते हैं और परस्पर में विरोधी बन जाते हैं। इस चर्चा को यहीं विराम दिया जाता है।

यहाँ भेद रत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय स्वरूप आत्मभावना का प्रसंग है। भेदरत्नत्रय में दर्शन, ज्ञान, चारित्र भेद रूप होते हैं। जबकि अभेद रत्नत्रय में तीनों गुण पृथक् रूप से विवक्षित न होकर आत्मा के साथ अभेद स्वरूप से स्वीकार किए जाते हैं। भेद रत्नत्रय व्यवहारनय का विषय होता है तथा अभेद रत्नत्रय निश्चयनय का विषय होता है। निश्चयनय का आश्रय लेने वाला तीनों की समष्टि या तीनों का आधार स्वरूप आत्मतत्त्व को स्वीकार करता है। वह आत्मद्रव्य को मुख्य बनाकर चलता है। उसी में उपयोग स्थिर करता है। वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र में भेद ग्रहण करके अपने उपयोग को अस्थिर नहीं करता। अभेद में एकाग्रदृष्टि होने से उपयोग चंचल नहीं होता किन्तु भेददृष्टि में उपयोग चंचल होता है। इसलिए अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पृथक् आराधना को मुख्यता न देकर आत्मतत्त्व की आराधना को मुख्यता दी गई है। आचार्य कहते हैं कि चंचलता या अस्थिरता ध्यान में बाधक होती है। अतः ध्यान को स्थिर या एकाग्र बनाना चाहते हो तो द्रव्य को, आधार को अथवा अभेद को अपनाओ। अभेद को विषय बनाना और अभेद में भेद करके विषय बनाना दोनों में अन्तर है।

दृष्टान्त—सामान्यतः व्यक्ति के पास दो आँखें होती हैं। वह किसी भी वस्तु को एक आँख से नहीं किन्तु दोनों आँखों से एक साथ देखता है। लेकिन जब आँखों का परीक्षण होता है उस समय डॉक्टर के अनुसार एक आँख पर पट्टी बाँध दी जाती है या हाथ से बंद करने को कहते हैं। एक आँख से देखने पर ही उसका परीक्षण होता है। एक आँख बन्द कर देने से जिससे देख रहे हैं उसका सही-सही नम्बर पता चल जाता है। दोनों आँखों का एक साथ सही-सही नम्बर नहीं आता। दोनों का सही-सही नम्बर आने के उपरान्त चश्मा भी सही-सही कार्य करता है। नम्बर आने के बाद दोनों आँखें मिलकर चश्मे से वस्तु का सम्यक् और स्पष्ट अवलोकन करती हैं। अतः आँख के परीक्षण के समय

एक-एक का प्रयोग पृथक्-पृथक् रूप से किया जाता है लेकिन वस्तु के सम्यक् अवलोकन के लिए दोनों आँखों का मिलकर देखना अनिवार्य होता है। उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों नय परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखकर वस्तुतत्त्व का सम्यक् प्ररूपण करते हैं। दोनों नय सापेक्ष रहकर ही वस्तु को समीचीन रूप से जानते हैं। एक-एक नय निरपेक्ष होकर वस्तु को पूर्णतः सम्यक् रूप से नहीं जान सकते। लेकिन वस्तु की प्ररूपणा के समय दोनों नय एक साथ काम में नहीं आते, क्योंकि दोनों नयों का विषय पृथक्-पृथक् होता है। एक भेद को विषय बनाता है तो दूसरा अभेद को विषय बनाता है। लेकिन जब दोनों नयों के स्वरूप का परीक्षण करते हैं तो दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् होने से दोनों की परिभाषायें भी पृथक्-पृथक् होती हैं। पृथक्-पृथक् परिभाषाओं के द्वारा ही दोनों का सम्यक् परीक्षण होता है। परीक्षण के उपरान्त दोनों के समन्वय से ही वस्तु का सम्यक् परीक्षण होता है।

संसारी प्राणी के पास इतनी क्षमता नहीं है कि वह अपने वर्तमान उपयोग के द्वारा दोनों नयों के विषयों को एक साथ ग्रहण कर सके। इसी को बोलते हैं दृष्टिकोण। कोई भी दृष्टिकोण हमेशा-हमेशा वस्तु के एक अंश या एक पहलू को विषय बनाता है। वस्तुतत्त्व के प्ररूपण के समय वस्तु के समस्त दृष्टिकोणों को क्रमशः प्ररूपित करना चाहिए। तभी अनेकान्त स्वरूप तत्त्व का सम्यक् प्ररूपण होता है। अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण से वस्तु का सम्यक् रूप से पूर्ण कथन सम्भव नहीं होता।

भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय कहाँ होता है ?

सर्वप्रथम हम यह जानने का प्रयास करें कि रत्नत्रय किसको होता है ? बाद में भेद और अभेद रत्नत्रय को स्पष्ट करेंगे। मुनि दीक्षा अंगीकार करने वाला ही रत्नत्रय धारण करने का पात्र होता है। बिना मुनि बने रत्नत्रय का स्वामी अन्य कोई भी नहीं हो सकता। मुनि दीक्षा लेते ही श्रमण का सातवाँ गुणस्थान होता है। पश्चात् हजारों बार सातवें से छठवाँ पुनः छठवें से सातवाँ गुणस्थान होता है। इससे स्पष्ट है कि गुणस्थान की विवक्षा में देखें तो भेदरत्नत्रय छठवें और सातवें गुणस्थान में होता है। भेदरत्नत्रय के धारक श्रमण जब सामायिक आदि के काल में ध्यानस्थ होकर निर्विकल्प अप्रमत्त अवस्था में होते हैं तब वहाँ से अभेद रत्नत्रय प्रारम्भ होता है। छठवें गुणस्थान में मात्र भेदरत्नत्रय होता है। लेकिन सातवें गुणस्थान में भेद और अभेद दोनों रत्नत्रयों का अस्तित्व पाया जाता है। लेकिन एक साथ नहीं। भेदरत्नत्रय धारण किए बिना अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आचार्यों ने भेदरत्नत्रय को कारण और अभेदरत्नत्रय को कार्य के रूप में स्वीकार किया है। चूँकि कभी भी कारण के बिना कार्य नहीं होता अतः भेदरत्नत्रय के बिना अभेदरत्नत्रय भी नहीं होता। सातवें से आगे के गुणस्थानों में तो एकमात्र अभेदरत्नत्रय ही होता है क्योंकि वे सभी गुणस्थान शुद्धोपयोग रूप निर्विकल्प ध्यानात्मक ही होते हैं। अतः अभेदरत्नत्रय होता है।

आज गृहस्थ अवस्था में निर्विकल्प अवस्था और शुद्धोपयोग माना जा रहा है। सुनकर विस्मय होता है। खेद भी होता है। बार-बार विचार आता है कि कैसा है इस संसार का भाग्य ? जो इतना स्पष्ट

और सुन्दर तत्त्व प्ररूपण मिलने पर भी उसे एकांगी दृष्टिकोण से स्वीकार करने का प्रयास किया जा रहा है। अपने-अपने पक्ष आग्रहों के साथ वस्तुतत्त्व का प्ररूपण किया जा रहा है। दया भी आती है। इसके अतिरिक्त कर भी क्या सकते हैं ? सद्भावना करता हूँ कि सभी स्वाध्यायप्रेमियों को जिनवाणी में प्ररूपित तत्त्व की व्याख्या स्पष्ट रूप से समझ में आये।

यदि अभेद रत्नत्रय एक अन्तर्मुहूर्त तक रह जाता है तो वह केवलज्ञान का कारण होता है। वही अभेद रत्नत्रय परम यथाख्यात चारित्र स्वरूप होकर मुक्ति प्रदान करता है। यदि यह कम समय के लिए रहता है तो कहाँ रहता है ? इसका स्वामी कौन होता है ? इसके बारे में आचार्यों ने सर्वांगीण चित्रण किया है। जिसके पास चारित्र नहीं होता वह अविरत या असंयमी कहलाता है। प्रारम्भ के चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय के निमित्त से होते हैं और आगे के गुणस्थान में चारित्रमोहनीय एवं योग का निमित्त स्वीकार किया है। चतुर्थ गुणस्थान में दर्शनमोहनीय एवं अनन्तानुबन्धी का क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व रूप भाव होता है लेकिन क्षायिक चारित्र नहीं होता। अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रमोहनीय की प्रकृति होने के बाद भी द्विमुखी है अर्थात् सम्यग्दर्शन और चारित्र का घात करती है। अतः उसके क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्वाचरण चारित्र प्रकट होता है। **अष्टपाहुड** में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने स्पष्ट किया है-

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५॥
तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणा य।
तं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

पंचम, षष्ठ तथा सप्तम गुणस्थान में जो भी चारित्र होता है वह क्षायोपशमिक भाव रूप होता है। उपशम श्रेणी में औपशमिक चारित्र एवं क्षपकश्रेणी में क्षायिकचारित्र होता है। छठवें सातवें गुणस्थान में चाहे गणधर परमेष्ठी हों, चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हों, उनके क्षायोपशमिक चारित्र ही होता है। मुख्यतः ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में क्रमशः पूर्णरूपेण औपशमिक एवं क्षायिकचारित्र होता है।

अब इस बात पर विचार करना है कि भेदाभेद रत्नत्रय की भावना करने वाले कौन होते हैं ? आगे की गाथा में रत्नत्रय की भावना के स्वामी एवं उसका फल क्या होता है ? इसका कथन किया है। उसमें स्पष्ट कथन है कि-**जो मुनि तत्परता के साथ नित्य आत्मभावना में उद्यत रहते हैं वे शीघ्र ही दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।**

जिज्ञासा-रत्नत्रय का आधार आत्मतत्त्व है अतः रत्नत्रय की आराधना करने से आत्मा की आराधना हो ही जायेगी फिर आत्माराधना करने की क्या आवश्यकता ?

समाधान-रत्नत्रय की आराधना के साथ भेदरत्नत्रय रहता है और आत्मा की आराधना के समय अभेदरत्नत्रय रहता है। रत्नत्रय की आराधना के समय उपयोग की स्थिरता नहीं होती जबकि

आत्मा की आराधना में स्थिरता रहती है। उपयोग की स्थिरता ही कर्मनिर्जरा का साक्षात् कारण होती है। जितनी जल्दी और जितनी अधिक कर्म निर्जरा चाहें उतनी अधिक हो सकती है। अतः जल्दी कर्म निर्जरा करना चाहो तो रत्नत्रय के साथ आत्मा की आराधना करो। यदि जल्दी नहीं है तो अविरत-सम्यग्दृष्टि बने रहकर आत्मभावना करो। कोई बात नहीं। जिस अवस्था में आराधना होगी उसी के अनुसार कर्मनिर्जरा होगी। हालांकि **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने मूल गाथाओं में गुणस्थान परक कथन नहीं किया लेकिन उनके ही ग्रन्थों की टीकाओं का एवं अन्य सैद्धान्तिक आगम का स्वाध्याय करके आलोड़न करें तो यह सब ज्ञात हो जाता है।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी बारह प्रकृतियाँ सर्वघाति हैं। सर्वघाती प्रकृति के उदय में गुण का एक अंश भी प्रकट नहीं होता। प्रत्याख्यान का अर्थ है चारित्र। उसको जो आवरित करती है वह प्रत्याख्यान कषाय है। अप्रत्याख्यान का अर्थ ईषत् चारित्र अर्थात् देशचारित्र। इसे जो आवरित करती है वह है अप्रत्याख्यानकषाय। अनन्तानुबन्धी अर्थात् **अनन्तं मिथ्यात्वं बध्नाति** जो मिथ्यात्व का बन्ध करती है वह सार्थक नाम वाली अनन्तानुबन्धी कषाय है। वैसे तो यह प्रकृति चारित्र मोहनीय की प्रकृति है अतः सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात तो करती ही है लेकिन मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन की ही घातक है। सम्यक्त्वाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन रूप ही होता है। अतः सम्यग्दर्शन एवं देशचारित्र और सकल चारित्र के उद्घाटित होने में उक्त समस्त सर्वघाती प्रकृतियों का यथायोग्य उदयाभावी क्षय आवश्यक होता है। अप्रत्याख्यान का उदयाभावी क्षय होने पर देशचारित्र होता है। प्रत्याख्यान का उदयाभावी क्षय होने पर सकल चारित्र होता है तथा अनन्तानुबन्धी का उदयाभावी क्षय होने पर सम्यक्त्वाचरण चारित्र एवं सम्यग्दर्शन होता है। अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शन की घातक है इसका प्रमाण है कि अनन्तानुबन्धी की उदीरणा हो रही हो और सम्यग्दर्शन बना रहे यह कदापि संभव नहीं है। यह कथन जरूर आता है कि उपशम सम्यग्दर्शन के काल में अर्थात् दर्शनमोहनीय की उपशम अवस्था में जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट छह आवली काल शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी की उदीरणा या उदय होने के फलस्वरूप सासादन सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यग्दर्शन छूट जाता है। दर्शनमोहनीय का उपशम काल बना रहता है, उसी में अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीय गुणस्थान की व्यवस्था बनती है।

अब देखो, एक बात पर और ध्यान दें कि अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय तो सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं ही लेकिन संज्वलन कषाय भी देशघाती होने के बाद भी चूँकि यथाख्यात चारित्र का पूर्ण रूप से घात करती है अतः इस विवक्षा में वह भी सर्वघाती सिद्ध हो जाती है, क्योंकि आगम में यह कथन स्पष्ट है कि दसवें गुणस्थान तक संज्वलन सम्बन्धी सूक्ष्म लोभ का उदय होने के कारण यथाख्यातचारित्र का एक अंश भी प्रकट नहीं होता। कोई यह कहे कि संज्वलन कषाय तो देशघाती प्रकृति है अतः इसके देशघाती स्पर्धकों के उदय रहते हुए भी यथाख्यातचारित्र हो जाये तो आगम कहता

है कि नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। चूँकि यथाख्यात चारित्र या तो औपशमिक है या क्षायिक, इसलिए संज्वलन कर्म के उदय में वह कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। संज्वलन के उदय रहते हुए आठवें, नवमें आदि गुणस्थानों में शुक्लध्यान या शुद्धोपयोग तो हो सकता है लेकिन यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता। इसके लिए तो संज्वलन का पूर्णतः उपशम या क्षय ही आवश्यक है।

भेदरत्नत्रय की भावना की भूमिका में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के बारे में जो कुछ भी चिन्तन होता है या आराधना होती है, वह आत्मद्रव्य को छोड़कर नहीं होती। जैसे–जिस बालक ने अभी–अभी स्कूल जाना शुरू किया है, उससे पूछो कि तुम किस स्कूल में जाते हो ? वह कहता है–महावीर विद्यालय में। दूसरी साल पूछेंगे तो स्कूल का नाम नहीं पूछेंगे, किन्तु अब उससे पूछेंगे कि कौन सी कक्षा में पढ़ रहे हो ? उसी स्कूल में कितने वर्ष तक जाता है ? माना कि १२ वर्ष तक जाता है तो प्रत्येक वर्ष में एक–एक कक्षा पार करता जा रहा है। स्कूल वही है कक्षा बढ़ती जा रही है। इसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में साधक से पूछा जाए कि कौन–सी स्कूल में जाते हो ? तो वह कहता है कि आत्म–स्कूल में। आत्म–स्कूल में आत्मगुण विकास की सीढ़ियों को पार करता है।

जिज्ञासा–महाराज, आप आत्मा की बात नहीं करते ?

समाधान–आत्मा की बात करने में कठिनाई होती है, आत्मा की बात मैं तो कर भी दूँ परन्तु सामने वालों को आत्मा की बात समझ में भी तो आना चाहिए। **समयसार** ग्रन्थ का स्वाध्याय चल रहा है इसमें आत्मा की ही बात की गई है। फिर भी मैं आत्मा की बात के साथ–साथ आत्मा में जो बात होती है उसकी बात भी कर लेता हूँ। आत्मा में स्वभाव की दृष्टि से देखें तो ज्ञाता–दृष्टापना है। विभाव की दृष्टि से देखें तो रागद्वेषादि परिणाम हैं। अतः आत्मा के रागद्वेषादि परिणाम को दूर कैसे करूँ और मात्र ज्ञातादृष्टापन का अनुभव कैसे करूँ ? इसकी बात करता हूँ। यह समस्त कथन आत्मा के कथन से पृथक् नहीं होता।

आचार्य कह रहे हैं कि कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक भी रत्नत्रय धारण करो तो भी प्रथम स्वर्ग तक ही जा सकते हो और आत्मा को प्रमुख आधार एवं आत्मदृष्टि के लक्ष्य को या परमार्थ में स्थित होकर मात्र अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी रत्नत्रय धारण करोगे तो क्रमशः वृद्धिंगत रत्नत्रय के द्वारा सिद्धालय को भी प्राप्त कर सकते हो। इस विषय को सुनने के उपरान्त भी यदि कोई यह कहे कि महाराज, हमारी जैसी गति है वही ठीक है। इतनी क्षमता हमारे पास कहाँ है कि जिससे सिद्धालय तक पहुँच जायें। ठीक है, यह तो मैं भी जानता हूँ कि वर्तमान में सिद्धालय नहीं पहुँच सकते, लेकिन दृष्टि में तो रखो। हमेशा दृष्टि का विषय तो बनाओ। यदि यह भी नहीं होता, तो फिर ठीक नहीं। रत्नत्रय की आराधना करते–करते स्वसंवेदन हो रहा है या नहीं, आत्मा का स्वाद आ रहा है या नहीं। शुक्लध्यान नहीं हो सकता, न सही, लेकिन क्षमता के अनुसार धर्मध्यान हो रहा है कि नहीं, धर्मध्यान सुरक्षित है या नहीं। कम

से कम इस बात का हमेशा ध्यान रखो।

दृष्टान्त—आत्मसंवेदन कब होता है ? आत्मज्ञान कब होता है ? या अन्य पदार्थों का ज्ञान कब होता है ? इसे एक छोटे से दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जैसे–जहाँ अन्धकार है, वहाँ कौन-कौन सी वस्तुयें हैं, इसकी यदि आपको जानकारी लेना है तो टार्च के प्रकाश से देखकर जानकारी ले सकते हैं। जिस वस्तु के ऊपर आप टार्च की रोशनी डालेंगे तो वह वस्तु दिख जाती है, टार्च नहीं दिखती। जिस-जिस वस्तु के ऊपर लाइट आयेगी वही-वही दिखेगी। इसी प्रकार अपनी उपयोग रूपी टार्च की रोशनी को जिस बाह्यद्रव्य पर डालेंगे वह द्रव्य जानने में आयेगा। उसी उपयोग रूपी टार्च की रोशनी को जब आत्मा के ऊपर डालेंगे अर्थात् जब आत्मा को विषय बनायेंगे तो उस समय स्वसंवेदन अथवा आत्मज्ञान होता है। वह आत्मानुभव अभेदरत्नत्रय के काल में होता है।

उक्त गाथा में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** का यह अभिप्राय है कि निर्विकल्प ध्यान में रत्नत्रय पर दृष्टि है अर्थात् गुणों की ओर दृष्टि है तो द्रव्य नजर नहीं आयेगा, गुण ही नजर आयेंगे, क्योंकि द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्यायसत् इनमें से जिसको भी विषय बनायेंगे उसी का ज्ञान और संवेदन होता है। अतः गाथा के पूर्वार्द्ध में गुणों की ओर दृष्टि है, भेदविवक्षा से दर्शन, ज्ञान, चारित्र में भावना करने को कहा। लेकिन इन समस्त गुणों का आधार आत्मद्रव्य है। अतः गुणों को गौण करके और आत्मा को विवक्षित करके अभेद विवक्षा से आत्मा में भावना करो, ऐसा कहा।

जिज्ञासा—आचार्यश्री! आत्मा के गुणों में हमेशा ज्ञान गुण की ही विशेष चर्चा क्यों होती है ?

समाधान—कुण्डलपुर की बात है, लगभग बीस वर्ष पूर्व की बात है। सम्मेलन हो रहा था, बाहर से बहुत से विद्वान् आए थे। मुझसे प्रवचन का निवेदन किया। उस समय अपने स्वाध्याय का समय था, अतः **आचार्य अकलंकदेव** का स्मरण करके स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया। **आचार्य अकलंकदेव** ने अनेकान्त और स्याद्वाद को प्रस्तुत करते हुए एक विषय प्रस्तुत किया है कि–आत्मा अचेतन है। सहज ही प्रश्न उठता है कि यह कैसे सम्भव है ? छह द्रव्यों में आत्मा ही तो चेतन है। **जीवमजीवं दव्वं** दो प्रकार के द्रव्य हैं–जीव और अजीव। छह द्रव्यों में से जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अजीव हैं। ऐसा तो कहा है परन्तु आप इन्हें अचेतन कह रहे हैं, यह भी अजीब हो गया। अजीव और अचेतन में अन्तर है। यह कैसे ? यह तो बिल्कुल नई बात है। आप लोग सिद्धचक्र विधान करते हैं, उसमें सिद्धपरमेष्ठी को अचेतन रूप में आराधित किया है। यह भी कैसे ? हम चेतन और वे अचेतन यह कैसे ? सभी श्रोतागण एवं विद्वज्जन आश्चर्य कर रहे हैं। फिर भी अनेकान्त के माध्यम से सब सिद्ध होता है। सभी ने कहा–ऐसा कैसा अनेकान्त जो जीव को अजीव या अचेतन बना दिया। सुनो, सुनो, गुणों की अपेक्षा से द्रव्य का विधान होता है अर्थात् गुणों से ही द्रव्य की पहचान होती है। यदि गुण नहीं हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि यह कौन सा द्रव्य है या वह कौन सा द्रव्य है। द्रव्य का परिणमन पर्याय कहलाती है। जैसा कि **तत्त्वार्थसूत्र** के पंचम अध्याय में एक सूत्र में **आचार्य उमास्वामी**

महाराज ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है–**तद्भाव: परिणाम:** अर्थात् द्रव्य का भाव होना, प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है। इसी को पर्याय कहते हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों की समष्टि होती है। आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है। उनमें चेतन गुण को प्रधानमन्त्री के रूप में रख दो। इस गुण में जानने देखने की क्षमता होती है। चेतन के अतिरिक्त अन्य गुणों में जानने, देखने की क्षमता नहीं है। उन समस्त गुणों की विवक्षा में आत्मा को अचेतन कहा है। चेतन गुण ज्ञान, दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। जिसे ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना अथवा ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार चेतना शक्ति के माहात्म्य से ही जीव को चेतन कहा गया है। ज्ञानदर्शन गुण को थोड़ा–सा गौण करके देखेंगे तो आत्मा भी अन्य द्रव्यों की भाँति जानने–देखने का कार्य नहीं कर पायेगा, फिर किसके बल पर उसे चेतन द्रव्य कहेंगे। ज्ञान गुण एक ऊधमी लड़के के समान हैं, यह ऊधम मचाता है। दूसरा लड़का शान्त है, ऊधम नहीं मचाता। लेकिन जो ऊधमी है, वही कमाऊ है, इसलिए घर में उसकी आरती उतारी जाती है। इसी प्रकार ज्ञान गुण जानने की क्रिया में सक्रिय है। वही समस्त द्रव्यों की पहचान कराता है। ज्ञान गुण के बिना 'मैं आत्मा हूँ' यह भी नहीं जान सकेंगे। ज्ञान गुण प्रकाशमय है इसके बिना तो अन्धकार ही अन्धकार है।

दूसरी बात की ओर भी दृष्टि करें कि रत्नत्रय में भी ज्ञान गुण शामिल है। शेष सम्यग्दर्शन और चारित्र भी अचेतन हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन को चेतना रूप दर्शनोपयोग में गर्भित नहीं किया गया। श्रद्धा गुण की पर्याय सम्यग्दर्शन है। आचार्यों की इस विवक्षा पर विचार करें तो यह अचेतन सिद्ध होता है। इस श्रद्धागुण की समीचीनता से ज्ञान गुण में समीचीनता आती है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है। मोक्षमार्गी कहलाने की पात्रता का प्रादुर्भाव इसी सम्यग्दर्शन के द्वारा होता है। इस प्रकार श्रद्धा गुण भी अपने आप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

जिज्ञासा–श्रद्धा की आवश्यकता क्यों है ?

समाधान–केवलज्ञान के विषय को चर्मनेत्रों से नहीं देखा जा सकता। वर्तमान के छद्मस्थ क्षायोपशमिक अल्पज्ञान से भी नहीं जाना जा सकता। केवलज्ञान के विषय को जानने वाले स्वयं सर्वज्ञ होते हैं इसके अतिरिक्त कोई नहीं। हमारे पास केवलज्ञान के विषय को जानने की क्षमता तो नहीं है, लेकिन उस पर श्रद्धान तो किया जा सकता है। श्रद्धान करना ज्ञान का काम नहीं है। ज्ञान तो चिन्तन, मनन करता है। वस्तु को परखता है कि यह जीव है, यह अजीव है इत्यादि।

दृष्टान्त–श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की प्रकृति को एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं। श्रद्धा एक बहिन की भाँति है और ज्ञान, चारित्र दोनों भ्राता हैं। घर में बहिन का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। उसी प्रकार श्रद्धा वह बहिन है जो हमेशा मांगलिक मानी जाती है। उसके कारण ज्ञान, चारित्र दोनों भाई भी मांगलिक माने जाते हैं। सम्यक्श्रद्धा होने के कारण ज्ञान, चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं। बहिन के माध्यम से भाई का महत्त्व बढ़ जाता है।

जिस प्रकार बहिन के कहने पर भाई की उछल-कूद कम हो जाती है, उसी प्रकार आप लोग अपने ज्ञान की उछल-कूद कम करना चाहते हो तो श्रद्धा की ओर देखो। बहिन भी घर की एक सदस्या है। उसकी क्षमता तो देखो, कितनी शान्त है। उभयकुलवर्धिनी है। इसकी श्रद्धा बहिन भी उभयकुल अर्थात् ज्ञान और चारित्र दोनों कुलों की मंगलवर्धिनी है। श्रद्धा कहती है-ज्ञान भैया ! मेरी बात मान लो और अपनी उछल-कूद कम कर दो। ज्ञान कहता है-बहिन, आकुलता होती है। तब श्रद्धा बहिन कहती है-आँख बन्द करके ''मैं अनन्तचतुष्टय वाला हूँ'' इस ओर देखो। अन्तस् में झाँको, बाहर मत देखो। ज्ञान कहता है-अन्तस् में देखने पर कुछ दिखता नहीं है। श्रद्धा कहती है-देखो, प्रयास करो, दिखेगा। सुनो, बाहर धूप से व्यक्ति जब अन्दर आता है तब थोड़ी देर अच्छे से नहीं दिखता। धीरे-धीरे बाहर की लाइट की चकाचौंध का प्रभाव कम होता है तो दिखने लगता है। इसी तरह आप अनन्तकाल से बाहर चले गये थे अब अन्दर आये हो। हमारी बात मान ली, बहुत अच्छा किया। आओ, अब भीतर आओ, थोड़ी देर कुछ न दिखे तो घबराना नहीं। ज्ञान कहता है-अन्दर घर में आनन्द नहीं आ रहा, ऐसा कहकर पुनः बाह्य पदार्थों की लाइट में चला जाता है। कहता है-मैं क्या करूँ, अपने आपको कैसे समझाऊँ। आप समझाओ। श्रद्धा कहती है कि-मैं समझाती नहीं हूँ, मेरी बात मानना है तो बस मान लो। मानने में समझने की आवश्यकता नहीं होती है। ज्ञान कहता है कि-कैसे मानें? वह कहती है-मेरे कहने से मान लो बस। गुरु की देशना से मान लो। मानते समय अपनी आँखों को बन्द रखना पड़ता है। तभी देशना लब्धि होती है। देशनालब्धि के पूर्व ज्ञान कूदता रहता है अर्थात् विकल्प करता है कि यह सही नहीं कहा जा रहा है। श्रद्धा कहती है कि कह दो यह सही नहीं है। वह कहता है-कैसे कह दूँ ? नहीं कह सकते तो चुपचाप सुनो और मानो। कैसे मानूँ ? पहले कसौटी पर कसकर देखूँ फिर विश्वास करूँ। श्रद्धा कहती है किसको कसौटी पर कसकर देखोगे ? मुझे तो कसौटी पर नहीं कस सकते। **आगमोऽतर्कगोचरः** कहा है।

श्रद्धा को ज्ञान कभी कस नहीं सकता। श्रद्धा ज्ञान का विषय नहीं है। ज्ञान का विषय अलग, श्रद्धा का विषय अलग है और चारित्र का विषय अलग है। इन तीनों की आधारभूत आत्मा का विषय अलग है। श्रद्धा के माध्यम से वीतराग प्रभु को देखने पर हे प्रभो ! आप ही सबसे बड़े हैं, परन्तु ज्ञान की आँखों से देखने पर वह अपने को प्रभु से ऊपर देखता है, क्योंकि अपनी आँखें हैं। अपने को कभी छोटा नहीं मान सकता। श्रद्धा के साथ ज्ञान की आँखें भी खुल जाती हैं, तब ज्ञान श्रद्धा का अनुसरण करने लगता है। अपनी उछल-कूद कम कर देता है। जब श्रद्धा नहीं थी उस समय देखो रावण की क्या दशा थी ? इन्द्रभूति की क्या दशा थी ? हाँ, ज्ञान का मद अपने ऊपर छत्र लगवाता है। दूसरा नहीं लगाये तो अपने हाथ से लगा लेता है। भइया! जो अपने ऊपर स्वयं छत्र लगाता है वह स्वयं सेवक माना जाता है और कोई दूसरा लगाये तो छत्रपति माना जाता है। वर्षा से बचाने वाले छत्र की बात नहीं चल रही है। यदि इसको मानोगे तो वर्षाकाल में सारे लोग छत्रपति माने जायेंगे।

श्रद्धा के बल पर मोक्षमार्ग की यात्रा का शुभारम्भ होता है और आगे भी यदि सम्यक् श्रद्धा है तो मोक्षमार्ग की यात्रा का विकास होता चला जाता है। रत्नत्रय है लेकिन श्रद्धा सम्यक् नहीं है तो वह यात्रा विराम को प्राप्त हो जाती है। श्रद्धा के बिना किसी भी गुण का समीचीन रूप से विकास सम्भव नहीं है। श्रद्धा क्या है ? उसका स्वभाव क्या है ? उसका योगदान क्या है ? यह अपने आपमें गम्भीर विषय है। इसका अध्ययन आवश्यक है।

मुक्ति के विषय में भेदरत्नत्रय अकिंचित्कर– रत्नत्रय दो प्रकार का होता है–१. भेदरत्नत्रय, २. अभेदरत्नत्रय। प्रत्याख्यानावरण कषाय का जब तक उदयाभावी क्षय नहीं होगा तब तक इसका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक भी यदि भेदरत्नत्रय की आराधना की जायेगी तो भी उससे मुक्ति का सम्पादन नहीं हो सकता। इस विवक्षा में **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने भेदरत्नत्रय को भी **प्रवचनसार** में अकिंचित्कर कहा है। **आचार्य जयसेन स्वामी** ने भी इसका अनुकरण किया है। भेदरत्नत्रय के द्वारा निर्जरा तो होती है, संवर भी होता है, लेकिन वह मुक्ति प्राप्ति का साक्षात् कारण नहीं है, क्योंकि मुक्ति प्राप्ति के लिए अभेदरत्नत्रय आपेक्षित होता है। भेदरत्नत्रय विकल्पात्मक होता है। अभेदरत्नत्रय निर्विकल्परूप होता है। मुक्ति के लिए निर्विकल्पध्यान अवस्था का होना आवश्यक होता है अतः अभेदरत्नत्रय मुक्ति का साक्षात् कारण है। भेदरत्नत्रय परम्परा कारण है, क्योंकि बिना भेदरत्नत्रय के अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती। फिर भी चूँकि भेदरत्नत्रय के द्वारा साक्षात् मुक्ति का लाभ कभी भी सम्भव नहीं है, इसलिए उसे मुक्ति के विषय में अकिंचित्कर कहा है। इस विषय को बीच में प्रस्तुत करके मैं यह कहना चाहता हूँ कि किसी भी विषय में आगम का पक्ष लेकर ही गम्भीरता से अध्ययन करना चाहिए, तभी स्पष्टीकरण होता है।

उपसंहार–

दृष्टान्त—भेदाभेद रत्नत्रय को समझने के लिए दो लघु दृष्टान्त हैं। जैसे रात्रि में अन्धकार है। आपके पास टार्च है। उस समय आप जिस पदार्थ की ओर टॉर्च की रोशनी करेंगे तो वही पदार्थ देखने में आता है, शेष कुछ भी नहीं। चारों ओर अन्धकार है लेकिन टॉर्च के फोकस से अपना इष्ट पदार्थ दिखता है। इसी प्रकार अभेद रत्नत्रय युक्त निर्विकल्प समाधि में उपयोग के फोकस से मात्र आत्म तत्त्व दिखता है, शेष पदार्थों की ओर ध्यान नहीं जाता अथवा शेष पदार्थ ध्येय नहीं बनते। दूसरी बात रात्रि में पूर्णिमा को चन्द्रमा भी प्रकाश फैलाता है तब उस चन्द्र प्रकाश में आसपास के तारागण भी दिखते हैं। यही स्थिति भेदरत्नत्रय में होती है। आत्मा के साथ-साथ दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणों की ओर भी ध्यान जाता है। दिन में सूर्योदय की अवस्था में कोई आपसे कहता है कि आकाश की ओर देखो तो उस समय आसमान में आपको क्या दिखता है ? एकमात्र प्रकाशपुंज सूर्य दिखता है। इसी तरह अभेदरत्नत्रय में एकमात्र आत्मा दिखता है। अन्य कुछ भी नहीं। आत्मा को सूर्य की भाँति देखोगे तो संसार सब कुछ गायब, कुछ नहीं दिखेगा। यदि रत्नत्रय की ओर देखोगे तो चन्द्रमा के साथ पूरा परिवार

दिखेगा। प्रकाश में तो सभी लोग देखते हैं लेकिन प्रकाश को देखना चाहिए। प्रकाश में देखने से अन्य द्रव्य दिखते हैं और प्रकाश को देखने से केवल प्रकाश ही दिखता है। जो व्यक्ति प्रकाश पुंज सूर्य की भाँति आत्मतत्त्व को देखेगा, उसका ध्यान करेगा, उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय बनायेगा वह मुक्त हो जायेगा और जो व्यक्ति प्रकाश के द्वारा अन्य द्रव्यों को देखेगा वह मुक्त नहीं होगा।

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि ज्ञान का अभ्यास आत्मा को जानने के लिए करना चाहिए, न कि दुनिया के पदार्थों को जानने के लिए। लेकिन महाराज ! यह आसान तो नहीं है। हाँ, तो कौन कह रहा है कि आसान है। लेकिन आसान नहीं होने से वह सम्भव नहीं है, ऐसा तो नहीं सोचना चाहिए। अन्त में पुनः उसी बात को निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों में आत्मा है अतः आत्मा में भावना करो।

उत्थानिका—अब आगे भेदाभेद रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हैं–

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण ॥१२॥

अन्वयार्थ—**(णिच्चुवजुत्तो)** हमेशा उपयुक्त रहने वाला **(जो मुणी)** जो मुनि **(इणं)** इस **(आदभावणं)** आत्मभावना में **(समाचरदि)** सम्यक् रूप से आचरण करता है **(सो अचिरेण कालेण)** वह कम काल में ही (शीघ्र ही) **(सव्व-दुक्ख-मोक्खं)** सभी दुःखों से छुटकारा **(पावदि)** पाता है।

अर्थ—जो मुनि या तपोधन तत्परता के साथ इस आत्मभावना को स्वीकार करता है अथवा आत्मभावना में उद्यत रहता है वह सम्पूर्ण दुःखों से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाता है।

शुद्धात्म की विमल निर्मल भावना को,
भाते सहर्ष ऋषि वे तज वासना को।
पाते विमुक्ति भव से अघ को मिटाके,
सद्यः निवास करते शिवधाम जाके ॥१२॥

व्याख्या—जो मुनि पूर्व गाथा में कथित भेदाभेद रत्नत्रय में स्थित होकर नित्य ही उद्यत होते हुए आत्मतत्त्व की आराधना करते हैं वे मुनि सभी प्रकार के दुःखों से शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं।

जिज्ञासा—आत्मभावना किस प्रकार करें ?

समाधान—संसार में अनन्त पदार्थ हैं। उनमें मैं भी एक जीव द्रव्य हूँ। मेरे अतिरिक्त संसार में जितने भी जीव, अजीव द्रव्य हैं, वे मेरे चतुष्टय से भिन्न हैं। भगवान् अनन्त सुखयुक्त हैं अर्थात् सुखी हैं, मैं मानता हूँ लेकिन उनके सुख की एक कणिका भी मेरे चतुष्टय में नहीं आ सकती। भगवान् के स्वरूप को जानने से यह ज्ञान तो होता है कि ''मैं भी अनन्तचतुष्टय सहित हूँ''। मैं भी भगवान् बनने की उनके समान साधना कर सकता हूँ। साधना सफल होने पर मैं भी निश्चित रूप से उनके समान

स्वरूप को प्राप्त कर सकता हूँ। देवदर्शन, गुरु-उपासना एवं ग्रन्थों के स्वाध्याय, चिन्तन, मनन से इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। देव, गुरु, शास्त्र का हमारे लिए यही योगदान रहता है। इसके उपरान्त मन को एकाग्र करने के लिए उक्त चिन्तन को बार-बार करने से आत्मभावना होती चली जाती है। अभ्यास करने से वह आत्मभावना दृढ़ हो जाती है।

दृष्टान्त—जैसे-बालक को जब तक अ लिखने का अभ्यास नहीं होता तो उसको अभ्यास करने को कहा जाता है। प्रथम बार अ सुनते ही उसे कुछ भी ख्याल में नहीं आता। शिक्षक उसे अ की आकृति बनाकर दिखाता है। फिर बच्चे से उसी अ पर हाथ पकड़कर उसकी आकृति बनाने का अभ्यास करवाया जाता है। अभ्यास करते-करते एक स्थिति ऐसी आती है कि वह अभ्यस्त बालक अ सुनते ही आँख बन्द करके भी लिख देता है। जैसा सिखाया वैसा लिख देता है, क्योंकि पहले हजारों बार लिखा है। इसके पश्चात् अ के अर्थ की ओर गतिमान हो जाता है। इसी प्रकार आत्मभावना का अभ्यास किया जाता है। अभ्यास के समय मन स्थिर नहीं होता तो बार-बार स्वाध्याय, चिन्तन, मनन करके मन को स्थिर करने का अभ्यास किया जाता है। आत्मभावना में स्थिरता नहीं होने के कारण स्वाध्याय आदि का अवलम्बन लिया जाता है। मात्र ज्ञानात्मक अभ्यास पर्याप्त नहीं होता, किन्तु चारित्रात्मक के साथ-साथ ध्यानात्मक अभ्यास अनिवार्य होता है।

संस्मरण—एक बार एक स्कूल में प्रोफेसर साहब आए। उन्होंने बच्चों की कक्षा में आकर गणित सम्बन्धी कोई प्रश्न किया। उस समय क्लास-मास्टर हड़बड़ा गये। बीच में शिक्षक कुछ भी नहीं बोल सकते थे। बच्चों ने अंगुलि पर १, २, ३ गिनना शुरू कर दिया तो प्रोफेसर साहब ने कहा-यही सिखाया है ? और आगे का अभ्यास नहीं कराया ? अंगुली पर गिनना तो के०जी० का काम है। यहाँ पर तो हायर सैकेण्डरी का बोर्ड लगा है। इसी प्रकार महीनों नहीं बरसों हो गये। कहाँ, क्या, कैसा है ? किताब में अर्थात् ग्रन्थ में देखने की आदत है। ज्ञानी का उपयोग ग्रन्थ की ओर नहीं किन्तु आत्मतत्त्व की ओर आना चाहिए। किसी भी पदार्थ की परिभाषा उस पदार्थ में ही पायी जाती है। ग्रन्थ में तो उसको समझने के लिए संकेत मात्र होते हैं। वस्तु का लक्षण तो वस्तु में ही लिखा होता है। अतः साक्षात् पदार्थ से ही उसके लक्षण को पढ़ने का अभ्यास कीजिए। अभ्यास अर्थात् अभि-निकटरूपेण यानि पूर्ण रूप से तत्त्व के निकट रहेंगे तभी अभ्यास होगा। बार-बार आत्मा के पास जाने पर आत्मा का अभ्यास होगा। अभ्यास कैसे होगा ? **धवला** आदि ग्रन्थों में **दिट्ठमग्गो** शब्द आया है। इसका अर्थ है कि जिसने मार्ग को देख लिया है। एक बार वस्तु को देख लेने के बाद टॉर्च की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार जिसने मार्ग को देख लिया उसे मार्ग की शाब्दिक परिभाषा की आवश्यकता नहीं होती। जैसे-जो सीढ़ी चढ़ने का अभ्यस्त है, वह इधर-उधर बात करते हुए सीढ़ी को देखे बिना भी चढ़ता जाता है। गुलाटी खाकर गिरता नहीं है, किन्तु बिना अभ्यास के प्रारम्भ में एक-एक सीढ़ी को देखकर, आजू-बाजू में लगे हुए पाइप की रेलिंग को पकड़कर चलते हैं जिससे चूक न जाए। यदि चूक भी जाए तो धड़ाम

से नीचे न गिर जाए इसलिए पाइप का सहारा लेना आवश्यक होता है। जिनका अभ्यास नहीं है, जिनके पैर लड़खड़ाते हैं उन्हें सीढ़ी चढ़ते समय पाइप या रस्सी पकड़ने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जो **दिट्ठमग्ग** होते हैं वे यदि मार्ग से या सम्यग्दर्शन से नीचे मिथ्यात्व में आ जाते हैं तो अन्तर्मुहूर्त में बिना करण किए शीघ्र ही पूर्व विशुद्धि के बल पर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। यह दिट्ठमग्ग का प्रभाव है।

बार-बार आत्मा की आराधना करने वाला व्यक्ति शेष द्रव्यों से प्रभावित नहीं होता है। यदि कर्मोदय में मन कहीं चला भी जाए तो अभ्यास होने के कारण उसे शीघ्र ही अपने आत्मतत्त्व की ओर वापस लौटा लेता है। वह विचार करता है कि अन्य पदार्थों की ओर जाना हमारा विषय नहीं है। यह तो मेरे लिए आउट ऑफ कोर्स है। वह हमारा क्षेत्र नहीं है। दूसरे के क्षेत्र में नहीं जाना चाहिए। इस प्रकार अपने मन को सम्बोधित करके मुनि शीघ्र ही आत्मभावना में पुनः उद्यत हो जाते हैं। ऐसे ही अल्प समय में ही सर्व दुःखों से मुक्त होते हैं। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावना के फलस्वरूप व्याख्यान करते हुए दो गाथाओं द्वारा चतुर्थ स्थल समाप्त हुआ। अब आगे की गाथा में नयों की भूतार्थता एवं अभूतार्थता का कथन करते हैं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई ब्राह्मण आदि विशिष्ट पुरुष म्लेच्छों को समझाने के समय में ही म्लेच्छ भाषा को बोला करता है अन्य काल में नहीं। उसी प्रकार (संयमी) पुरुष भी अज्ञानी पुरुषों को प्रतिबोध देने के समय में व्यवहार का आश्रय लेता है अन्य काल में नहीं, क्योंकि व्यवहार अभूतार्थ होता है। ऐसा **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** बतलायेंगे, इसके पूर्व उत्थानिका को और स्पष्ट समझने का प्रयास करें।

दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण—जैसे कोई विद्यार्थी अपने कोर्स की किताब पढ़ता है। पढ़ते समय किन्हीं शब्दों के अर्थ देखने के लिए कभी-कभी शब्दकोश का आश्रय लेता है। कोर्स की पुस्तक को समझने के लिए शब्दकोश की कभी-कभी आवश्यकता होती है। कक्षा के विषय की पुस्तक को ज्यादा उपयोग में लाता है। और उसी की तैयारी करता है, उसी में से परीक्षा देता है। यदि क्लास की पुस्तक की प्रत्येक पंक्ति को समझने के लिए शब्दकोश पढ़ने लगेंगे तो आप स्वयं सोचिए कि वह क्या पढ़ रहा है। शब्दकोश पढ़ रहा है या कोर्स की पुस्तक ? आचार्य कहते हैं कि उस विद्यार्थी की भाँति ज्ञानी हमेशा ज्ञानस्वभाव में रहता है, लेकिन अस्थिरता के कारण कभी-कभी उससे नीचे अज्ञान दशा में आता है तब ज्ञानस्वभाव में पुनः स्थिर होने के लिए शब्दकोश की भाँति व्यवहारनय का आश्रय लेता है। लेकिन ध्यान रखना विद्यार्थी शब्दकोश को देखते समय भी कोर्स की पुस्तक का विषय नहीं भूलता। यदि भूल जायेगा तो शब्दकोश में तो एक-एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उन्हीं में उलझ जायेगा, मुख्य विषय के अध्ययन से वंचित रह जायेगा। उसी प्रकार ज्ञानी यदि शुद्धनय के अवलम्बन से छूटता है तो व्यवहार का आश्रय लेता है लेकिन निश्चयनय के विषय को भूलकर व्यवहार में ही

रह जायेगा तो वह अपने लक्ष्यभूत तत्त्वानुभूति से वंचित रह जायेगा। अत: कभी-कभी व्यवहार का अवलम्बन लेता हुआ भी निश्चयनयभूत तत्त्व को नहीं भूलता। छद्मस्थ होने के कारण ज्ञानी हमेशा ज्ञानस्वभावी दशा में नहीं रह सकता। जितने समय अप्रमत्त रहता है तो उससे दुगुने समय के लिए प्रमत्त अवस्था में चला जाता है, ऐसा हजारों बार प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था में रहता है। अज्ञान का अर्थ प्रमाद है। छठवें गुणस्थान से नीचे प्रथम गुणस्थान तक भी अज्ञान या प्रमाद दशा होती है। उन सभी गुणस्थानों की अज्ञानदशा में प्राप्त जीवों को समझाने के लिए ज्ञानी पुरुष व्यवहारनय का आश्रय लेकर उन्हें सम्बोधित करते हैं। ज्ञानी पुरुष स्वयं जब सातवें से छठवें गुणस्थान में आता है तो अपने आपको भी सम्बोधित करके सम्हालता है। वह स्वयं अपने आपको सम्हालने की क्षमता रखता है। अत: वह देव, गुरु, शास्त्र के आधार से, आगमिक सिद्धान्त एवं आचरण परक ग्रन्थों के आधार से अपने आवश्यक कर्त्तव्यों की कमी को दूर करके अपने आपको ज्ञान दशा में स्थिर करने का प्रयास करते हैं।

जिज्ञासा—भेदाभेदरत्नत्रय में क्या भेद है ?

समाधान—वैसे तो भेद, अभेद शब्द से ही इनका अर्थ स्पष्ट है। फिर भी इन्हें एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास कर सकते हैं। रत्नत्रय का अर्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है।

दृष्टान्त—जैसे कोई जुलाहा कपड़ा बुनता है। आजकल तो मशीन से काम होता है। मशीन चालू करते ही कपड़े बुनने का काम चालू हो जाता है। तीव्र गति से मशीन से कार्य होता है। आप उस समय वहाँ मात्र ज्ञाता-दृष्टा बनकर देखते हैं। आपको कुछ नहीं करना होता। मशीन किस ढंग से कपड़े बुनने का कार्य कर रही है। कैसी बुनाई हो रही है ? आप यह सब देखते जाओ। कार्य होते-होते यदि मशीन में एक लाइन भी छूट गई तो मशीन का कार्य बन्द हो जाता है। मशीन चालू है फिर भी बुनाई का कार्य बन्द हो जाता है। यदि फिर भी बुनाई होती है तो सफाई नहीं आती। इसी प्रकार भेदरत्नत्रय के काल में आत्मानुभूति समाप्त हो जाती है। श्रमणत्व है, रत्नत्रय है, फिर भी आत्मानुभूति रूपी कार्य समाप्त हो जाता है। अभेद रत्नत्रय के काल में जो आत्मानुभूति का आनन्द आ रहा था वह समाप्त हो जाता है। ध्यान रखना मशीन चालू है पेट्रोल खर्च हो रहा है, परन्तु काम नहीं हो रहा है इसलिए जल्दी-जल्दी मशीन को ठीक करके बुनाई का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। इसी प्रकार अभेद रत्नत्रय के काल में आत्मानुभूति का आनन्द और प्रत्येक समय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है, तो उसकी सार्थकता है। इसीलिए श्रमणों को बार-बार कहा जाता है कि अभेदरत्नत्रय बना रहे इसी में तुम्हारा श्रामण्य है, उसमें बार-बार गोता लगाते रहो और शुद्धोपयोग में स्थिर रहो। उसमें जो आनन्द आता है वह बाहर नहीं आ सकता। फिर भी श्रमणों को शुद्धोपयोग से बाहर आना अनिवार्य होता है। बाहर आना अनिवार्य क्यों होता है ? जैसे मशीन से सिलने का कार्य करते-करते जब धागा समाप्त हो जाता है तो दूसरी धागे की रील लगाने में जितना समय लगता है वैसे ही समझ लीजिए। एक डेढ़ मिनट के लिए बाहर प्रमत्त अवस्था में आते हैं फिर अन्दर अप्रमत्त अवस्था में चले जाते हैं। श्रमण

हमेशा आवश्यकों के अतिरिक्त भी तप:साधना, ध्यान आदि करते हैं, जिससे आत्म आनन्द की अनुभूति से प्रसन्न रहते हैं एवं प्रत्येक समय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं। अतिरिक्त साधना करने में थकते नहीं हैं, बल्कि निवृत्ति होने से विश्राम में रहते हैं। चौबीसों घण्टे मुनिराज इस तैयारी में रहते हैं कि अभेद रत्नत्रय के ये अमूल्य क्षण छूट न जायें। अभेदरत्नत्रय का अपने आपमें एक अपूर्व आनन्द होता है। एक बार अभेदरत्नत्रय का रस आना प्रारम्भ हो जाए बस...। लेकिन भेद रत्नत्रय को भी कम मत समझो। जिसके पास भेद रत्नत्रय नहीं वह कभी अभेद रत्नत्रय को प्राप्त नहीं कर सकता है। भेदरत्नत्रय कारण है तो अभेदरत्नत्रय कार्य है। भेदरत्नत्रय साधन है तो अभेदरत्नत्रय साध्य है। साधन के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं होती। कारण के बिना कार्य नहीं होता। फिर भी भेद और अभेद रत्नत्रय की तुलना करें तो दोनों में बहुत भेद है। अभ्यास की आवश्यकता है। उपादान और निमित्त दोनों की योग्य क्षमता होने पर कार्य होता है। एक की भी अनुपस्थिति हो तो कार्य नहीं होता। निष्कर्ष रूप से यह बात स्पष्ट हुई कि जिस समय समझाने का प्रसंग आता है उस समय व्यवहारनय का आश्रय लिया जाता है। लेकिन ध्यान रखना समझाने का प्रकरण केवल पर के लिए ही नहीं होता किन्तु स्वयं को भी समझना होता है तो भी व्यवहारनय का आश्रय लेना अनिवार्य होता है। मान लो, चलते-चलते किसी को पैर में मोच आ गई तो उसे स्वयं चलने के लिए लकड़ी का सहारा लेना पड़ता है। अतः समझाने या स्वयं समझने के लिए व्यवहारनय का आश्रय लिया जाता है अन्यथा निश्चय का आश्रय रहता है। इसी विषय का स्पष्टीकरण आगे की गाथा में किया जा रहा है–

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥१३॥

अन्वयार्थ–(ववहारो) व्यवहारनय **(अभूदत्थो)** अभूतार्थ है **(दु)** और **(सुद्धणओ)** शुद्धनय **(भूदत्थो)** भूतार्थ **(देसिदो)** कहा है। **(जीवो)** जो जीव **(भूदत्थमस्सिदो)** भूतार्थ के आश्रित है **(खलु)** निश्चय ही वह **(सम्मादिट्ठी)** सम्यग्दृष्टि **(हवदि)** है।

अर्थ–व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता को दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है, किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है, क्योंकि यह समता को अपनाकर एकत्व को लाता है। भूतार्थ को अपनाकर ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है, अर्थात् समीचीनता से देखने वाला होता है।

भूतार्थ शुद्धनय है निज को दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता,
सम्यक्त्व मण्डित, वही मन मैल धोता ॥१३॥

व्याख्या–व्यवहारनय अभूतार्थ होता है और निश्चयनय भूतार्थ। अभूतार्थ का अर्थ व्यवहार है और भूतार्थ का अर्थ शुद्धनय है। शुद्धनय के बारे में पूर्व गाथाओं द्वारा भी कथन किया गया है।

अभेदरत्नत्रय में शुद्धनय का आश्रय लिया जाता है। निश्चय श्रुतकेवली अथवा भावश्रुतकेवली शुद्धनिश्चयनय की भूमिका में होते हैं। निश्चयनय का आश्रय और शुद्धनिश्चयनय का कथन। इन दोनों में बहुत अन्तर होता है। व्यवहारनय का आश्रय लेने वाला, जब व्यवहारनय की भूमिका में शुद्ध निश्चयनय का कथन करता है, तो उस समय वह निश्चयनय की भूमिका में है या निश्चयनय के आश्रय में है ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु यह तो निश्चयनय की व्याख्या की गई है ऐसा समझना चाहिए। जिस समय साधक निश्चयनय का आश्रय लेता है उस समय व्यवहार की भूमिका से छूट जाता है। व्यवहारनय की भूमिका कहाँ तक रहती है और निश्चयनय की भूमिका कहाँ से प्रारम्भ होती है ? इस विषय को हम सभी समझ चुके हैं। फिर भी एक बार फिर ध्यान दें। निश्चयनय का आश्रय लेने का अर्थ है कि निश्चयनय के विषयभूत निर्विकल्प समाधि या एकत्व का अवलम्बन लेना। जो एकत्व-विभक्त अर्थात् रागादि से रहित आत्मतत्त्व का आश्रय लेता है वह शीघ्र ही दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसी का अर्थ है भूतार्थ। इस भूतार्थ का जो आश्रय लेता है वही सम्यग्दृष्टि होता है। अभूतार्थ का आश्रय लेने वाला सम्यग्दृष्टि नहीं होता। यदि ऐसा मानेंगे तो जो भेद रत्नत्रय के साथ है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, ऐसा सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि भेद रत्नत्रय के साथ व्यवहारनय चलता है। इसी रहस्य को उद्घाटित करने के लिए पुनः ये सारे के सारे प्रसंग उपस्थित किए गए।

जिज्ञासा—यहाँ पर सम्यग्दृष्टि कहने से कौन-सा सम्यग्दृष्टि विवक्षित है ?

समाधान—यहाँ पर सम्यग्दृष्टि कहने से निश्चय सम्यग्दृष्टि को ग्रहण किया गया है। यह सम्यग्दृष्टि भूतार्थ का सहारा लेने वाला होता है। यह अभेदरत्नत्रय से संयुक्त होता है। निर्विकल्प समाधि में लीन होता है। वीतराग चारित्र का अविनाभावी होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन शुद्धनयात्मक होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन कहने से उसमें ज्ञान और चारित्र भी गर्भित माना जाता है। एक उदाहरण से इसे समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—आचार्यों ने अभेदरत्नत्रय को समझने हेतु पानकवत् यह उदाहरण दिया है। पानक अर्थात् शर्बत या ठण्डाई। ठण्डाई कहने से उसमें जितनी वस्तुओं का योग है वे सभी संग्रहीत हो जाती हैं। 'पानक' कहने से कोई पेय पदार्थ जल, दूध आदि को पृथक्-पृथक् ग्रहण नहीं करना किन्तु बूरा, बादाम, सौंफ, इलायची, कालीमिर्च, खसखस आदि समस्त वस्तुओं से मिलकर जो पेय तैयार किया है उसे ग्रहण करना चाहिए। इन समस्त चीजों को यदि अलग-अलग कटोरे में घोल बनाकर तैयार करके रख दिया जाये तो उसे पानक नहीं कहेंगे, किन्तु यह बादाम का घोल है, यह बूरे का पानी है, यह कालीमिर्च का घोल है इत्यादि रूप से कहेंगे। 'पानक' में उक्त सभी चीजें समाविष्ट होती हैं। उसी प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन कहने पर अभेदरत्नत्रय को समझना चाहिए। जिसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की समष्टि होती है। वैसे तो भेद रत्नत्रय में भी तीनों का अस्तित्व रहता है लेकिन इसमें

भेदविवक्षा होती है। जैसे–पानक को भेदविवक्षा से कहने पर यह सिद्ध होता है, कि इसमें बूरा है, बादाम भी है, जल भी है, कालीमिर्च भी है इत्यादि। लेकिन उसी पानक को जब अभेद कथन से विवक्षित करके कहेंगे तो इसमें क्या–क्या है ? यह नहीं कहेंगे किन्तु यह पानक है ऐसा कहेंगे। अभेद रत्नत्रयात्मक शुक्लध्यान केवलज्ञान का कारण होता है। बिना ध्यान के केवलज्ञान और मुक्ति नहीं होती।

आचार्य जयसेन स्वामी ने अपने टीकाग्रन्थों में अनेक स्थलों पर कहा है कि शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ ये पाँच प्रत्यय होते हैं। किसी भी तथ्य या सिद्धान्त को समझने के लिए शब्द से भावप्रत्यय तक का माध्यम लेना अनिवार्य होता है। भाव तक पहुँचने के पूर्व चार प्रत्यय आश्रयभूत होते हैं। सर्वप्रथम शब्द के ऊपर अधिकार होना चाहिए। प्रसंग के अनुसार शब्द के अर्थ निकालना चाहिए। शब्दार्थ के उपरान्त किस नय की विवक्षा में शब्द का प्रयोग किया गया है ? यह देखना आवश्यक होता है। अन्य मतों में विवक्षित शब्द का क्या अर्थ स्वीकृत है ? आगम में शब्द का अर्थ क्या है ? और अन्त में शब्द का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है ? इत्यादि। इस विधि से शब्द से भाव प्रत्यय की ओर गति होती है। जैसे–यहाँ प्रसंग में सम्यग्दर्शन शब्द है। सम्यग्दर्शन का क्या अर्थ है ? किस नय की विवक्षा में कौन सा सम्यग्दर्शन ग्राह्य है ? अन्य मतावलम्बी इसे क्या समझते हैं ? आगम में किस सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया है ? सम्यग्दर्शन का प्रयोजन क्या है ? इनके समाधान में विचार करें तो सम्यग्दर्शन भूतार्थ रूप है। भूतार्थ शुद्ध नय का विषय है। नयों की दृष्टि से आत्मा रागी भी है, विरागी भी है। व्यवहारनय से आत्मा रागी है, अशुद्धनिश्चयनय से भी आत्मा रागी है, अशुद्ध है, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से आत्मा विरागी है, शुद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नयों का पक्षपात है जबकि आत्मा तो **खलु चिच्चिदेव** अर्थात् वह तो चैतन्यस्वरूप ही है। वस्तुतः नय से ऊपर उठकर देखें तो आत्मा चित् मात्र ही उपलब्ध होता है। किसी नय से आत्मा बन्धक है, किसी नय से अबन्धक किन्तु नयातीत दृष्टि से बन्धातीत है। इस प्रकार आचार्यों ने नयों के विकल्प अर्थात् भेद के विषय में कहा है कि–

जावदिया वयणवहा तावदिया होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया होंति परसमया॥

अर्थात् जितने शब्द हैं उतने ही नय हैं। उतने ही मिथ्यावादी हैं, इसलिए उनको समझाने के लिए उतने ही सम्यक् नय हैं। एकान्तनय मिथ्या होते हैं। इनका आश्रय लेने से वस्तु तत्त्व को सम्यक् रूपेण समझने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। एकान्त नयों के आश्रय से वाद–विवाद चलता रहता है। खण्डन–मण्डन चलता रहता है। जैसे–ब्रह्मवादी हैं, शब्दाद्वैतवादी हैं, ज्ञानवादी हैं। न्यायग्रन्थों में इनकी मान्यताओं में एकान्त होने से वाद–विवाद के विषय आते रहते हैं। यह मतार्थ हुआ। आगमग्रन्थों में सम्यग्दर्शन क्या है ? कितने भेद वाला है ? भूतार्थ के विषय में कौन सा सम्यग्दर्शन विवक्षित है ?

निश्चयसम्यग्दर्शन या व्यवहार सम्यग्दर्शन। सराग सम्यग्दर्शन या वीतराग सम्यग्दर्शन इत्यादि पर विचार करना आगमार्थ है। अन्त में यहाँ निर्विकल्प समाधि में स्थित निश्चय रत्नत्रय सम्बन्धी निश्चय सम्यग्दर्शन विवक्षित है। यही सम्यग्दर्शन क्रमशः केवलज्ञान का कारण होता है। यही सम्यग्दर्शन का प्रयोजन है इसे भावार्थ रूप से जानना चाहिए।

एक मत में 'नेति' को स्वीकार किया है। इसका अर्थ बहुत गंभीर है। इसे समीचीन दृष्टिकोण से देखें तो इसका इस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है। 'नेति' का अर्थ क्या है ? 'इस प्रकार नहीं है' अथवा 'यह नहीं है'। व्यवहारनय कहता है न इति तो निश्चयनय भी कहता है न इति। यह आत्मा नहीं है, आत्मा ऐसा नहीं है। व्यवहारनय की दृष्टि में निश्चयनय का विषय न इति रूप है और निश्चयनय की दृष्टि में व्यवहारनय का विषय नेति रूप होता है। जैसे–एक पेन है उसका कथन नेति मान्यता में कैसे होगा ? यह पेंसिल नहीं है, यह पुस्तक नहीं है, यह बेंच नहीं है, इत्यादि। तो क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में पेन है, ऐसा कथन नहीं करेंगे। जैसे–आत्मा है उसका कथन नेति मान्यता में इस प्रकार होगा कि–यह पुद्‌गल नहीं है, यह धर्मद्रव्य नहीं है, अधर्मद्रव्य नहीं है, आकाशद्रव्य नहीं है, कालद्रव्य नहीं है। फिर क्या है ? ये सब नहीं है फिर जो है सो है। आत्मा स्पर्शवान नहीं है, रसवान नहीं है, गन्धयुक्त नहीं है, वर्णवान नहीं है, शब्द से रहित है। फिर आत्मा क्या है ? कैसा है ? जैनदर्शन में तो इसका समाधान है–

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥४३॥ समयसार

मैं आत्मा एक रूप हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय सदा अरूपी हूँ। अन्य परमाणु मात्र मेरा कुछ भी नहीं है। यही अनेकान्त है। नेति मान्यता एकान्त स्वरूप है तो मिथ्या है यदि वही अस्ति-नास्ति रूप अनेकान्त स्वरूप है तो सम्यक् है। आत्मा के इस स्वरूप के प्रति क्यों नहीं है हमारा उपयोग ? आत्मस्वरूप में क्यों नहीं ठहरता? रास्ता नहीं मिलता क्या ? अरे, ठहरने के लिए रास्ते की आवश्यकता नहीं होती। ठहरने की बात की जा रही है, चलने की नहीं। चलना हो तो मार्ग की जरूरत पड़ती है। ठहरने से मंजिल कैसे मिलेगी ? मिल जायेगी। आज तक आत्मस्वरूप में नहीं ठहरने के कारण ही मुक्ति मंजिल की प्राप्ति नहीं हुई। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप, समुद्र हैं उनमें से ढाई द्वीप के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। अतः ढाई द्वीप में कहीं भी रहो, परन्तु आत्मस्वरूप में ठहर जाओ, तो मंजिल मिल जायेगी। स्वरूप में रुकना नहीं हो पा रहा है जबकि घूमकर के यहीं आना पड़ेगा। स्वरूप में यात्रा को विश्राम देना पड़ेगा तभी संसार-परिभ्रमण से मुक्ति संभव है, अन्यथा नहीं।

आगम में नैगमादि सात नयों का कथन किया गया है। इस विषय में **तत्त्वार्थसूत्र** में प्रथम अध्याय का अन्तिम सूत्र है–**नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः** इन सातों नयों में से आदि के चार नय द्रव्यार्थिक हैं एवं शेष शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत ये तीन नय पर्यायार्थिक हैं।

एवंभूतनय पदार्थ जिस समय जैसा परिणमन करता है उसे उसी रूप से कथन करता है। वाहन को चलाते समय व्यक्ति को चालक कहना। उसी प्रकार जिस समय सम्यग्दृष्टि निश्चयनय का अर्थात् भूतार्थ का आश्रय लेता है उसी समय निश्चय सम्यग्दृष्टि होगा। निश्चय सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। भरतादि उस समय तक व्यवहार सम्यग्दृष्टि या सराग सम्यग्दृष्टि कहे गए जब तक उनके द्वारा व्यवहारनय का आश्रय लिया गया। भरत आदि से राम, पाण्डव आदि सभी को ग्रहण कर लेना। ये वही भरत हैं जो आदिनाथ तीर्थंकर के सुपुत्र थे। जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे फिर भी उन्हें सरागसम्यग्दृष्टि क्यों कहा ? क्योंकि जब तक वीतराग अवस्था में शुद्धोपयोग अर्थात् निर्विकल्प समाधि में उपयोग की स्थिरता नहीं होती तब तक उन्हें निश्चय या वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता। एवंभूत होना चाहिए अर्थात् उस समय उस वाला होना चाहिए तभी तत्सम्बन्धी संज्ञा दी जाती है। निश्चय सम्यग्दृष्टि सात भयों से रहित होता है। जैसा कि आगे निर्जराधिकार में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने स्वयं एक गाथा प्रस्तुत की है–

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२४३॥

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिए निर्भय होते हैं। वे मरणादि सात प्रकार के भयों से रहित होते हैं, इसलिए निःशंक होते हैं। निःशंक का अर्थ है कि घोर परीषह, उपसर्ग प्राप्त होने पर भी शुद्धात्मस्वरूप में निष्कम्प रहना। पाण्डव आदि के समान उपसर्ग होने पर भी परमात्म स्वरूप से च्युत नहीं होना।

भय एक नोकषाय है। भय चार प्रकार का होता है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय की क्वालिटी की अपेक्षा चार भेद हो गए लेकिन क्रोध, मान, माया, लोभ के साथ भय को विभाजित करेंगे तो भय सोलह प्रकार का हो जायेगा। कषाय की तीव्रता या मन्दता पर नोकषाय की तीव्रता या मन्दता निर्भर करती है। आचार्यों ने शंका का अर्थ सन्देह के साथ भय को भी स्वीकार किया है। मात्र अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी भय से मुक्त होना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी भय नहीं होने पर भी चतुर्थ गुणस्थान में व्यवहार सम्यग्दृष्टि बहुत डरते हैं। यद्यपि भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे फिर भी छोटे भइया के द्वारा हार न हो जाए, यह भय था। शरीराश्रित क्रियायें जब तक होती हैं, तब व्यवहार की भूमिका होती है। शारीरिक क्रियायें उपयोग के बिना सम्पादित नहीं होतीं। अतः उनको भी आत्मा में आरोपित किया जाता है। कोई भी क्रिया किए बिना रहा जा सकता है लेकिन जब बोलने आदि की क्रिया में तत्पर होते हैं तो उपयोग को भी अवश्य ही बोलने की ओर मुड़ना यानि तत्पर होना आवश्यक होता है। उपयोग की तत्परता के बिना कोई भी शारीरिक क्रिया नहीं होती। अतः शारीरिक क्रियाओं के करते समय स्वरूप में स्थिरता नहीं होने के कारण निश्चय सम्यग्दृष्टि संज्ञा भी नहीं दी जा सकती।

जिज्ञासा—आत्मस्वरूप में स्थिरता करने का उपाय क्या है ?

समाधान—आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने **इष्टोपदेश** ग्रन्थ में आत्मस्वरूप की स्थिरता का उपाय बतलाते हुए कहा है कि–

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

अर्थ—इन्द्रिय समूह को नियन्त्रित करके चित्त की एकाग्रता से आत्मा के द्वारा आत्मा का आत्मा में स्थित होकर ध्यान करें। सर्वप्रथम इन्द्रिय विषयों की ओर जाने वाले उपयोग को नियन्त्रित करें। इन्द्रियों की ओर उपयोग के जाने से शरीर में उसका व्यायाम शुरू हो जाता है। अतः चित्त की एकाग्रता के साथ उस उपयोग को इन्द्रिय विषयों से हटाकर आत्म स्वरूप में स्थिर करें। इन्द्रियसंयमन के बिना आत्मस्वरूप में तल्लीनता नहीं आ सकती। स्वरूप तल्लीनता के बिना आत्मा का संवेदन सम्भव नहीं होता।

पूर्व गाथा में भावश्रुतकेवलित्व और द्रव्यश्रुतकेवलित्व के बारे में स्पष्ट किया था कि द्रव्यश्रुतकेवली सात तत्त्वों के विकल्पात्मक चिन्तन को करता है उस समय वह आत्मसंवेदन से वंचित रहता है। अतः उसे उस समय व्यवहारश्रुतकेवली भी कहते हैं, क्योंकि उस समय उनका उपयोग बहिर्तत्त्व की ओर होता है। व्यवहारश्रुतकेवली को शुक्लध्यान नहीं होता, शुद्धोपयोग नहीं होता, निर्विकल्प स्वसंवेदन भी नहीं होता। जबकि निश्चय श्रुतकेवली, शुद्धोपयोग या शुक्लध्यान की भूमिका में रहता है, अतः आत्मसंवेदन से युक्त होता है। ध्यान निवृत्तिपरक होता है। प्रवृत्ति के समय ध्यान की भूमिका नहीं होती। सामायिक या ध्यान के समय स्वाध्याय का निषेध होता है, क्योंकि स्वाध्याय के समय बहिर्मुखी उपयोग होता है। उस समय प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति से विराम पाने के लिए सर्वप्रथम उपयोग को पंचेन्द्रिय के विषयों से हटाना आवश्यक होता है। इन्द्रियविजयी होना आवश्यक होता है। इन्द्रियविजयी होने के उपरान्त पंचेन्द्रिय के विषयों के बीच बिठा दो, चित्रों से सजे हुए कमरे में बिठा दो, सुगन्धित वातावरण में बिठा दो, काश्मीर भी ले जाओ तो भी उन विषयों में साधक को आनन्द नहीं आता, किन्तु जिसका मन काश्मीर में अटका हो, भले ही वहाँ न जाये, काश्मीर का चित्र मात्र भी देख ले या चित्र भी नहीं मन में स्मरण मात्र भी कर ले, तो भी काश्मीर की प्रकृति के आनन्द का अनुभव करता रहता है।

इन्द्रियविजयी की जीवनशैली—

इन्द्रियविजयी की जीवन शैली ही परिवर्तित हो जाती है। उसे आत्मतत्त्व एवं अध्यात्म का रहस्य समझ में आ जाता है। वह वैराग्य भावप्रणाली से भर जाता है। उसे पंचेन्द्रिय के विषय इष्ट नहीं लगते। अपने आप ही इन्द्रिय रूपी खिड़कियों के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। वह इन्द्रियविषयों से विमुख होकर बैठता है, आँखें बन्द कर लेता है, तो सामने वाले कहते हैं कि आँखें खोलो न, आँखें बन्द करके क्यों

बैठे हो ? तो वह कहता है कि–आँखें खोलकर क्या करूँ ? आज ऐसे गुमसुम होकर क्यों बैठे हो ? इधर क्यों नहीं आ रहे ? आओ, संकोच मत करो, आपका ही तो घर है, आइये, आप अपने घर में आइये। वह कहता है–यह मेरा घर नहीं है और न तेरा है, मैं तो अपने घर की खोज में ही यहाँ गुमसुम होकर बैठा हूँ। अरे! आज क्या हो गया है ? किसने क्या कर दिया ? आज कैसी बातें कर रहे हो ? किसी ने कोई जादू या सम्मोहन तो नहीं कर दिया। किसी ने सदमा तो नहीं पहुँचाया। सामने वाले की इन समस्त बातों को सुनकर वह कहता है कि भाई साहब, आप ऐसा न सोचें। मुझे किसी ने कुछ नहीं किया। किसी ने कोई सदमा नहीं पहुँचाया। सुनकर वह दंग रह गया। मैं तो आज तक आपको समझाता आया हूँ कि थोड़े वैराग्य की बातें किया करो। परन्तु आज तो तुम्हीं मुझे समझा रहे हो। वह सोचता है, कि अभी तक तो तुम्हारी कुछ न कुछ मांग रहती थी, चाह थी, किसी भी जगह तसल्ली (संतोष) नहीं रहती थी। सुबह-शाम बेचैन रहता था। गले में चैन थी फिर भी बेचैन था। अब तो गले में चैन नहीं है, फिर भी बेचैन नहीं दिख रहा है। सारी बेचैनी समाप्त हो गई है। बाहर की समस्त बेचैनी समाप्त होने का अर्थ ही है कि उसने अध्यात्म का रहस्य समझ लिया, वह इन्द्रियविजयी हो गया। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में अब सुख का अनुभव नहीं हो रहा है। उसे समझ में आ गया कि इन विषयों में सुख नहीं है। इस प्रकार का तत्त्वज्ञान होने पर आत्मतत्त्व उपयोग की स्थिरता होना प्रारम्भ हो जाती है। वीतराग सम्यग्दर्शन होने पर ऐसी ही निर्विकल्प अवस्था होती है। फलतः उपयोग स्थिर होने से आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। आत्मानुभव का आनन्द आता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि सप्त भयों से रहित होता है। पंचेन्द्रियों के विषय उससे बहुत पीछे रह जाते हैं। अब रह गई केवल मन, वचन, काय की प्रवृत्ति। उनको भी वह आत्मतत्त्व पर केन्द्रित कर लेता है। योग की प्रवृत्ति इतनी हानिकारक नहीं होती जितनी कि इन्द्रिय विषय व्यापार सम्बन्धी उपयोग की प्रवृत्ति। इन्द्रियविषयों के प्रति लगाव अत्यधिक हानिकारक होता है। जिसने संयम को धारण कर लिया हो, यदि उसकी इन्द्रियव्यापार सम्बन्धी प्रवृत्ति होती भी है तो भी उसकी इन्द्रियव्यापार में सुख की मान्यता नहीं रहती। इसलिए उसे तत्त्वचिन्तन में उपयोग स्थिर करने में देर नहीं लगती। शरीर है तो उसमें उदर है। उदर है तो उसमें भूख है। भूख होने पर आहार संज्ञा होती है। उसकी शान्ति के लिए दो-चार रोटी की आवश्यकता होती है। आहार करके भूख को शान्त कर लिया। आहार के पूर्व भोजन सामग्री का स्वागत था, भोजन की आकुलता थी, लेकिन आहार होने के उपरान्त आकुलता समाप्त हो जाती है। अब सन्तुष्ट हो गया। अब तो ध्यान करना है। यह अनिवार्य चर्या होती है। कुछ समय के लिए आहार को टाला जा सकता है, इसके उपरान्त नहीं। वज्रवृषभनाराच संहनन के बाद भी तीर्थंकर को भी आहार के लिए उठना पड़ा। इन्द्रिय व्यापार के द्वारा आहार संज्ञा को उपशमित करके ज्ञान का व्यापार चलता रहता है। इसीलिए ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के इन्द्रिय व्यापार में कथंचित् साम्य नजर आता है, लेकिन दोनों के दृष्टिकोणों में

बहुत अन्तर होता है। हमें भी ज्ञानी का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

भोजन के प्रति ज्ञानी और अज्ञानी का दृष्टिकोण—

ज्ञानी का दृष्टिकोण भोजन के द्वारा भूख मिटाने का होता है और अज्ञानी भी भोजन के द्वारा भूख को शान्त करता है। भूख मिटाने का या शान्त करने का विकल्प तो सही है, आवश्यक है, इसीलिए तो मुनियों के २८ मूलगुणों में दो मूलगुण आहार से सम्बन्धित हैं–१. दिन में एक बार आहार लेना, २. खड़े होकर आहार लेना। ज्ञानी को भूख शान्त करने का विकल्प तो होता है परन्तु रस का विकल्प नहीं। लेकिन अज्ञानी को भूख के साथ-साथ रस का विकल्प भी होता है। भूख के विकल्प को तो आधा घण्टे में समाप्त किया जा सकता है लेकिन रस का विकल्प तो पेट भरने के बाद भी बना रह सकता है। गृहस्थ साधु को नीरस भोजन देने के बाद स्वयं रस रहित भोजन नहीं कर सकता। वह सोचता है, महाराज का नियम था, नीरस आहार लेने का तो उन्होंने नीरस कर लिया। मैं महाराज थोड़े ही हूँ, उनके लिए रस परित्याग तप था, हमारे लिए तप का नियम थोड़े ही है, मुझे तो दिन भर श्रम करना है इत्यादि। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के बीच दृष्टि भेद आ जाता है। ज्ञानी साधु जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत नहीं होते अतः यदि कभी कोई रस ले भी लें तो वे रसास्वाद में आनन्द नहीं मानते। जबकि गृहस्थ जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होता है अतः वह सरस भोजन में आनन्द मानता है।

ज्ञानी के उपयोग की कैसी विचित्रता है। जैसा उद्देश्य होता है वैसा भीतर से निर्देश प्राप्त होता है। इन्द्रिय रस की नहीं किन्तु आत्मरस की अनुभूति का उद्देश्य होने से साधक की दृष्टि में अन्तर आ जाता है। रस सम्बन्धी लोभ-लालच से साधक कोशों दूर चले जाते हैं। धीरे-धीरे नीरस भोजन भी छूट जाता है। सब तरफ से निर्विकल्प होकर आत्मरसानुभूति हेतु ध्यान में संलग्न हो जाते हैं। ध्यान की निर्विकल्पता ही आत्मानुभूति में सहायक होती है।

आगमानुसार अध्यात्म रहस्योद्घाटन—

आगम में अध्यात्म के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ और अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ। भूतार्थ क्या है ? और अभूतार्थ से क्या तात्पर्य है ? इसका स्पष्टीकरण **आचार्य जयसेन स्वामी** ने अपनी **तात्पर्यवृत्ति** टीका में किया है। प्रथम व्याख्यान में तो इतना ही स्पष्ट किया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ होता है और निश्चयनय भूतार्थ। इन दोनों में से भूतार्थ या सत्यार्थ रूप निश्चयनय का आश्रय लेने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। इस प्रकार टीकाकार **अमृतचन्द्राचार्य** का भी एक व्याख्यान है। दूसरा व्याख्यान भी किया है। **ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थश्च। कथितः देशितः।** अर्थात् व्यवहारनय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है। इतना ही नहीं, किन्तु **शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम्।**

शुद्ध और अशुद्ध के भेद से निश्चयनय भी दो प्रकार का है, ऐसा गाथा में आए हुए दु शब्द से प्रकट होता है। इस अपेक्षा से निश्चयनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ रूप हो गया। **आचार्य जयसेन**

स्वामी ने यहाँ तात्पर्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।

दृष्टान्त—जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल पी लेता है, किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष उसमें कतकफल-निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है। दोनों जल के आस्वाद में अन्तर होता ही है। उसी प्रकार स्वसंवेदन रूप भेदभावना से रहित मनुष्य मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम सहित आत्मा का अनुभव करता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष अभेदरत्नत्रय लक्षण युक्त निर्विकल्पसमाधि के बल से कतकस्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है।

यहाँ पर **आचार्य ज्ञानसागर** जी ने भी उक्त चारों नयों की भूतार्थता और अभूतार्थता को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ व अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया है, किन्तु यहाँ पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सारभूत नहीं समझना चाहिए, किन्तु अ का अर्थ ईषत् लेकर व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान भी है, ऐसा लेना चाहिए। जैसा कि **आचार्य जयसेन स्वामी** ने भी अपने तात्पर्यार्थ में बतलाया है।

निश्चय सम्यग्दर्शन अभेदरत्नत्रय का अविनाभावी होता है वही निर्विकल्प समाधि का कारण होता है, किन्तु व्यवहारनय भी निश्चयनय का कारण होता है। अर्थात् भेदरत्नत्रय साधन रूप होता है। बिना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं होती। अत: इसे परम्परा से कारण रूप माना जाता है। निश्चयनय के लिए कारणभूत व्यवहारनय भूतार्थ है किन्तु औपचारिक व्यवहार जो निश्चय का कारण नहीं बनता वह अभूतार्थ है। निश्चयनय में भी शुद्धनिश्चयनय जो केवलज्ञान का कारण है वह भूतार्थ है और अशुद्धनिश्चयनय सर्वथा अभूतार्थ है। अशुद्धनिश्चयनय को आगम में एक प्रकार से व्यवहारनय के रूप में स्वीकार किया है।

अनेकान्त का मर्म समझ में आने पर ही अध्यात्म के रहस्य उद्घाटित होते हैं। जैसे—प्रतिक्रमण के विषय में अनेकान्त है कि व्यवहारनय की भूमिका स्वरूप "सविकल्प सरागचारित्र की अवस्था में प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है।" किन्तु "शुद्धोपयोग लक्षण वाली समस्त परद्रव्य के आलम्बन रूप विभाव परिणाम से शून्य निर्विकल्प वीतराग चारित्र की अवस्था में विषकुम्भ है।" इसका और अधिक विशद विवेचन आगे मोक्षाधिकार में किया गया है।

प्रतिक्रमण दोषों को दूर करने का एक साधन होता है। प्रतिक्रमण करने के उपरान्त ही सामायिक होती है। प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ क्यों है ? चूँकि प्रतिक्रमण करने के उपरान्त ही निश्चय सामायिक में अर्थात् निर्विकल्पसमाधि में लीन होने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। इसलिए साधक के लिए प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ होता है। प्रतिक्रमण को जो नहीं करता उसके शल्य बनी रहती है। शल्य के साथ समता भाव सुरक्षित नहीं रह सकता।

दृष्टान्त—जैसे प्राय: श्रावक स्नान करने के उपरान्त ही भोजन करता है। बिना स्नान किए

भोजन करने की इच्छा नहीं होती। बुखार वगैरह आने पर बिना स्नान के भोजन करना भी पड़े तो थोड़ा-सा भोजन होता है। स्नान के बिना भोजन करने पर मन सन्तुष्ट नहीं होता और मन प्रशस्त भी नहीं रहता। अतः जिस प्रकार भोजन से पूर्व स्नान अनिवार्य होता है उसी प्रकार निर्विकल्पसमाधि में लीन होने के पूर्व में प्रतिक्रमण अनिवार्य हो जाता है। इसलिए **आचार्य अमृतचन्द्र** जी ने भी प्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ कहा है। यदि साधक प्रतिक्रमण कर ले और सामायिक में नहीं बैठे तो उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसे कि स्नान करने के उपरान्त भोजन न करे तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रतिक्रमण के द्वारा मन हल्का हो जाता है, मन की मलिनता दूर हो जाती है, पश्चाताप के द्वारा भी मन विशुद्ध होता है। यदि मन का विकल्प दूर नहीं होता तो मन में वह चुभता रहता है अतः मन से निकालना ही ठीक रहता है। तभी मन निर्विकल्प होता है। तभी निर्विकल्प आत्मध्यान की भूमिका का निर्माण होता है।

निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों में कार्य-कारण व्यवस्था को दूसरे उदाहरण से पुनः समझाने का प्रयास करते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-दही से नवनीत की प्राप्ति होती है। कैसे प्राप्त होता है ? दही से नवनीत प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है। दूध को जमाकर दही बनाया। दही का मन्थन करने से नवनीत बनता है। दही का मन्थन करने के लिए दही को किसी पात्र में रखा जाता है। बिना पात्र के दही का मन्थन कैसे होगा ? नहीं हो सकता। मन्थन क्रिया के लिए मथानी, रस्सी, भगौनी और मंथन करने वाला इत्यादि सभी की आवश्यकता होती है। इस उदाहरण में नवनीत की प्राप्ति निश्चय है। दही व्यवहार है। दही का आधार पात्र, भगौनी, मथानी, रस्सी आदि भी व्यवहार हैं। एक भूतार्थ रूप व्यवहार है जो निश्चय का साक्षात् कारण होता है। और एक औपचारिक व्यवहार है जो निश्चय की प्राप्ति में परम्परा से कारण होता है। यहाँ दृष्टान्त में दही भूतार्थ रूप व्यवहार है क्योंकि दही ही नवनीत बनेगा। अन्य भगौनी, रस्सी, मथानी आदि औपचारिक व्यवहार हैं।

नवनीत किसमें है ? दही में। व्यवहार के बिना यदि निश्चय की प्राप्ति होती है तो बिना मन्थन किए दही से नवनीत प्राप्त होना चाहिए। जबकि ऐसा कभी नहीं होता। दूध से या दही से घृत प्राप्त करने के लिए कोई न कोई प्रक्रिया का सहारा लेना अनिवार्य होता है। दही में से जब तक नवनीत नहीं आता तब तक हाथ से मथानी को ऊपर-नीचे करके मन्थन क्रिया करना आवश्यक होती है। यह मन्थन क्रिया सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। इस व्यवहार का जो निषेध करता है, उसे ऐसा समझना चाहिए कि मानो उसे निश्चय प्राप्ति की प्रक्रिया का ज्ञान नहीं है, क्योंकि इस मन्थन क्रिया के बिना कभी नवनीत की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इतना अवश्य है कि जितना मन्थन आवश्यक है उतना ही करें। रस्सी, पानी, भगौनी, मथानी इत्यादि बाह्य उपकरण माने जाते हैं, करण नहीं। करण को कार्य करने में उपकरण की आवश्यकता होती है। उपकरण के द्वारा करण में ऐसी क्रिया हो जाती है जिससे कार्य

सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार नयचतुष्टय को समझने का प्रयास किया गया।

उपसंहार—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने इस गाथा में स्पष्ट कथन किया है कि जो भूतार्थ नय का आश्रय लेता है वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। ऐसी दशा में एक प्रश्न उठता है कि जो निश्चयनय का आधार नहीं लेता वह सम्यग्दृष्टि है कि नहीं ? इस प्रश्न के समाधान में **आचार्य जयसेन स्वामी** ने स्वयं टीका में द्वितीय व्याख्यान में व्यवहारनय के दो भेद किए हैं–१. भूतार्थ और २. अभूतार्थ। जो व्यवहारनय निश्चय का कारण होता है वह व्यवहार भूतार्थ रूप होता है। उसका आश्रय लेने वाला भी सम्यग्दृष्टि सिद्ध होगा। इतना अवश्य है कि व्यवहार का आश्रय लेना व्यवहार सम्यग्दृष्टि होगा, भेद रत्नत्रय वाला होगा, सराग सम्यग्दृष्टि होगा, किन्तु निश्चय रूप भूतार्थ का आश्रय लेने वाला निश्चय सम्यग्दृष्टि होगा, अभेद रत्नत्रयात्मक वीतराग सम्यग्दृष्टि होगा। व्यवहारनयाश्रित अपहृत संयम होता है और निश्चयनयाश्रित उपेक्षासंयम होता है। ऐसा कथन **आचार्य जयसेन स्वामी** ने टीकाग्रन्थों में अनेक स्थलों पर स्पष्ट किया है।

उत्थानिका—पूर्वोक्त गाथा में कहा गया है कि भूतार्थ नय का आश्रय लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु आगे की गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान हो, ऐसा नहीं है, किन्तु कभी-कभी सविकल्प अवस्था में उन्हीं में से किन्हीं-किन्हीं को मिथ्यात्व विषयकषाय रूप दुर्ध्यान को दूर करने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है। जैसे–किसी को सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हो तो नीचे के ही पन्द्रह अथवा चौदह वानी का सोना भी सम्मत समझा जाता है। इसी को आगे कहा जा रहा है।

स्पष्टीकरण—वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला वीतराग सम्यग्दृष्टि भूतार्थ का आश्रय लेने वाला होता है, वही यहाँ प्रसंग विवक्षित है। लेकिन मात्र निर्विकल्प समाधि में रहने वाला सम्यग्दृष्टि ही प्रयोजनवान है, ऐसा नहीं, किन्तु जो निर्विकल्प समाधि से च्युत हो जाते हैं, अध्यवसान करने की भूमिका में आते हैं उनके लिए **व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति।** व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है, क्योंकि हमेशा-हमेशा निर्विकल्प समाधि नहीं बनी रहती। अतः दुर्ध्यान आदि से बचने के लिए व्यवहारनय प्रयोजनवान होता है। फिर भी उसे व्यवहारनय प्रधान नहीं होता। जैसे–**प्रवचनसार** ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में शुद्धोपयोग सम्बन्धी कुछ गाथायें आयीं हैं, उनमें कहा है कि जब आत्मा शुद्धोपयोगी रत्नत्रय धारण करने वाला धर्मात्मा शुद्धोपयोग में स्थित रहता है तब शुद्धोपयोगी होता हुआ निरास्त्रवी हो जाता है और उससे च्युत होने पर शुभोपयोग से युक्त होता हुआ शुभोपयोगी होकर सास्त्रवी होता है। कर्मबन्ध करने वाला होता है। शुद्धोपयोग केवलज्ञान का साक्षात् कारण होता है। निर्विकल्पसमाधि से रहित होने पर क्या करता है? इसे एक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है।

दृष्टान्त—सोलहवानी स्वर्ण जिसे सोलह बार तपाया जाता है। एक बार, दो बार जैसे-जैसे तपता चला जाता है, वैसे-वैसे वह सौ टंच पूर्ण शुद्ध स्वर्ण तैयार हो जाता है। इसके पूर्व वह स्वर्ण नहीं कहलाता है, ऐसा नहीं है। एक तो वह पाषाण होता है जिसमें स्वर्णत्व नहीं रहता और दूसरा वह पाषाण होता है जो स्वर्ण पाषाण कहा जाता है, जिसमें से स्वर्ण की प्राप्ति होती है। सौ टंच सोना वह होता है जिसमें एक प्रतिशत भी बट्टा नहीं होता। लेकिन स्वर्ण के आभरण बनाने के लिए बट्टा मिलाया जाता है, क्योंकि बिना बट्टे के आभरण नहीं बनते। बट्टे को मिलाना अनिवार्य होता है। फिर भी व्यवहार चलता है कि सौ टंच सोना है। यहाँ प्रसंग में सौ टंच सोना निश्चयनय स्वरूप है। या यूँ कहें कि निर्विकल्प समाधि अधिकरण है और उससे च्युत होना चौदह कैरिट स्वर्ण की भाँति है, लेकिन वह स्वर्ण नहीं, ऐसा भी तो नहीं कहा जा सकता है। हाँ, किसी धातु पर सोने का पानी चढ़ाया जाता है और उससे मूर्ति या आभरण बनाये जाते हैं तो वे सोने के नहीं कहे जाते। उसी प्रकार प्राथमिक दशा में अर्थात् सविकल्प दशा में समिति के समय सम्यग्दर्शन के साथ स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, रत्नत्रय की साधना आदि के आश्रय से असंख्यातगुणी निर्जरा भले ही हो, लेकिन उस प्रवृत्ति के समय शुद्धोपयोग नहीं होता। उपवास के साथ हो, आठ दिन के उपवास के साथ, निद्राविजय भी हो, किसी से वचन प्रवृत्ति भी न हो, तो शुभोपयोगात्मक रत्नत्रय की अवस्था मानी जायेगी। उस समय गुप्ति की प्राप्ति नहीं होगी। शुद्धोपयोग और शुभोपयोग एक साथ नहीं होते। शुद्धोपयोग की महिमा कितनी गहन है, इसे समझना आवश्यक है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** जिन्होंने महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ की रचना की है, वे स्वयं शुद्धोपयोग को नमन करते हैं। **मैं उस श्रामण्य के लिए नमस्कार करता हूँ, जिसके द्वारा अन्तर्मुहूर्त में कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है।** सविकल्प दशा में शुद्धोपयोग कभी नहीं हो सकता। नयवाद वैकल्पिक अवस्था में होते हैं। जितने मत-मतान्तर हैं, उतने ही नय हैं। आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि जितने शब्द हैं, उतने नय हैं। **निर्विकल्प का अर्थ है ज्ञाने न विकल्पाः नयाः।** ज्ञान में नय विकल्प नहीं होता और ज्ञान में विषय-कषाय आदि या रत्नत्रय का भेद आदि का विकल्प नहीं होता। चिन्तन भी सविकल्प दशा में होता है। एकाग्र का अर्थ है कि एक को ही अग्र यानि प्रधान को विषय बनाकर उपयोग को स्थिर करना, अन्य किसी प्रकार का विकल्प नहीं होना। इसीलिए आचार्यों ने लिखा है कि निर्विकल्पदशा अर्थात् द्रव्यश्रुत का आधार छोड़कर भावश्रुत में लीन हो जाना। वैसे तो **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने शुक्लध्यान में भी ध्याता को **णयगहण-विलीणो** कहा है। वक्ता के अभिप्राय से विवक्षा को सिद्ध किया जाता है। चूँकि जो छहों द्रव्य एवं उनके गुण पर्यायों को शुक्लध्यान का विषय स्वीकार करते हैं उनकी दृष्टि से उक्त विशेषण घटित हो जाता है।

सविकल्प दशा में अनेक प्रकार की भूमिकायें बनती हैं। जैसे-मिथ्यात्व, विषय, कषाय, राग, द्वेष भी विकल्प हैं। दुर्ध्यान भी विकल्पात्मक होता है। भेदात्मक तत्त्वचिन्तन में भी सविकल्पदशा

मानी जाती है, क्योंकि विकल्प का अर्थ भेद भी होता है। अतः दुर्ध्यान मिथ्यात्व, कषाय आदि से बचने के लिए एवं भेद परक चिन्तन में मन लगाने के लिए या उपयोग को स्थिर करने के लिए भी भूतार्थ व्यवहारनय का अवलम्बन लेना आवश्यक होता है।

दृष्टान्त—एक स्वस्थ व्यक्ति का भोजन अलग होता है और रोगी को भोजन अलग होता है। रोगी पथ्य रूप भोजन लेता है, जिससे रोग न बढ़े। उतनी मात्रा में ही लेता है, जितना उसे सुपाच्य होता है। जिस मात्रा में पथ्य लेने से शरीर बना रहे। इसलिए रोगी भोजन करता है। भले ही शरीर में शक्ति का विकास हो या न हो, अन्यथा रोग बढ़ जायेगा या अन्य रोग भी हो सकता है। अतः रोगी को अपच से बचते हुए शरीर को सुरक्षित रखने के लिए योग्य मात्रा में थोड़ा-सा पथ्य स्वरूप भोजन करना आवश्यक होता है, इसलिए करता है। लेकिन स्वस्थ होने के बाद भी सोच-समझकर भोजन करना आवश्यक है, क्योंकि स्वस्थ होने के बाद भी जिसमें अरुचि हो, जो स्वास्थ्य के प्रतिकूल हो और अति मात्रा में हो तो पुनः अस्वस्थ होने की स्थिति बन सकती है। अतः सम्हाल कर सोच विचार कर भोजन करना आवश्यक होता है। उसी प्रकार दुर्ध्यान से बचने के लिए मिथ्यात्व, विषयकषाय से बचने के लिए निर्विकल्प दशा से च्युत होने वाले मुनिराज को व्यवहारनय का आलम्बन स्वास्थ्य वर्धक एवं प्रयोजनवान होता है। इसी विषय का अगली गाथा में स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१४॥

अन्वयार्थ—(परमभावदरिसीहिं) परमभाव-शुद्धात्मभाव को देखने वालों के द्वारा **(सुद्धा-देसो)** शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला **(सुद्धो)** शुद्धनय-निश्चयनय **(णादव्वो)** जानने योग्य है **(पुण)** और **(जे दु)** जो जीव **(अपरमे भावे)** अशुद्धभाव में (श्रावक की अपेक्षा शुभोपयोग में एवं प्रमत्त-अप्रमत्त की अपेक्षा) भेदरत्नत्रय में **(ठिदा)** स्थित हैं, वह **(ववहारदेसिदो)** व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

अर्थ—शुद्धनिश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परम शुद्धात्मा की भावना में लगे हुए पुरुषों के द्वारा अंगीकार करने योग्य है। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था में स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय ही कार्यकारी है।

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत सराग चरित्र वाले,
भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी सम्हाले ॥१४॥

व्याख्या—शुद्धनिश्चयनय शुद्ध द्रव्य का आधार लेकर शुद्धत्व का कथन करता है। निश्चयनय का कथन व्यवहार की भूमिका में होता है, क्योंकि निश्चयनय की भूमिका निर्विकल्पसमाधि रूप होती

है, उस अवस्था में कथन होता ही नहीं है। शुद्धनिश्चयनय **परमभावदरसीहिं** शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों द्वारा जानने-भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है, क्योंकि वह सोलहवानी स्वर्ण के समान अभेदरत्नत्रय स्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान होता है, किन्तु व्यवहारनय **अपरमेट्ठिदाभावे** अर्थात् जो परमभाव में स्थित नहीं हैं, पन्द्रह, चौदह आदि वानी के स्वर्ण लाभ के समान उन लोगों को प्रयोजनवान होता है जो अशुद्ध रूप असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सरागसम्यग्दृष्टि लक्षण वाला है और प्रमत्त तथा अप्रमत्त की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षण वाला है ऐसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित है। ज्ञानवाचक शब्द अनुभववाचक भी होते हैं। अतः परम भाव में जो स्थित हैं उनके द्वारा शुद्धनय जानने योग्य अर्थात् अनुभव करने योग्य है और जो निर्विकल्प दशा में स्थित नहीं हैं, उनके लिए व्यवहारनय का आधार लेना अनिवार्य होता है। यह कथन गलत नहीं है, क्योंकि यह तो आगम का कथन है, लेकिन हमेशा व्यवहार नय का ही अवलम्बन ले लें या उसी को लक्ष्यभूत तत्त्व रूप स्वीकार करें, यह गलत है। **अपवाद का निषेध नहीं है, लेकिन उत्सर्ग को भूलकर अपवाद का विधान करके चौबीसों घण्टे अपवाद में ही रहें, यह गलत बात है।** कई लोग अपवाद का विधान करके, निश्चय के संविधान को भूल जाते हैं। उन्हें मात्र अपवाद का ही विधान लक्ष्य में हो गया यह ठीक नहीं है। जैसे—चलने के लिए ईर्यासमिति से चलो, ऐसा कहा। रात में भले नहीं चलेंगे लेकिन दिन में भी कब चलो ? आवश्यक हो तो चलो अनावश्यक नहीं और चलते हुए भी सोचो कि हमें चलना पड़ रहा है। कम से कम इतना तो ध्यान रखो, तब ठीक है। **प्रवृत्ति आवश्यक है, व्यवहार आवश्यक है किन्तु उस समय तक, जब तक कि निश्चय का अभाव है।**

जिज्ञासा—निश्चय का अर्थात् निर्विकल्प समाधि का अभाव क्यों हो जाता है ?

समाधान—आगम का यह कथन है कि चारित्र अंगीकार करने के बाद साधक के जीवन में हजारों बार घड़ी के पेण्डूलम (दाएँ-बाएँ) के समान प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान होता रहता है। यह घटना निश्चित है। इसे झूले की उपमा भी दी गई है। इस प्रमत्त और अप्रमत्त रूपी झूले में श्रमण का पालन-पोषण होता है। जैसे—प्राथमिक दशा में बालक का जन्म होने के उपरान्त झूले में पालन-पोषण होता है। यह बात अलग है कि किसी का सोने का पलना है, किसी का रत्नों का, किसी का चाँदी का, किसी का लकड़ी का और किसी को वह भी नहीं मिलता। जब विहार करते हैं तब एक दृश्य देखने को मिलता है, पेड़ की डालियों में या दो पेड़ के बीच रस्सी बाँध दी जाती है, गुदड़ी का पालना बनाकर उसमें बालक को झुलाते रहते हैं। अपना काम भी करते रहते हैं। यह भी नहीं हो तो माँ अपनी गोद में ही इस प्रकार झुलाती रहती है कि जिससे झूले के समान काम हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? यह नियम है। बन्धन के बिना विकास नहीं होता। इसी प्रकार श्रमण के बार-बार प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान का होना अनिवार्य है। जब तक श्रेणी नहीं चढ़ते तब तक यह उतार चढ़ाव होता रहता है।

इसी बीच सप्तम गुणस्थान में जो निर्विकल्प दशा की भूमिका में पहुँचते हैं तो श्रेणी चढ़ने के पूर्व चूँकि उस अप्रमत्त दशा का जितना काल है, उतने समय के उपरान्त नीचे व्यवहार की सविकल्पदशा में आना अनिवार्य होता है। जब तक सातिशय अप्रमत्त नहीं होते, त्रिगुप्तिगुप्त रूप निर्विकल्प दशा में नहीं पहुँचते तब तक यह परिवर्तन होना अनिवार्य घटना है।

जिस प्रकार योग परिवर्तन होता रहता है वैसे गुणस्थान परिवर्तन होता रहता है। आचार्यों का कहना है कि जब तक प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान में हजारों बार परिवर्तन नहीं होता तब तक चाहे चक्रवर्ती हों चाहे तीर्थंकर हों, वे भी श्रेणी नहीं चढ़ सकते। इस विषय में **परीक्षामुख सूत्र** का एक सूत्र विचारणीय है—**अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्** ज्ञान का फल क्या है ? इसका कथन करते हुए सूत्र लिखा है **अज्ञाननिवृत्ति** अज्ञान की निवृत्ति हान है अर्थात् जिसको हेय समझा था उसकी हानि करना और जिसको उपादेय समझा था उसे ग्रहण करना आदान है। हान और उपादान होने के उपरान्त ही उपेक्षा रूप फल की प्राप्ति होती है। हान, आदान, उपेक्षा यह क्रम है। ये तीनों एक साथ भी हो सकते हैं। **धवलादि** ग्रन्थों में आया है कि जैसे—कोई अनादि मिथ्यादृष्टि एक साथ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त करता है, उसके सम्यग्दर्शन अज्ञाननिवृत्ति, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति और चारित्र की प्राप्ति, साम्यावस्था रूप सप्तम गुणस्थान की प्राप्ति, ये सभी कार्य एक साथ होते हैं। इसके उपरान्त उपेक्षा रूप निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति होती है।

जिज्ञासा—यदि कोई मिथ्यादृष्टि जीव करणपूर्वक सप्तम गुणस्थान प्राप्त करता है, कोई पंचम गुणस्थान, कोई चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त करता है तो क्या इन सभी के करणों में साम्यता होती है या विषमता ?

समाधान—उक्त सभी जीवों को अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम से तो समानता होती है अर्थात् कोई जीव चाहे साक्षात् रत्नत्रय प्राप्त करे, कोई पंचम गुणस्थान में देशसंयम की प्राप्ति करे और कोई मात्र सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो इन सभी के अधःकरणादि नाम वाले ही करण होते हैं, इसलिए नाम की अपेक्षा समानता होती है, लेकिन इन सभी की विशुद्धि की जाति में अन्तर होता है। अर्थात् परिणामों की विशुद्धि इन सभी की भिन्न-भिन्न होती है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे टिकट खरीदने का स्थान एक होता है। एक ही स्टेशन होता है, लेकिन टिकट खरीदने वाले भिन्न-भिन्न हैं। वे सभी भिन्न-भिन्न डिब्बों का, भिन्न-भिन्न श्रेणी का टिकट खरीदते हैं। एक ही ट्रेन में रहते हुए भी कोई एईसी के साथ बैठना चाहता है, सोना चाहे सोता है, नाश्ता, चाय, कॉफी जिस समय जो खाना-पीना चाहे वह खाता है, एक घण्टी बजाओ सारी सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं। उसी ट्रेन में एक सामान्य व्यक्ति जा रहा है, बैठने को भी अच्छे से स्थान नहीं मिल पा रहा है, सोने की बात तो दूर है। अन्य सुविधायें उसे नहीं मिलती। ऐसा क्यों ? टिकट उसने भी खरीदा, इसने भी

खरीदा और बहुत लोगों ने खरीदा। सभी की सुविधायें भिन्न-भिन्न हैं। सभी की टिकट की क्वालिटी भिन्न है, सभी के गन्तव्य भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन यात्री तो सभी हैं। उसी प्रकार यहाँ प्रसंग में कोई सम्यग्दर्शन का टिकट खरीद रहा है, कोई देशसंयम का और कोई एक साथ रत्नत्रय प्राप्त करने का टिकट खरीद रहा है। करण रूपी टिकट तीनों के पास हैं, लेकिन उनकी क्वालिटी में भिन्नता है।

आगम के आलोक में यदि आप स्वाध्याय करेंगे तो ज्ञान होगा कि पचास वर्ष तक भी यदि मात्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्दर्शन करते रहेंगे तो कुछ होने वाला नहीं है। कुछ लोगों की धारणा है कि सम्यग्दर्शनादि तीनों एक साथ प्राप्त नहीं हो सकते। उन लोगों को जागृति के साथ सुन लेना चाहिए कि मुनि बनने पर एक साथ रत्नत्रय की प्राप्ति हो सकती है। सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में ही प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु जो देशसंयम के साथ सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा वह पंचमगुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला कहा जायेगा और जो संयम के साथ सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा वह सप्तम गुणस्थान में प्राप्त करने वाला माना जायेगा। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन मात्र चतुर्थ गुणस्थान में ही नहीं किन्तु अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग नहीं बनता यह निश्चित बात है लेकिन उसका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान में ही हो, ऐसा नहीं समझना। यदि ऐसी धारणा बनाते हैं तो समझो कि यह बालक के योग्य ही स्वाध्याय का फल है। स्वाध्याय प्रौढ़ होना चाहिए।

संस्मरण—जब छोटा था तब दूध पी लो ऐसा कहने पर, छोटी सी कटोरी से पीता था। चूँकि छोटा था। बड़ा होने के उपरान्त भी, उसी छोटी सी कटोरी से दूध पीयेगा क्या ? कम से कम गिलास के अनुपात बराबर मात्रा तो बढ़नी चाहिए। यदि उसी छोटी कटोरी से प्रेम है तो कम से कम तीन-चार कटोरी दूध तो लिया करो। ऐसा कहा जाता था। बचपन से उसी कटोरी पर श्रद्धान है तो उसी कटोरी से पिया करो। परन्तु दूध की मात्रा तो अधिक लेना आवश्यक होती है। प्रौढ़ होने पर तो गिलास क्या लोटे से भी दूध पिया जा सकता है। इसी प्रकार जो रत्नत्रय की बात तो बहुत करते हैं, लेकिन रत्नत्रय प्राप्ति की बात नहीं करते, उस ओर अग्रसर नहीं होते। ऐसे लोगों को कम से कम यह तो सोचना चाहिए कि उनके पास सीधा सप्तम गुणस्थान प्राप्त करने की भी क्षमता है। मात्र स्वाध्याय से क्या ? स्वाध्याय का फल भी होना चाहिए, तभी प्रौढ़ स्वाध्याय माना जायेगा।

जिज्ञासा—कौन-कौन से गुणस्थान को प्राप्त किए बिना मुक्ति हो सकती है ?

समाधान—मुक्ति प्राप्त करने के लिए द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम और ग्यारहवाँ ये पाँच गुणस्थान प्राप्त करना अनिवार्य नहीं है। कोई भी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सीधा तीन करणपूर्वक प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के साथ जब सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है और वहीं छठवें, सातवें गुणस्थान में हजारों बार झूलकर, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन पूर्वक क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सातिशय अप्रमत्त होकर क्षपक श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाता है तब उसे उक्त द्वितीय,

तृतीय, चतुर्थ, पंचम और एकादशम इन पाँच गुणस्थानों को प्राप्त करना बिल्कुल भी अनिवार्य नहीं होता।

जिज्ञासा—द्वितीय, तृतीय, पंचम और एकादश गुणस्थान को प्राप्त किये बिना तो मुक्ति हो सकती है लेकिन चतुर्थ गुणस्थान के बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—चतुर्थ गुणस्थान में ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ऐसी धारणा नहीं बनाना चाहिए। बालबोध अवस्था में, यदि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा श्रद्धान है या ज्ञान है तो ठीक है, लेकिन जिन्हें ज्ञान की प्रौढ़ता प्राप्त है, उन्हें यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति चतुर्थ, पंचम, सप्तम इन तीन गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है। तात्पर्य यह है कि महाव्रतों के साथ भी सम्यग्दर्शन हो सकता है, देशसंयम के साथ भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है और असंयम के साथ चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, यह तो सर्वविदित ही है। कितने ही आचार्यों ने यह कहा है कि उपशम सम्यग्दर्शन एवं देशसंयम को जीव असंख्यात बार प्राप्त कर सकता है। लेकिन मुनिव्रत अर्थात् महाव्रतों को बत्तीस बार से ज्यादा ग्रहण नहीं किया जा सकता।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।

यह तो द्रव्यलिंग की अपेक्षा से कथन किया गया है। भावलिंग के साथ तो बत्तीस बार ही मुनिव्रत ग्रहण हो सकता है, इससे ज्यादा नहीं।

ववहारदेसिदो पुण जो दु अपरमेट्ठिदाभावे।

जो अपरमभाव में स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय के आश्रय का भी उपदेश दिया है। व्यवहारनय का आश्रय लिए बिना मात्र निश्चयनय के द्वारा श्रेणी चढ़ने की योग्यता प्राप्त होती है, सो ऐसा नहीं है। निश्चयनय की भूमिका में पहुँचने के पूर्व व्यवहारनय का आश्रय भी अनिवार्य है। इसीलिए इस अनिवार्यता को बतलाने के लिए यहाँ गाथा के उत्तरार्द्ध में **ववहारदेसिदो पुण** इसका निरूपण किया गया है। ज्ञानी हमेशा निश्चय का ही आलम्बन लेता हो, ऐसा नहीं है किन्तु व्यवहारनय का भी आश्रय लेता है। सिद्धान्त की दृष्टि से देखें तो आगम में यह भी कहा गया है कि निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय का आश्रय काल दुगुना होता है। सप्तमगुणस्थान की अपेक्षा छठवें गुणस्थान का काल दुगुना होता है। इस विषय को निम्न दृष्टान्तों से स्पष्ट समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार का आश्रय काल दुगुना है। भोजन के द्वारा शरीर चलता है इस बात को सभी मानते हैं। लेकिन ''आधा भोजन दुगुना पानी'' लो तो काम सही चलता है। स्वास्थ्य सही रहता है। उसी प्रकार निश्चय को भोजन और व्यवहार को पानी के समान समझकर चलेंगे अर्थात् निश्चय में रहने का काल जितना होता है, उससे दुगुना काल व्यवहार में रहने का क्योंकि

यह आगम का सिद्धान्त है सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान के काल से प्रमत्त विरत षष्ठ गुणस्थान का काल दुगुना होता है। एक सूक्ति भी प्रसिद्ध है–

आधा भोजन कीजिये दुगुना पानी पीव।
तिगुना श्रम चौगुनी हँसी, वर्ष सवा सौ जीव॥

पहले भोजन कर लो, फिर दुगुना पानी पीने को कहा है। खाली पेट नहीं। यदि खाली पेट दुगुना पानी पी लोगे तो फिर मन्दाग्नि हो जायेगी। आयुर्वेदाचार्यों का कहना है कि पहले भोजन कर लीजिए बाद में पानी पी लीजिए। एक पद्धति के अनुसार भोजन के बीच में पानी पीने को भी कहा है। त्यागी-व्रती के लिए प्रारम्भ में थोड़ा सात-आठ अंजुलि पानी पीने को कहा बाद में भोजन प्रारम्भ करें। कहने का मतलब यह है कि अनुपात का विशेष ध्यान रखें। यदि हम अनुपात को जाने बिना भोजन करेंगे तो उसका परिणाम सही नहीं रहेगा। इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार की भूमिका का सामंजस्य होता है।

दृष्टान्त—तीर्थंकर को भी व्यवहार का आश्रय लेना आवश्यक होता है। निश्चय से व्यवहार में आना, इसका मतलब विश्राम या पतन नहीं है, किन्तु आगे बढ़ने के लिए शक्ति अर्जित करने का मौका होता है। जैसे–झूला झूलते समय ऊपर से नीचे आते हैं, तो झूलना रुकता नहीं है किन्तु पहले की अपेक्षा और ज्यादा ऊँचा ले जाने के लिए शक्ति का प्रयोग किया जाता है।

जम्प लगाने वाले कुछ लांग जम्प, कुछ हाई जम्प लगाते हैं। जम्प कोई भी हो उसे लगाने के पूर्व दस-बीस गज दूर विपरीत दिशा में जाना अनिवार्य होता है। फिर वहाँ से दौड़ता-दौड़ता आता है फिर ऐसे छलांग लगाता है कि जहाँ सीमा की लाइन होती है उस लाइन के ऊपर एक पंजा रखकर जम्प लेता है। हाई जम्प लेना है तो हाई के रूप में लेता है लॉग जम्प लेना है तो लांग के रूप में लेता है। जम्प लेना निश्चय नय के आश्रय के रूप में है और जम्प लेने के पूर्व विपरीत दिशा से दौड़ते हुए आना व्यवहारनय के आधार के रूप में है। बिना व्यवहार के जो निश्चय के आश्रय का स्वप्न देखना चाहते हैं, उनकी स्थिति उसके समान है जैसे कि कोई व्यक्ति जहाँ खड़ा है वहीं के वहीं जम्प करना चाह रहा है, जबकि ऐसा तो आज तक हुआ ही नहीं है और हो भी नहीं सकता। प्रथम गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान में आना व्यवहार है। कभी जम्प नहीं लिया हो तो एक बार लेकर देख लेना। जम्प लेने वाला जब जम्प लेता है तो उस समय श्वांस को भी रोक लेता है। जम्प लेने के लिए लोग महीनों तक, वर्षों तक परिश्रम करते हैं, तब जम्प लेने में सफल हो पाते हैं। ऋषभनाथ भगवान् को एक हजार वर्ष का समय लगा भरत जी को एक अन्तर्मुहूर्त और बाहुबली भगवान् को एक वर्ष का समय लगा। हाँ महाराज, यही बात तो हम भी कहना चाहते हैं कि हम भी भरत चक्रवर्ती के समान एक अन्तर्मुहूर्त में जम्प लगा लेंगे। आप ऐसा कह तो रहे हो परन्तु पहले उनके पूर्वभव को तो पढ़ लो। ये तीनों खिलाड़ी सर्वार्थसिद्धि से आए हैं। एक साथ तीनों रेस जीत करके सर्वार्थसिद्धि में पहुँचे थे। वहाँ से

नीचे आकर बाहुबली की जीत हुई, भरत की हार हुई व्यवहार में भरत जी हार गए बाहुबली जी जीत गए लेकिन निश्चय में पहुँचने में बाहुबली को एक वर्ष लगा और भरत को एक अन्तर्मुहूर्त मात्र समय पर्याप्त रहा।

उक्त समस्त प्रसंगों को देखने से लगता है कि इसके पीछे वर्षों की नहीं किन्तु कितने ही भवों की साधना की भूमिका रही है। इसीलिए **ववहारदेसिदो पुण** यह उपदेश दिया है। प्रवृत्ति की अवस्था होने के कारण व्यवहार और निवृत्ति अवस्था होने के कारण निश्चयनय का उपदेश दिया गया है।

दृष्टि किधर है ? व्यवहार वालों की व्यवहार की ओर तथा निश्चय वालों की निश्चय की ओर है लेकिन मंजिल दोनों की एक है। व्यवहार निश्चय का साधक होता है और निश्चय व्यवहार का साध्य होता है।

सुद्धो सुद्धादेसो शुद्धनय शुद्धद्रव्य का कथन करता है। शुद्धनय शुद्धद्रव्य को विषय बनाता है। जिस प्रकार का चश्मा लगाओगे, उसी प्रकार का पदार्थ दिखता है। कभी-कभी स्क्वायर में, कभी-कभी आयत में ? पदार्थ को जिस एंगिल से देखो वैसा ही दिखता है। यह सब फोटोग्राफर की पद्धतियाँ हुआ करती हैं, लेकिन फोटो जिसका लिया जा रहा, वह एक ही है। इसी प्रकार व्यवहारनय में अनेक पद्धतियाँ होती हैं, निश्चय में किसी प्रकार की पद्धति नहीं होती। शुद्धनय पदार्थ का जो स्वभाव है, उसका ज्यों का त्यों कथन करता है। शुद्धद्रव्य को विषय बनाने वाला एवं शुद्धत्व का कथन करने वाला एवं शुद्ध का आधार लेने वाला शुद्धनय होता है। उसी की भावना करनी चाहिए, उसी को जानना चाहिए उसी के बारे में सब कुछ प्रयास करना चाहिए। परमभाव दर्शी अथवा शुद्धात्मदर्शी हमेशा शुद्धात्मा की भावना एवं उसकी प्रतीति में हमेशा तत्पर रहते हैं। उन्हें सदा शुद्धनिश्चयनय प्रयोजनीय होता है।

जिज्ञासा—शुद्धनिश्चयनय का आधार कहाँ लिया जाता है ?

समाधान—शुद्धनिश्चय नय की चर्चा पृथक् है और उसका आधार लेना या उसकी प्रतीति होना पृथक् है। सोलहवानी स्वर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप जो निर्विकल्प समाधि होती है उस काल में निश्चयनय का आधार लिया जाता है, उसी काल में निश्चयनय के विषय की प्रतीति होती है। इस निर्विकल्पसमाधि को ही शुद्धोपयोग, शुक्लध्यान, उपेक्षासंयम, अभेदरत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय इत्यादि अपर नामों से जाना जाता है। इस अवस्था के पूर्व यदि आप निश्चय नय का आधार लेना चाहते हैं तो नहीं मिलेगा। हाँ इसके पूर्व चतुर्थ आदि गुणस्थानों में इसकी चर्चा की जा सकती है, लेकिन उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। कुछ लोग चतुर्थगुणस्थान में भी निर्विकल्प समाधि मानने को तैयार हो जाते हैं वह उनका आगमावलोकन का अभाव माना जाता है। फिर भी यदि उसी बात का आग्रह करते हैं तो फिर वहाँ भेद रत्नत्रय एवं अभेदरत्नत्रय का फल भी मानना पड़ेगा। निर्विकल्प समाधि भी मानना पड़ेगी। यदि चतुर्थ गुणस्थान में इन सभी को मानेंगे तो नरकगति, तिर्यंचगति एवं देवगतियों में भी

अभेद रत्नत्रय मानना पड़ेगा। फिर निर्विकल्पसमाधि और श्रुतकेवलित्व को भी मानना पड़ेगा, क्योंकि इन गतियों में भी सम्यग्दर्शन है और चतुर्थ गुणस्थान है। अतः निर्विकल्पसमाधि अथवा शुद्धोपयोग भी वहाँ मानना पड़ेगा। जबकि यह आगम विरुद्ध कथन है क्योंकि आगम में शुद्धोपयोग के स्वामी कौन होते हैं ? इसका स्पष्ट विवेचन किया गया है। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** जी ने **श्रीप्रवचनसार** ग्रन्थ में शुद्धोपयोग के स्वामी को बतलाते हुए निम्न गाथा लिखी है–

सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थों और सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम और तप से युक्त हैं, जो वीतराग हैं, जिन्हें सुख–दुःख समान हैं, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है। शुद्धोपयोग निश्चय रत्नत्रयात्मक होता है अतः निश्चय रत्नत्रय के धारक साधु ही शुद्धोपयोग के स्वामी हो सकते हैं।

जिज्ञासा—एक बार निर्विकल्प समाधि होने के बाद छूट क्यों जाती है ?

समाधान—निर्विकल्पसमाधि का बाधक तत्त्व उपस्थित होने पर वह छूट जाती है। अप्रमत्त से प्रमत्त अवस्था आने पर साधु निर्विकल्प समाधि से च्युत हो जाता है। निर्विकल्प समाधि का बाधक तत्त्व क्या है ? प्रमाद है। यदि कोई कहता है कि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन तो है वहाँ पर भी निर्विकल्प समाधि बनी रहना चाहिए। वहाँ कौन–सा बाधक तत्त्व आ गया जिससे निर्विकल्प समाधि छूट जाती है ? आचार्य कहते हैं कि मात्र सम्यग्दर्शन के साथ निर्विकल्पसमाधि का अस्तित्व सिद्ध नहीं है, किन्तु अभेदरत्नत्रय के साथ उसका अविनाभाव सिद्ध है लेकिन जिन–जिन को अभेद रत्नत्रय है या अप्रमत्त गुणस्थान प्राप्त है उन्हें नियम से निर्विकल्पसमाधि होना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। अभेदरत्नत्रय के साथ एवं अप्रमत्त अवस्था के साथ निवृत्ति अवस्था का होना आवश्यक है। अप्रमत्त होने के बाद भी यदि समित्यात्मक या प्रवृत्त्यात्मक अप्रमत्त अवस्था है तो निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती। यदि होती है तो आहार लेते–लेते भी होना चाहिए। विहार के समय भी होना चाहिए। जबकि प्रवृत्ति में निर्विकल्प दशा नहीं होती। आहार–विहार के समय अप्रमत्त गुणस्थान तो होता है लेकिन सप्तम गुणस्थान है इसलिए निर्विकल्प अवस्था भी होना चाहिए ऐसा सिद्धान्त नहीं है।

जिज्ञासा—निर्विकल्प समाधि और सप्तमगुणस्थान या अप्रमत्त अवस्था में क्या अन्तर है ?

समाधान—अप्रमत्त अवस्था या सप्तम गुणस्थान समिति रूप भी होता है और गुप्ति रूप भी होता है लेकिन निर्विकल्प समाधि गुप्ति के काल में ही होती है। सप्तमगुणस्थान तो शयन के काल में भी हो सकता है, क्योंकि शयनकाल में भी छठवाँ–सातवाँ गुणस्थान कई बार बदलता रहता है। आहार–विहार आदि के काल में भी सप्तमगुणस्थान हो सकता है, लेकिन निर्विकल्प समाधि उक्त प्रवृत्ति काल में नहीं हो सकती। वह (निर्विकल्प समाधि) तो समस्त क्रियाओं से उपरत होने के बाद

जागृत अवस्था में सामायिक, ध्यानादि के काल में भी जब गुप्ति का काल होता है तभी होती है। अतः जो व्यक्ति गुप्तिमय अभेदरत्नत्रय का आश्रय लेता है उसी के शुद्धनिश्चय का आश्रय हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति शुद्धनिश्चय नय का आश्रय लेना चाहता है उसे अभेदरत्नत्रय में लीन होना अनिवार्य है।

भेदरत्नत्रय या व्यवहार रत्नत्रय का महत्त्व—

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने स्वयं भेदरत्नत्रय या व्यवहार की महिमा का कथन **ववहार-देसिदो पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे** इन शब्दों में प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध में किया है। व्यवहार का अर्थ, विकल्प, भेद या पर्याय है। इनको विषय करने वाला व्यवहारनय होता है। पन्द्रह वानी का स्वर्ण सौ टंच नहीं माना जाता, लेकिन वह लोहा भी नहीं माना जाता। इसी प्रकार व्यवहार का अर्थ अभेद या निश्चय रत्नत्रय नहीं माना जाता, लेकिन व्यवहार का अर्थ सम्यग्दर्शन का अभाव भी नहीं माना जाता। व्यवहार अर्थात् सम्यग्दर्शन का अभाव कहना बहुत गलत होगा, अनर्थ हो जायेगा। व्यवहार कहने से निश्चय की कमी हो गई, ऐसा तो कहा जा सकता है, लेकिन उसे विपरीत नहीं कहा जा सकता। व्यवहार कहने से निश्चय की पूर्व अवस्था मानी जा सकती है, लेकिन विपरीत दिशा की ओर उसकी यात्रा नहीं मानी जायेगी।

व्यवहारनय अभूतार्थ या असत्यार्थ कैसे ?

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। अभूतार्थ कहें या असत्यार्थ दोनों का अर्थ एक ही है। व्यवहारनय को असत्यार्थ कहने के भी अनेक अर्थ हैं। यहाँ पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सार नहीं लेना चाहिए, किन्तु अ का अर्थ ईषत् लेकर ईषत् सत्यार्थ ऐसा अर्थ निकलता है अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा निस्सारभूत न होकर तात्कालिक प्रयोजनवान होता है।

किंच भूत शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा के **विश्वलोचन कोश** में जिस प्रकार सत्य बतलाया है उसी प्रकार उसका अर्थ सम भी होता है। अतः भूतार्थ का अर्थ सम भी है, अतः सामान्य धर्म को स्वीकार करने वाला भूतार्थ तथा अभूतार्थ का अर्थ है विशेष का कथन करने वाला। इससे यह स्पष्ट होता है कि भूतार्थ का अर्थ द्रव्यार्थिक और अभूतार्थ का अर्थ पर्यायार्थिकनय। दूसरे शब्दों में कहें तो भूतार्थ का अर्थ निश्चय और अभूतार्थ का अर्थ व्यवहार है। (आचार्य ज्ञानसागर जी का समयसार)

निर्विकल्प दशा कब, कैसे ? दृष्टान्त—

दुकानदार जितने समय तक दुकान खोलना चाहे उतने समय तक खोल लेते हैं इसके उपरान्त बन्द करने का समय होता है, तो बन्द कर देते हैं। दुकान बन्द तो कर देते हैं लेकिन दुकानदार दुकान से बाहर नहीं निकलता। जब तक दुकान खुली रहती है तब तक ग्राहक आते हैं। उनके साथ लेन-देन की प्रवृत्ति चलती है। जितने ज्यादा ग्राहक आते हैं, उतनी अधिक सन्तुष्टि होती है। दुकानदार कहता है—**धन्य दिवस, धन्य घड़ी, धन्य भाग्य मेरो भयो।** दुकान बन्द होने पर वह मुनीम जी से

कहता है—मुनीम जी, पेटी ले आओ। पेटी के रुपयों को गिनना प्रारम्भ कीजिए। दरवाजा बन्द है, देखो, बाहर कोई है तो नहीं। अब ग्राहकों का आना बन्द हो जाता है। दिन भर की आय का लेखा-जोखा प्रारम्भ हो जाता है। दस-दस रुपये की, सौ-सौ रुपये की अलग-अलग गिड्डियाँ बनाकर तैयार की गईं। आय को देखकर खुश होता है और कहता है कि आज का दिन तो बहुत अच्छा हुआ। वाह, आज तो बहुत अधिक आय हो गई। उस खुशी में इतना अधिक लीन हो गया कि—कोई मित्र आ गया, भाई आ गया, अन्य कोई भी आ गया तो भी वह उनकी तरफ देख ही नहीं रहा है। वह आय में इतना मग्न है कि बाहर कौन है ? क्या हो रहा है ? कौन क्या कह रहा है ? कुछ भी भान नहीं है, चूँकि आय के आनन्द में मग्न है। इस समय उसके पास कहीं से फोन की घण्टी आती है तो फोन भी नहीं उठाता क्योंकि वह तो अपने प्रयोजन की सफलता पर अत्यन्त प्रसन्न है। उसे अन्य किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं है। यह उसकी एक प्रकार से निर्विकल्प दशा होती है। इससे पूर्व रुपयों की गिड्डी गिनने आदि की क्रिया व्यवहार, विकल्प की दशा थी। वह भी जरूरी होती है। यदि लेखा-जोखा नहीं करता तो आय का आनन्द कैसे आता ?

इसी प्रकार श्रमण भी व्यापार करते हैं। निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की भूमिका रहती है। निश्चयनय की दशा निर्विकल्प होती है और व्यवहार नय की दशा विकल्पात्मक होती है। जो व्यवहार निश्चय का कारण होता है वही सम्यक् व्यवहार है अन्यथा व्यवहाराभास होता है। अनन्तकाल से व्यवहाराभास होता आया है। भेद रत्नत्रय का अथवा व्यवहार रत्नत्रय का आनन्द भी ऐसा आनन्द है कि उसका कथन भी नहीं किया जा सकता। लेकिन इतना जरूर है कि भेदरत्नत्रय वाले श्रमण की दृष्टि निश्चय की ओर भी होना ही चाहिए। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार का व्याख्यान करने वाली दो गाथाओं द्वारा यह स्थल पूर्ण हुआ।

इस प्रकार चौदह गाथाओं द्वारा **समयसार** की पीठिका रूप व्याख्यान समाप्त हुआ। जिस प्रकार प्रतिष्ठित भगवान् जी को जिस वेदी पर विराजमान करते हैं, उस वेदी को पीठिका बोलते हैं। उसी प्रकार **समयसार** की पीठिका रूप १४ गाथायें हैं। पीठिका में ही इतना विषय आ गया तो फिर पूर्ण ग्रन्थ पढ़ने पर कितना विषय आयेगा और उसके अध्ययन-चिन्तन में कितना आनन्द आयेगा ? सोचिए, विचार कीजिए। जो संक्षेप में जानना चाहते हैं, उनके लिए पीठिका रूप गाथाएँ कही गई हैं। इसके माध्यम से विषय-विस्तार की ओर न जा करके अपनी साधना में रह सकते हैं। सम्पूर्ण **समयसार** ग्रन्थ में निश्चय, व्यवहारनय, भेदाभेद रत्नत्रय, निश्चय एवं व्यवहार मोक्षमार्ग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग इत्यादि का कथन है। सात तत्त्वों का भी विस्तार से व्याख्यान किया है। समय-समय पर आध्यात्मिक शब्दावली की परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी आचार्यों ने **समयसार** ग्रन्थ जैसे महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ की रचना नहीं की है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** की समस्त कृतियों में यह अत्यधिक

प्रौढ़ रचना है। आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से केवल आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला **समयसार** जैसा अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। निश्चयनय के विषयभूत शुद्धत्व का एवं व्यवहारनय के विषयभूत नैमित्तिक परिणामों का तथा अशुद्ध निश्चय के विषयभूत रागद्वेषादि अशुद्ध परिणामों का भी स्पष्ट कथन किया गया है। इस ग्रन्थ के आद्योपान्त अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि–**हमें करने योग्य कार्य क्या है ? यह अपने आप ही झलक जाता है।** फिर भी **समयसार** का अध्ययन करने वाले मात्र सम्यग्दर्शन की चर्चा में रह जाते हैं। अन्तरंग आत्मानुभूति में कारणभूत सामग्री भेदाभेद रत्नत्रय की चर्या क्या, चर्चा भी नहीं करते। ऐसा लगता है कि आत्मानुभूति के विषय को लेना ही नहीं चाहते, क्योंकि निश्चयनयात्मक शुद्धोपयोग स्वरूप अभेदरत्नत्रय के बिना स्वसंवेदन अर्थात् शुद्धात्म-संवेदन सम्भव नहीं है। द्रव्यश्रुतकेवली भी आत्मसंवेदन को नहीं कर सकते। यह विषय **समयसार** में ही मिलता है। **आचार्य जयसेन स्वामी** जी ने इस विषय का स्पष्टीकरण करके हम सभी पर अत्यधिक उपकार किया है। **आचार्य जयसेन स्वामी** की युक्ति और आगम के आधार पर प्रसंग विश्लेषण करने की पद्धति अत्यन्त प्रशंसनीय, उपकारक तथा हितकारक है। ग्रन्थ के अध्ययन में जहाँ तत्त्व को समझने में या रहस्य को उद्घाटित करने में असमर्थ होते हैं तथा आत्मतत्त्व का रसास्वाद नहीं कर पाते हैं उस समय पाठकों को यह **तात्पर्यवृत्ति** नामक टीका मूल से भी आगे बढ़कर सहयोगी होती है।

दृष्टान्त–जैसे कोई छोटा बच्चा है जिसके अभी दाँत नहीं आए, अथवा जिसके मुख में दाँत कम हैं या दाँत हिल रहे हों, उसके सामने गन्ना चूसने के लिए रख दिया जाये तो वह कभी भी गन्ने के रस का स्वाद नहीं ले सकता। तब उसे गन्ने की छोटी-छोटी गड़ेरी बनाकर दे देते हैं, तो फिर वह धीरे-धीरे उसका रसास्वादन करने में सक्षम हो जाता है। पश्चात् वह गन्ने के मधुर रस का आस्वादन कर आनन्द में मग्न हो जाता है। उसी प्रकार **आचार्य जयसेन स्वामी** की टीका आमूलचूल रस से भरी गड़ेरी के समान है। हमारे पास दाँत नहीं हैं, तो क्या करें ? **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** द्वारा विरचित **समयसार** की समस्त गाथाएँ गन्ने के समान हैं। उस गन्ने को एवं गड़ेरी को भी चूसने के लिए मजबूत दाँत नहीं हैं। इसके लिए **आचार्य जयसेन स्वामी** ने टीका लिखकर बड़ा उपकार किया, मानों गड़ेरी का भी रस निकालकर सीधा मधुर रस पिलाने का प्रयास किया है। फिर भी यदि हम उसे भी पीना पसन्द न करें तो आचार्य क्या कर सकते हैं ? जैसे छोटा बच्चा गड़ेरी खाकर गड़ेरी का रसास्वाद करता-करता आनन्दित होता है वैसे ही निर्विकल्प समाधि का आनन्द तो आनन्द ही है। यह सब सुनकर आपको कैसा लग रहा है ? महाराज, हम लोग तो सोच रहे हैं कि इस विषय को सुनने में ही जब इतना आनन्द आ रहा है तो फिर इस निर्विकल्प समाधि की अनुभूति में जो साधक श्रमण अपने जीवन के क्षणों को जीते होंगे उनके आनन्द का तो कहना ही क्या ?

सोचो, विचार करो। इधर-उधर किसी के साथ की प्रतीक्षा मत करो। कोई साथ हो तो देखेंगे। दुनिया में साथ देने वाला कोई भी नहीं है। अपना शरीर ही अपना साथ नहीं देता तो अन्य किसी से

क्या आशा करना। **जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय** बारह भावना में प्रतिदिन अन्यत्व भावना का चिन्तन करते ही हैं। अपना मन, वचन, काय ही सहयोग नहीं देता तो अन्य के सहयोग की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। फिर भी अपने मन को समझाने पर समझ सकता है। यदि मन समझ गया तो वचन और काय तो समझ ही जायेंगे, लेकिन मन को समझाना बहुत कठिन है। **मन ही ऐसा तत्त्व है जो सारा संसार बनाकर स्वयं खड़ा-खड़ा देख रहा है और मजा ले रहा है। विपरीत दिशा में कदम उठाता है और कहता है—देखो, अब हम तो साथ नहीं देंगे, मैंने बहुत साथ दिया है।** फिर भी मन को बार-बार समझाना आवश्यक होता है। समझाते समय मन नाराज हो तो हो जाने दो। कब तक नाराज रहेगा ? आखिर मन का स्रोत आत्मा से ही होता है।

दृष्टान्त—जैसे मुनीम जी दुकान पर बैठे हैं। यदि मुनीम अपने कार्य को छोड़कर इधर-उधर की बात करने लगता है तो मालिक कहता है कि-तुम अपना कार्य छोड़कर इधर-उधर की बातों में समय व्यर्थ करते हो। अब हम बाजार से कोई माल नहीं लायेंगे तो क्या कर लोगे। वह कहता है—हम तो कार्य ठीक से कर लेंगे। मालिक गुस्से में कहता है—अब क्या ठीक कर लोगे ? माल ही नहीं लायेंगे, तो दुकान पर बैठकर क्या करोगे ? हमारे लिए तो दूसरा मुनीम मिल जायेगा। दूसरा मुनीम नहीं मिलेगा तो भी हमारा काम चल जायेगा। मुनीम की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि मुनीम जी के कार्य का निरीक्षण करने दूसरे मुनीम की आवश्यकता पड़ रही है। इसमें व्यवस्था बिगड़ रही है। ऐसा कहने पर मुनीम को बात समझ में आ जाती है और व्यवस्थित कार्य करने तैयार हो जाता है इसी प्रकार मन को नियन्त्रित करने के लिए यदि मन को डाँटना पड़े तो भी ठीक है, मन नाराज हो जाये तो भी ठीक है, क्योंकि बाद में मुनीमजी के समान जब बात समझ में आ जाती है, तो मन भी स्वतः नियन्त्रित हो जाता है। साधक अपने मन को नियन्त्रित करके इस प्रकार साधना के साँचे में ढालता है कि बाह्य पदार्थों से भी सम्बन्ध रखो तो उनसे ही रखो, जिनसे अन्तरंग सम्बन्ध में बाधा न हो। बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध क्यों होता है, इसके लिए मात्र **आचार्य जयसेन स्वामी** की टीका में कहा है—**अस्थानीय-रागद्वेषविषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं** अर्थात् अप्रयोजनभूत रागद्वेष विषय-कषाय और दुर्ध्यान से बचने के लिए व्यवहारनय प्रयोजनभूत होता है। **असंयम से सम्बन्ध बनाए रखने की अपेक्षा संयम में प्रयत्नशील होना बहुत अच्छा है। जिसके फलस्वरूप अप्रतिक्रमण स्वरूप वीतराग अवस्था प्राप्त होती है।** मार्ग तो यही है इसके अनुसरण से ही मुक्ति रूपी मंजिल की प्राप्ति होती है।

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपंचकेन पीठिका समाप्ता।

इस प्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय का व्याख्यान प्रतिपादन करते हुए दो गाथाओं में पंचम स्थल पूर्ण हुआ।

यहाँ तक चौदह गाथाओं द्वारा पाँच स्थलों में पीठिका पूर्ण हुई।

नवपदार्थाधिकारा:

कोई आसन्न भव्यजीव मात्र पीठिका व्याख्यान से हेय-उपादेय तत्त्व को जानकर विशुद्ध-ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले निज स्वरूप को प्राप्त हो जाता है किन्तु विस्तार रुचि वाला जीव नव अधिकारों से प्रस्तुत किये जाने वाले **समयसार** को जानकर आत्मभावना करता है। अत: विस्तार रुचि वाले शिष्य को लक्ष्य में रखकर जीवादि नव अधिकारों से **समयसार** का व्याख्यान किया जाता है।

उत्थानिका—सर्वप्रथम नवपदार्थ के अधिकार रूप जो गाथा है उस गाथा में आर्तरौद्रपरित्याग लक्षण युक्त निर्विकल्पसमाधि में स्थित साधक के जो शुद्धात्मा का दर्शन है, अनुभवन है, उपलब्धि है, संवित्ति है, अनुभूति है वही निश्चयनय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व जो निश्चयचारित्र का अविनाभावी है, वही गुण-गुणी में अभेद रूप जो निश्चयनय है उससे शुद्धात्मा का स्वरूप कहा जाता है, इस प्रकार एक उत्थानिका हुई। अथवा जीवादि नवपदार्थ, जब भूतार्थ रूप से जाने जाते हैं, तब ये ही अभेद उपचारनय से सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहार सम्यक्त्व के निमित्त होते हैं। निश्चयनय से अपने शुद्धात्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है, यह दूसरी पातनिका है। इस प्रकार दोनों पातनिकाओं को मन में धारण करके आगे का सूत्र कहते हैं-

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

अन्वयार्थ—(भूदत्थेणाभिगदा) भूतार्थ से जाने हुये **(जीवाजीवा)** जीव-अजीव **(य)** और **(पुण्णपावं)** पुण्य-पाप **(च)** तथा **(आसवसंवरणिज्जर)** आस्रव, संवर, निर्जरा **(बंधो)** बन्ध **(य)** और **(मोक्खो)** मोक्ष **(सम्मत्तं)** ये सम्यक्त्व हैं।

अर्थ—भूतार्थ (निश्चयनय) से निर्णय किये गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवपदार्थ सम्यक्त्व कहे हैं।

ये पुण्य पाप अरु जीव, अजीव आदि,
होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी।
भूतार्थ से विदित हों जब ये पदार्थ,
सम्यक्त्व के विषय हैं दृग है यथार्थ ॥१५॥

व्याख्या—भूदत्थेणाभिगदा भूतार्थ अर्थात् निश्चय के द्वारा निर्णीत किये गये नव पदार्थ सम्यक्त्व रूप कहे हैं। गुण-गुणी में भेद व्यवहार सम्यग्दर्शन का और गुण-गुणी में अभेद निश्चय सम्यग्दर्शन का विषय बनता है। आठ अंगमय सम्यग्दर्शन को विषय बनाने वाला आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्वगाथा में **ववहारोऽभूदत्थो** इस गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा था। यहाँ पर नव पदार्थों को भूतार्थ का विषय कहा।

जिज्ञासा—भूतार्थ के ज्ञान का स्वरूप क्या है ?

समाधान—तीर्थवर्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए प्रारम्भिक शिष्य की अपेक्षा से नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं। वे ही अभेद रत्नत्रय लक्षण वाली निर्विकल्प समाधि के काल में अभूतार्थ या असत्यार्थ ठहरते हैं अर्थात् वे शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते किन्तु उस काल में उन नव पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही प्रतीति में आता है, वही निश्चय सम्यक्त्व है। प्रमाण, नय, निक्षेप आदि जो भी वस्तु को जानने के साधन हैं वे केवल परमात्मादि तत्त्व विचारकाल में सम्यक्त्व के सहकारी कारण होते हैं। वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ होते हैं, लेकिन परम समाधिकाल में वे ही अभूतार्थ हो जाते हैं।

ववहारोऽभूदत्थो इस पूर्वोक्त गाथा की टीका में **आचार्य जयसेन स्वामी** ने व्यवहारनय को भूतार्थ भी कहा है और अभूतार्थ भी। **आचार्यों की विवक्षा को समझने के लिए उनका बार-बार अध्ययन करना चाहिए। इसमें पारायण होना चाहिए।** व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय नव पदार्थ, सात तत्त्वात्मक ही होता है। **तत्त्वार्थसूत्र** में भी सम्यग्दर्शन के विषय को बतलाते हुए एक सूत्र आता है **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् आचार्य उमास्वामी** के पूर्व **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** माने जाते हैं। उन्होंने भी नवपदार्थों को सम्यक्त्व रूप कहा है। हमें आचार्यों की बात मानना चाहिए। विवक्षा के अनुसार अर्थ लगाना चाहिए।

निर्विकल्पसमाधि में लीन होने पर सात तत्त्व, नव पदार्थ आदि अविवक्षित हो जाते हैं, या यूँ कहें कि अभूतार्थ हो जाते हैं। उस समय तो पुण्य-पाप आदि से रहित, आस्रव-बन्धादि से रहित मात्र एक शुद्धात्मतत्त्व विवक्षित होता है।

जब तक दृष्टि में भेद रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि नव पदार्थों को विषय बना सकता है लेकिन ध्यान में लीन नहीं हो सकता। समझने के लिए एक उदाहरण याद रखें।

दृष्टान्त—जैसे वेदी पर सफेद संगमरमर लगा है। वेदी पर बीच में मूलनायक भगवान् की काले पाषाण की प्रतिमा विराजमान है। उस प्रतिमा के दोनों ओर सफेद पाषाण की दो-दो प्रतिमायें विराजमान हैं। स्तुति करने वाला कभी मूलनायक भगवान् की, कभी अन्य प्रतिमा जी की स्तुति करता है। स्तुति के उपरान्त वह कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग के समय किसको देखें ? वेदी को या प्रतिमा को। मूलनायक भगवान् की प्रतिमा को देखें या अन्य प्रतिमाओं को, आँखें बन्द रखें या खोलें, इत्यादि अनेक विकल्प आते हैं। जबकि पाँचों ही भगवान् समान हैं, पाँचों ही मूल हैं। कायोत्सर्ग के समय तो दृष्टि स्थिर होती है, वेदी और प्रतिमा का तथा मूलनायक या अन्य प्रतिमाओं का कोई भेद नहीं होता। इसी प्रकार जब तक दृष्टि में भेद होता है तब तक ही सात तत्त्व, नव पदार्थ सम्यक्त्व के विषय बनते हैं। दृष्टिभेद के समय ये विषय भूतार्थ होते हैं, लेकिन जब दृष्टि में अभेद होता है, कायोत्सर्ग के समान निर्विकल्प समाधि का काल होता है, तब तत्त्वों में और पदार्थों में भेद नहीं होता। उस समय तो एकमात्र अभेदरूप शुद्धात्म तत्त्व ही प्रतीति में आता है।

आगमिक दृष्टि से उक्त अभेद दृष्टि को शुद्धोपयोग, शुक्लध्यान भी कहा जाता है। **षट्खण्डागम** ग्रन्थ में दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान को स्वीकार किया है। मोह का क्षय धर्मध्यान का फल है, ऐसा माना है। ग्यारहवें गुणस्थान में एवं बारहवें गुणस्थान के प्रथम भाग में प्रथम शुक्लध्यान माना है। बारहवें गुणस्थान के द्वितीय भाग में द्वितीय शुक्लध्यान होता है। शुद्धोपयोग भी बारहवें गुणस्थान तक होता है। **धवला में आचार्य वीरसेन स्वामी** जी ने प्रथम शुक्लध्यान के स्वामी को **णयगहणविलीणो** अर्थात् नयों रूपी गहन वन में लीन यह विशेषण दिया है। द्वितीय शुक्लध्यान में यह स्थिति सम्भव नहीं है, क्योंकि वह एकत्ववितर्कअवीचार स्वरूप है। प्रथम शुक्लध्यान का फल कर्मनिर्जरा और स्वर्ग है। प्रथम शुक्लध्यान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। धवला जी में प्रथम शुक्लध्यान के विषय से सम्बन्धित ब्यालीस भंग घटित किए हैं। इसी विवक्षा से **णयगहणविलीणो** यह विशेषण दिया है। उक्त प्रसंग से स्पष्ट होता है, कि शुद्धोपयोग के अनेक भेद होते हैं। वैसे भी आगम में शुद्धोपयोग के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट तीन भेदों का कथन है ही। बारहवें गुणस्थान में द्वितीय शुक्लध्यान के साथ जो शुद्धोपयोग होता है वह केवलज्ञान का कारण होता है। यही शुद्धोपयोग उत्कृष्ट कोटि का होता है।

शुक्लध्यान के स्वामी यथाख्यात संयम वाले होते हैं ऐसा **धवलाकार** का मत है। यथाख्यात संयम ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। गुणस्थान की दृष्टि से इनमें भेद है, लेकिन कषाय का अभाव होने से संयमलब्धिस्थान की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। कर्मनिर्जरा की अपेक्षा उक्त चारों गुणस्थानों में और वहाँ पाए जाने वाले ध्यानों में भेद है। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तमोही की अपेक्षा आठवें गुणस्थानवर्ती क्षपक की असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र है और आठवें गुणस्थान में सामायिक-छेदोपस्थापना चारित्र है। तथा ग्यारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान है जबकि आठवें गुणस्थान में धर्मध्यान है। फिर भी ग्यारहवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थान में निर्जरा असंख्यात गुणी अधिक है। इस विवक्षा में यह कहा जा सकता है कि उपशान्तमोही के यथाख्यातचारित्र से क्षपक का सामायिक-छेदोपस्थापना चारित्र श्रेष्ठ है। इसलिए हमेशा आगम में विवक्षानुसार या प्रसंगानुसार अर्थ निकालना चाहिए।

भिन्न-भिन्न साधनों का कार्य भिन्न-भिन्न हुआ करता है। जैसे धर्मध्यान का फल मोह का क्षय है। मोह का क्षय होने पर भी उस धर्मध्यान में शुक्लध्यान के समान निर्विकल्पता नहीं हो सकती। निर्विकल्पता नहीं है तो क्या उसे भूतार्थ नहीं कहेंगे ? अर्थात् कहेंगे। तभी तो ग्यारहवें गुणस्थान से ज्यादा अच्छा कार्य आठवें गुणस्थान वाला कर लेता है। यह भूतार्थ नहीं तो क्या अभूतार्थ है ? अतः विवक्षा या प्रसंग के अनुसार साधनों की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि-

दृष्टान्त—केवल कार्य की ही नहीं किन्तु कारण की भी प्रशंसा होना चाहिए। कारण भले ही निम्न दशा का हो, लेकिन कार्य उच्च होता है तो कारण भी प्रौढ़ माना जाता है। कभी-कभी एम॰ ए॰

के छात्र की भी उतनी प्रशंसा नहीं होती जितनी कि हायरसेकेण्डरी के छात्र की होती है। कुलपति महोदय भी उस बालक के गले में माला पहनाकर अपने आपको गौरवान्वित महसूस करते हैं। कुलपति स्वयं उस विद्यार्थी की बौद्धिक क्षमता की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हमने भी हायर सेकेण्डरी पढ़ी थी लेकिन इतना श्रम नहीं किया था। इसने तो स्कूल को गौरवान्वित कर दिया। आगे हमारी यूनिवर्सिटी को गौरवान्वित करेगा। इसने तो नाम रोशन कर दिया। इसी प्रकार भावों का खेल है।

भूतार्थ–अभूतार्थ ये भेद उपयोग की विवक्षा में या कार्य पद्धति की विवक्षा से हुआ करते हैं। वस्तुतः निश्चय से इनमें भेद नहीं होता। सम्यग्दर्शन के विषयभूत नव पदार्थ असत्यार्थ हैं या अभूतार्थ हैं, यह धारणा निकाल देना चाहिए क्योंकि भेदरत्नत्रय के साथ नव पदार्थ भूतार्थ होते हैं। यदि एक पदार्थ भी कम कर दिया तो आपका सम्यग्दर्शन खण्डित हो जायेगा क्योंकि **इदमेवेदृशमेव** कहा है। अधिकरण एक होने से भूतार्थ कहा है। नव पदार्थ का चिन्तन रूप सम्यक्त्व व्यवहारनय से भूतार्थ कहा जाता है। भूतार्थ के साथ कोई भी अभिगत पदार्थ हो उसे व्यवहार से भूतार्थ मानने में कोई बाधा नहीं है। **द्रव्यसंग्रह** में एक गाथा है–

जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ति हवे जदा साहु।
लद्धूणय एयत्तं तदा हु तं तस्स णिच्छयं झाणं ॥

अर्थात् कुछ भी चिन्तन करो लेकिन निरीहवृत्ति से करो। वीतराग दशा प्राप्त होने के उपरान्त किसी भी पदार्थ को ज्ञेय बना लो कोई बात नहीं। दृष्टि में चंचलता होती है तो उपयोग में भी स्थिरता नहीं आती। उपयोग की स्थिरता के लिए निरीहवृत्ति होना अनिवार्य है।

सम्यग्दर्शन के विषयभूत सात तत्त्व, नव पदार्थों को सम्यक्त्व रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि तीर्थ प्रवर्तन की अपेक्षा ये पदार्थ भूतार्थ हैं। प्राथमिक दृष्टि से नव पदार्थ का श्रद्धान व ज्ञान आवश्यक है लेकिन जब अभेद रत्नत्रय रूप निर्विकल्प समाधि होती है तब वे ही नव पदार्थ अभूतार्थ या असत्यार्थ रूप होते हैं। परम समाधि काल में शुद्धनिश्चयनय से एक शुद्धात्मा, शुद्धजीवास्तिकाय या शुद्धजीव द्रव्य ही प्रतीति में आता है। वह प्रतीति, अनुभूति ही शुद्धात्मा की उपलब्धि ही निश्चय सम्यक्त्व है। भूतार्थ शब्द का विग्रह कर देखें तो **भूत** अर्थात् **सम्यक्त्व, अर्थ** यानि **विषय** है। प्रमाण, नय, निक्षेप आदि सम्यक्त्व के सहकारी कारण होने से सविकल्प अवस्था में भूतार्थ होते हैं। निर्विकल्प अवस्था में दृष्टिगोचर होने वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है। इस प्रकार से नव पदार्थों के अधिकार की गाथा पूर्ण हुई।

यहाँ नव पदार्थ की व्याख्या रूप एक गाथा के द्वारा एक अधिकार पृथक् से दिया है। यह सामान्य अधिकार है। यह प्रक्षिप्त गाथा नहीं है किन्तु नव पदार्थ के कथन रूप अधिकार गाथा है। संक्षिप्त रूप से सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का विषय क्या है ? इस निमित्त से नव पदार्थों का वर्णनक्रम प्रस्तुत किया गया है। इनमें एक शुद्धात्म तत्त्व भूतार्थ परमार्थ एकत्व विभक्त जीव पदार्थ निश्चय

सम्यक्त्व का विषय है और सात तत्त्व और नव पदार्थ व्यवहारसम्यक्त्व के विषय हैं। इस कथन की प्रमुखता से नवपदार्थाधिकार पूर्ण हुआ।

इति नवपदार्थाधिकार गाथा गता।

जीवाधिकारः

प्रस्तुत अधिकार में २८ गाथाओं द्वारा जीवाधिकार का वर्णन है। उनमें भी शुद्धात्मभावना की मुख्यता से **जो पस्सदि अप्पाणं** इत्यादि सूत्रपाठ क्रम से प्रथम स्थल में तीन गाथायें हैं। पश्चात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त से भेदाभेद रत्नत्रय की भावना को मुख्य करके **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि तीन गाथायें द्वितीयस्थल में हैं। तत्पश्चात् जीव की अप्रतिबुद्धता का कथन करने वाली एक गाथा, बंध, मोक्ष के योग्य परिणाम का कथन करने वाली द्वितीय गाथा और निश्चयनय से जीव रागादि परिणामों का कर्त्ता है इसका वर्णन करने वाली तृतीय गाथा है। इस प्रकार **कम्मे णोकम्मम्हि य** इत्यादि तृतीय स्थल में तीन स्वतन्त्र गाथायें हैं। फिर ईंधन और अग्नि के दृष्टान्त द्वारा अप्रतिबुद्ध के लक्षण को कहने वाली **अहमेदं एदमहं** इत्यादि चतुर्थ स्थल में तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् पाँचवें स्थल में शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूति लक्षण स्वरूप अभेदरत्नत्रय की भावना के विषय में अनभिज्ञ जीव को समझाने के लिए **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् ''देह ही आत्मा है'' देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है, इस प्रकार के पक्ष को रखने वाले जीव को उसके स्वरूप का कथन करने के लिए **जदि जीवो ण सरीरं** इत्यादि पूर्वपक्ष के रूप में एक गाथा है। इसके अनन्तर व्यवहार से पूज्य पुरुषों की देह का स्तवन किया जाता है किन्तु निश्चय से नहीं। निश्चय से तो शुद्धात्मा का ही स्तवन किया जाता है, इस प्रकार दोनों नयों के भेद के प्रतिपादन की मुख्यता से **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहार स्वरूप चार गाथायें हैं। इसके आगे निश्चयस्तुति की मुख्यता से **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि तीन गाथायें हैं। इस प्रकार छठवें स्थल में आठ गाथायें हैं। इसके पश्चात् सातवें स्थल में निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान स्वरूप है ऐसा कथन करते हुए **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि चार गाथायें हैं। तत्पश्चात् अभेदरत्नत्रयात्मक स्वसंवेदन की मुख्यता से उपसंहार स्वरूप **अहमिक्को खलु सुद्धो** इत्यादि एक सूत्रगाथा है। इस प्रकार दण्डकों के अतिरिक्त २८ सूत्रों से उत्पन्न हुए सात स्थलों से जीवाधिकार की समुदायपातनिका पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे प्रथम गाथा में यह बतलाते हैं कि संसार अवस्था में भी शुद्धनय से आत्मा अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त इन पाँच विशेषणों से संयुक्त है। जैसे कि कमलपत्र, मृत्तिका, समुद्र, स्वर्ण और उष्णता रहित जल होता है। इस प्रकार का कथन किया गया है।

कमलपत्र जल में रहता है, फिर भी वह कमलपत्र जलमय नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा कर्मों के बीच रहता है लेकिन आत्मा के लक्षण का कभी अभाव नहीं होता। लक्षण की अपेक्षा सामान्य गुणों को विवक्षित किया जाता है और स्वभाव की अपेक्षा विशेषगुणों को विवक्षित करते हैं। सुख हमारा

लक्षण नहीं स्वभाव है। ज्ञान हमारा स्वरूप है। स्वरूप या स्वभाव त्रैकालिक होता है। विभाव के साथ स्वरूप की अनुभूति नहीं होती। विभाव के अभाव में स्वभाव प्रकट होता है।

दृष्टान्त—जैसे कोई दरिद्री है, उसके पास धन नहीं है। किसी ज्योतिषी ने उसका हाथ देखा तो कहा कि—तुम्हारे हाथ में धन की रेखा बहुत अच्छी है लेकिन पचास वर्ष की उम्र के बाद धन मिलेगा, अभी नहीं। उसने सुन लिया और विश्वास कर लिया, कि मैं धनी हूँ। धनिकों जैसी क्रियायें शुरू कर दीं। भोजन का समय हुआ तो वह कहता है कि—मुझे कर्मचारी बुलाने आयेंगे तभी भोजन करूँगा। परिवार वालों ने कहा—अभी आपके पास धन कहाँ है, जो अपने आपको धनी मान रहे हो। पहले धन कमाकर लाओ, धन का संचय करो तभी तो धन की उपलब्धि होने पर धनी माने जाओगे। लेकिन तुम तो धन के अभाव में ही धनरेखा के बल पर अपने को धनी मानने लगे। विश्वास करना अलग है और अनुभूति होना अलग है। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि स्वभाव को प्रकट करना चाहते हो या स्वभाव की अनुभूति करना चाहते हो तो विभाव का अभाव करना आवश्यक होगा। भगवान् की भक्ति करते समय यह भावना तो की जा सकती है, लेकिन ''मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ'' इसकी अनुभूति नहीं की जा सकती। अतः भगवान् की भक्ति के समय यह भी नहीं कहना चाहिए कि ''मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ'' बल्कि भगवान् के समक्ष तो भगवान् का गुणानुवाद करना चाहिए और ध्यान, सामायिक आदि के काल में शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। जिनवाणी की भक्ति करते हैं तो उस समय भक्ति ही होना चाहिए, स्वरूप-चिन्तन नहीं करना चाहिए।

उत्थानिका—आगे शुद्धनय का लक्षण कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जो) जो नय **(अप्पाणं)** आत्मा को **(अबद्धपुट्ठं)** बंधरहित और पर के स्पर्श रहित **(अणण्णयं)** अन्यत्वरहित **(णियदं)** चलाचलता रहित (नियत) **(अविसेसं)** विशेषरहित **(असंजुत्तं)** अन्य के संयोग रहित ऐसे पाँच भावरूप **(पस्सदि)** अवलोकन करता है **(तं)** उसको **(सुद्धणयं)** शुद्धनय **(वियाणीहि)** जानो।

अर्थ—जो आत्मा को बन्धरहित, पर के स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलरहित, विशेष रहित और अन्य के संयोग रहित अवलोकन करता है वह शुद्धनय है।

आत्मा अबद्ध नित शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से।
ऐसा मुनीश्वर निजातम को निहारें,
वे ही विशुद्धनय हैं, जिन यों पुकारें ॥१६॥

व्याख्या—जो आत्मा को जल में रहकर भी उससे **अबद्धपुट्ठं** अस्पृष्ट रहने वाले कमल पत्र के

समान द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित अबद्ध अस्पृष्ट जानता है। **अणण्णयं** अर्थात् द्रव्यरूप से आत्मा ही बना रहता है, अन्य रूप नहीं होता। जैसे–स्वर्ण के लक्षण पाषाण में और पाषाण के लक्षण स्वर्ण में नहीं होते, यह है अनन्य। **णियदं** स्वरूप, गुण, प्रदेशों की अपेक्षा आत्मतत्त्व नियत है, उसमें कोई भेद नहीं आ सकता। जैसे–ज्वारभाटा अवस्था में परिणमता हुआ समुद्र, समुद्र ही रहता है। **असंजुत्तं** अर्थात् आत्मा रागादि विकल्प वाले भावकर्मों से रहित है। जैसे–जल वास्तव में उष्णता से रहित होता है। जैसे–नट-बोल्ट, ट्यूब-टायर, मिलकर मशीन या साईकल आदि बन जाते हैं। नट-बोल्ट आदि को यदि अलग-अलग निकालकर रख दो तो साईकल कोई वस्तु नहीं रहती। ज्ञान-दर्शनादि गुण बाहर से लेकर आत्मा में रखे हैं, ऐसा नहीं है। इसलिए असंयुक्त कहा है। आत्मा **अविसेसं** है, जैसे–गुरुता, स्निग्धता और पीतत्वादि धर्मों को स्वीकार किये होकर भी स्वर्ण अभिन्न है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शनादि गुणों से अभिन्न है। इस प्रकार जो आत्मा को जानता है वह शुद्धनय का विषय होने से व शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभिप्राय में परिणत होने से उस पुरुष को ही शुद्धनय समझना चाहिए। **शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च तं पुरुषमेव अभेद-नयेन शुद्धं विजानाहीति भावार्थः।**

डॉक्टर से पूछो कि–आज तक आत्मा का दर्शन हुआ क्या ? कभी किसी कोने में मिला क्या? आचार्य कहते हैं–आपका व्यक्तित्व क्या है ? देख लो। आत्मा नियत है, उसके ज्ञान, दर्शन गुण कभी मिट नहीं सकते। ज्ञान की अपेक्षा क्षयोपशम में तारतम्य अवश्य आता है परन्तु सामान्य गुण, प्रमेयत्व गुण आदि किसी पर डिपेण्ड नहीं रहते। अतः आत्मज्ञता किसी पर आधारित नहीं होता किन्तु सर्वज्ञता को फिर भी डिपेण्ड रूप कह सकते हैं। 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा का स्वभाव निश्चयनय से आत्मज्ञत्व है। ऐसा **नियमसार** ग्रन्थ में कहा है। व्यवहार से सर्वज्ञत्व या सर्वदर्शित्व है। सर्वज्ञता एक आरोप है। ज्ञस्वभाव या दर्शनस्वभाव आत्मा का लक्षण है। आत्मा का अस्तित्व किसी दूसरे के कारण नहीं होता। किसी भी वस्तु के सामान्य या विशेष गुण किसी दूसरे पर डिपेण्ड नहीं होते।

दृष्टान्त–जैसे–भूगोल, इतिहास आदि में पढ़ते थे कि "अमेरिका इज न्यू वर्ल्ड" अर्थात् अमेरिका नवीन दुनिया है। इस पर विचार कीजिए कि अमेरिका पूर्व में नहीं था क्या ? यदि नहीं था तो अब कहाँ से प्रकट हो गया। किसी भी वस्तु का अस्तित्व न हो और प्रकट हो जाये, यह कैसे हो सकता है ? हाँ, यह कहा जा सकता है कि अमेरिका तो पहले भी था, अब भी है, लेकिन उसकी जानकारी नहीं थी। वह हमारी दृष्टि में नहीं था, अब दृष्टि में आ गया तो उसे न्यू वर्ल्ड कह दिया। उसी प्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रमेयत्व, अस्तित्व आदि यह दूसरों के कारण नहीं होते। दूसरों पर आधारित नहीं होते परन्तु इनकी क्षयोपशम के कारण तारतम्य रूप से जानकारी होने के कारण व्यवहार से पराश्रित कहलाते हैं। निश्चय से आत्मतत्त्व कहने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि सभी गर्भित हो जाते हैं।

केवली भगवान् अनन्त का उपदेश देते हैं उसमें वे अनन्त को दिखाते नहीं, किन्तु देखते हैं। अनन्त दिखाने योग्य नहीं, किन्तु देखने योग्य होता है। वह भी केवल ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। हम केवली भगवान् का उपदेश सुनने के बाद भी अनन्त को देख नहीं सकते, किन्तु उस पर श्रद्धान कर सकते हैं। श्रद्धान देखकर नहीं होता, किन्तु एक कोने में बैठकर, थोड़ा-सा महापुरुषों का उपदेश सुनकर या महापुरुषों को देखकर श्रद्धान किया जाता है। हम यह सोचकर श्रद्धान करते हैं कि यह अनन्त मेरे ज्ञान का विषय नहीं है। लेकिन किसी न किसी ज्ञान का विषय तो है ही। छद्मस्थ ज्ञान के द्वारा हमें 'मैं हूँ' यह संवेदन तो हो सकता है, लेकिन ''मैं अनन्तगुण वाला हूँ'' इसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी श्रद्धान तो किया ही जा सकता है।

सम्यग्दर्शन के दस भेदों में अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन भी होता है। बारहवें गुणस्थान तक अवगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है तब तक वस्तु परोक्ष होती है। परोक्ष का ही श्रद्धान होता है। लेकिन केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर तीन लोक की सम्पूर्ण वस्तुयें झलक जाती हैं। उस समय सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है। पहले जिन वस्तुतत्त्वों पर श्रद्धान किया था वह सब उस समय प्रत्यक्ष हो जाता है। तभी परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

दृष्टान्त—परोक्ष ज्ञान की दशा में सब कुछ श्रद्धान पर टिका रहता है। सब कुछ मानकर ही चलना पड़ता है। वर्तमान में हमारे पास स्वरूप प्रकट नहीं है, उसे भी श्रद्धान करके स्वीकार करते हैं। तथा आगम और अनुमान से श्रद्धान को मजबूत करके उसकी प्राप्ति हेतु साधनामय पुरुषार्थ करते हैं। आज प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है किन्तु उस प्रमाण का अनुमान किया जाता है। ''दूध में घी है'' यह प्रत्यक्ष नहीं है लेकिन उसमें घी है इस पर श्रद्धान करके ही घृत की प्राप्ति का उपाय करते हैं। जब तक दूध में से घी नहीं निकाला जाता तब तक दूध का ही संवेदन होता है, घृत का नहीं। घृत का संवेदन तो घृत निकलने के बाद ही उसका सेवन करने पर होता है। दूध का सेवन करने वाले को शुद्ध घी का अनुभव नहीं हो सकता। हाँ, घी का श्रद्धान तो होता है, क्योंकि घी है तो घी का अनुभव और दूध है तो दूध का ही अनुभव होता है। इसी प्रकार जब कर्मफल का अनुभव होता है उस समय आत्मा ज्ञान दर्शनात्मक है इसका अनुभव नहीं हो सकता।

दूध के साथ लेने वाली औषधि आप घी के साथ नहीं ले सकते, क्योंकि घी उसका अनुपान नहीं है। घी के साथ लेने से उसका विरुद्ध असर हो सकता है। चूँकि वह दूध के साथ ही प्रभावक होती है, रोगी के पास दूध के साथ ही पचाने की सामर्थ्य है, अतः घी के साथ नहीं दी जा सकती। बच्चा घी नहीं पी सकता, दो, तीन गिलास दूध तो पी सकता है। यदि कोई कहे कि आधा किलो दूध में ५० ग्राम घी निकलेगा अतः उसे आधा किलो दूध न पिलाकर सीधा ५० ग्राम घी पिला दो तो भी नहीं पिलाते, क्योंकि घी पीने से वह बीमार हो जायेगा। उसी प्रकार यहाँ कहा जा रहा है कि कर्मफल चेतना का अनुभव करने वाले को ज्ञान-दर्शनमय शुद्धात्मा का अनुभव नहीं हो सकता। कर्मफल

चेतना का अनुभव करने वाले को ज्ञानचेतना पर श्रद्धान अवश्य होता है। कालान्तर में जब परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है, केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो सर्व लोक प्रत्यक्ष हो जाता है। प्राणातिक्रान्त होने पर ज्ञान चेतना का अनुभव भी होता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ में लिखा है कि–

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ॥३९॥

अर्थ–सभी स्थावरकायिक जीवों के कर्मफल चेतना होती है, त्रस जीवों के कर्मचेतना और कर्मफल चेतना होती है। तथा प्राणों से अतिक्रान्त सिद्ध जीवों के ज्ञानचेतना होती है।

अबद्धपुट्ठं इस पद की व्याख्या में कहा गया है आत्मा द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा भावकर्मों से अबद्ध एवं अस्पृष्ट है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा रागादि वैभाविक परिणामों से भी अबद्ध तथा अस्पृष्ट है। लेकिन व्यवहारनय की दृष्टि से या अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से रागादि का अधिकरण जीव है। रागद्वेषादि का जीव के साथ ऊपर-ऊपर सम्बन्ध है, गाय के गले में रस्सी के समान ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु रागादि जीव में होते हैं, अत: जीव के हैं ऐसा सिद्ध होता है।

हवा के माध्यम से समुद्र में लहरें उठती हैं। हवा तो ऊपर-ऊपर है, ऐसा नहीं कहना। हवा के बिना लहरें नहीं होती, परन्तु हवा में लहरें नहीं होतीं। लहरें तो समुद्र में उठती हैं। हवा, हवा में है, सरोवर, सरोवर में है फिर भी हवा के निमित्त से सरोवर में लहरें उठती हैं। उसी प्रकार द्रव्य कर्मोदय रूपी हवा के माध्यम से आत्मारूपी समुद्र में रागद्वेषादि वैभाविक परिणाम रूपी लहरें उठती हैं। इस समय आत्मा में रागादि हैं, ऐसा कहा जाता है। गुणस्थान कर्मों में नहीं, किन्तु कर्मोदय के साथ आत्मा में होते हैं। गुणस्थान का आत्मा के साथ स्वाभाविक तादात्म्य नहीं होता। कर्म और आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है। हवा के माध्यम से लहरें उठती हैं, यह निमित्त की मुख्यता से कथन किया जाता है। लेकिन यह भी एकान्त नहीं है, कि जहाँ-जहाँ हवा है वहाँ-वहाँ लहर उठना ही चाहिए। यदि ऐसा मानेंगे तो नदी के किनारे जाने की आवश्यकता ही नहीं है तथा सरोवर में जो लहरें उठ रही हैं, उसमें हवा का कोई हाथ नहीं है, ऐसा कहेंगे तो यह भी गलत है, क्योंकि यदि ऐसा है तो समुद्र में हमेशा लहरें उठना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि–**एकान्त से निमित्त ही सब कुछ है या उपादान ही सब कुछ है, ऐसा नहीं समझना।** यदि निमित्त को नहीं मानेंगे तो रागद्वेषादि जीव के स्वभाव हो जायेंगे। लहर का उठना समुद्र का स्वभाव हो जायेगा। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। आज समाज में निमित्त-उपादान को लेकर विसंवाद है। सभी अपने-अपने सिद्धान्त के पक्ष में अपने आपको क्षायिक सम्यग्दृष्टि मानते हैं। मैं प्रार्थना करता हूँ कि–हे भगवन्! जल्दी-जल्दी क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाये तो सबके झगड़े-विसंवाद समाप्त हो जायें।

अणण्णयं नर–नारकादि पर्यायों में भी जीवत्व का प्रवाह हमेशा बना रहता है। जीवद्रव्य का अपनी पर्यायों के साथ अनन्यपना रहता है। जैसे–घड़े की प्रत्येक पर्याय में मिट्टी का अस्तित्व अनन्य रूप से रहता है। **णियदं** जीव अपने गुण, प्रदेशों की अपेक्षा अवस्थित रहता है। जैसे–रबर चाहे खींच लो, चाहे संकोचित कर लो फिर भी रबर तो रबर ही रहता है। उसमें संकुचित और विस्तृत फैलने की क्षमता नियत रूप से रहती है उसी प्रकार राघव मच्छ हो या चींटी, दोनों पर्यायों को प्राप्त होते हुए भी जीवत्व रूप से जीव द्रव्य का अस्तित्व रहता है। **असंजुत्तं** संयोग कई प्रकार के होते हैं, जैसे–जल में उष्णता और पानी में नीलापन। रागादि का आत्मा के साथ संयोग होना भी एक संयोग है। कर्म के उदय से आत्मा में रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो आत्मा हमेशा–हमेशा मात्र पारिणामिक भाव वाला ही माना जायेगा। पारिणामिक भाव की अपेक्षा न संसार होता है न मुक्ति। न स्वभाव, न विभाव। रागादि तो संयोगज भाव है, यह लहर है और लहर जल से भिन्न नहीं होती। बल्कि वह हवा के निमित्त से जल का ही परिणमन है। इसी प्रकार रागादि कर्मोदय के निमित्त से होने वाले आत्मा के ही परिणमन हैं। यह ऊपर–ऊपर नहीं होता। निमित्त–नैमित्तिक भाव को ही संयोग–संयोगज भाव कहते हैं। अतः संयोगज रागादि भाव अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा के हैं। शुद्धनिश्चयनय से तो जैसे जल उष्णता से रहित है वैसे ही आत्मा रागादि भावों से रहित है अतः असंयुक्त है।

किसी भी वस्तु की शक्ति या उनके गुण किसी पर डिपेण्ड होकर नहीं रहते। दूसरे के निमित्त से वह शक्ति व्यक्त–अव्यक्त रूप हो सकती है। जैसे–अग्नि के निमित्त से जल में जो गर्म होने की क्षमता थी वह व्यक्त हो गई। जीवद्रव्य की स्वभाव और विभाव रूप पर्यायें होती हैं, लेकिन दोनों एक साथ व्यक्त रूप से नहीं रहतीं। विभाव रहेगा तो स्वभाव व्यक्त नहीं हो सकेगा और यदि स्वभाव व्यक्त हो गया तो विभाव नहीं रह सकता। जैसे–जल में शीतलता रूप स्वभाव शक्ति है तो जिस समय जल शीतल है उस समय उष्ण नहीं और जिस समय अग्नि के संयोग से उष्ण शक्ति व्यक्त हो गई तो शीतलता का अभाव हो जाता है।

केवलज्ञान भी शुद्ध है और शुद्धोपयोग भी शुद्ध है। केवलज्ञान क्षायिक है, शुद्धोपयोग क्षायोपशमिक रूप है। केवलज्ञान ध्यान का फल है और शुद्धोपयोग ध्यान रूप है। केवलज्ञान स्वभाव है, शुद्धोपयोग विभाव रूप होता है।

जिज्ञासा—शुद्धोपयोग यदि विभाव रूप है तो फिर उसे अशुद्ध क्यों नहीं कहते ?

समाधान—शुद्धोपयोग विभाव रूप है फिर भी उसे शुद्ध कहने के तीन कारण हैं–१. शुद्धनय का विषय होने से शुद्ध है, २. शुद्धात्मा का साधक होने से और ३. शुद्ध अभिप्राय में परिणत होने से शुद्धोपयोग को शुद्ध कहा गया है। शुद्धोपयोग रूप ध्यान की अवस्था को किन्हीं भी आचार्यों ने क्षायिक भाव में स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह तो क्षायोपशमिक भावात्मक है। ध्यान जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु शुद्धस्वभाव की प्राप्ति में कारण अवश्य है। अतः शुद्धोपयोग या

शुद्धोपयोगात्मक ध्यान शुद्ध रूप नहीं है, किन्तु शुद्धत्व का साधन है। इस प्रकार विवक्षा वश व्यवस्थित रूप से साध्य-साधन रूप में घटित करके वस्तु तत्त्व को समझने का प्रयास करेंगे तो स्वभाव-विभाव, शुद्ध-अशुद्ध भाव आदि कहाँ घटित होते हैं ? इन सभी विषयों का स्पष्टीकरण हो जाता है। अन्यथा वस्तु को समीचीन रूप से समझने के लिए कोई सम्यक् व्यवस्था नहीं बनती। जो अपने आत्मतत्त्व को अबद्ध अस्पृष्ट आदि रूप जानता है उसे यहाँ शुद्धनय स्वरूप कहा है। नय हमेशा अपने विषयों को पुष्ट करते हैं तथा दूसरे नय के विषयों को गौण करके निराकृत करते हैं। कोई भी नय किसी दूसरे नय का अनुरोधक नहीं होता।

उत्थानिका—अब आगे की गाथा में बतलाते हैं कि जो पहले हम शुद्धात्मा की अनुभूति का वर्णन कर चुके हैं, वह ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान की अनुभूति है। **जो एगं जाणदि सो सव्वं जाणदि** जिसने एक को पूर्ण रूपेण जान लिया, देख लिया, उसने सबको जान लिया। **एकहि साधै सब सधै** ऐसा कहते ही हैं। सबको जानना महत्त्वपूर्ण नहीं। जैसे-कोई एम॰ ए॰ का छात्र है। वह एक ही विषय पर गहनता से अध्ययन करता चला जाता है। तब वह उसमें परमोत्कर्ष प्राप्त कर पाता है। इसी प्रकार यहाँ कहा जा रहा है कि साधक एक को अर्थात् आत्मा को किस रूप में जानता है ? इसी को बतलाते हैं-

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१७॥

अन्वयार्थ—(जो) जो **(अप्पाणं)** आत्मा को **(अबद्धपुट्ठं)** अबद्धस्पृष्ट (अबद्ध अस्पृष्ट) **(अणण्णं)** अनन्य **(अविसेसं)** अविशेष **(पस्सदि)** देखता है वह **(अपदेससुत्तमज्झं)** द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप **(सव्वं जिणसासणं)** सर्व जिनशासन को **(पस्सदि)** देखता है।

अर्थ—जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदि रूप से जानता है, अनुभव करता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतमय द्वादशांगरूप पूर्ण जिनशासन का जानकार होता है।

आत्मा अबद्ध स्थिर शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से।
ऐसा निजात्म लखते मुनि अक्षजेता,
सूत्रार्थ का कथक आगम पूर्ण वेत्ता ॥१७॥

व्याख्या—प्रस्तुत गाथा में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने इस विषय का स्पष्टीकरण किया है कि- **शुद्धात्मानुभूति जो है वह निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानानुभूति रूप ही है।** जो शुद्धात्मा को अबद्ध अर्थात् संश्लेष रूप बन्ध से रहित और स्पृष्ट अर्थात् संयोग से रहित जानता है। **अणण्णयं** अर्थात् निश्चयनय से परद्रव्य के संयोग से रहित जानता है। **अविसेस** अर्थात् कुण्डलादिक में स्वर्ण के समान अभिन्न, समुद्र के समान नियत और अवस्थित रूप जानता है, वह द्वादशांग रूप सम्पूर्ण जिनशासन

को जानता है। कैसे जानता है ? **अपदेससुत्तमज्झं** अपदिश्यते अर्थो येन जिसके द्वारा पदार्थ को कहा जाये वह अपदेश है, इस व्युत्पत्ति के द्वारा अपदेश का अर्थ शब्द होता है। इसलिए यहाँ द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से **सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं** परिच्छित्ति रूप भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य हो वह अपदेश सूत्र मध्य कहा जाता है।

जिज्ञासा—पहले पूरे विश्व को जान लें फिर अनुभूति करेंगे, यदि कोई ऐसा कहता है तो उचित है क्या ?

समाधान—आचार्य कहते हैं यह ''भूतो न भविष्यति'' अत: जिसने विश्व को जान लिया उस आत्मा को जानो। आगम पर विश्वास करो या जो आगम को बता रहा है उस पर विश्वास करो।

दृष्टान्त—जैसे–कोई एक रोगी वैद्य के पास जाता है और पूछता है कि मुझे यह क्या हो गया है ? और इसे दूर करने का उपाय क्या है ? वैद्य कहता है–तुम्हें जो रोग हो गया है, वह ठीक हो जायेगा। मेरे पास जो साधन हैं, औषधि है उससे ठीक हो जायेगा। तब वह रोगी वैद्य से यदि कहता है कि–आपका क्या भरोसा ? क्या प्रमाण है ? क्या इतिहास है ? इसकी जानकारी दीजिए तभी मैं विश्वास करूँगा। तो उसका ऐसा सोचना ठीक नहीं है। आखिर जहाँ कहीं भी जाओ, हर किसी क्षेत्र में देख लो भरोसा करना ही पड़ता है। यदि एक–एक दवाई की पूरी–पूरी जानकारी करेंगे तो पचास साल उसे ज्ञान प्राप्त करने में लग जायेंगे। तब तक रोगी की क्या दशा होगी ? वह बचा या मरण को प्राप्त हो गया, क्या कहा जा सकता है। अत: अनुभूति के पहले विश्वास करना अनिवार्य होता है। भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया उस पर पहले विश्वास करो, पश्चात् उस पर अमल करो तभी उस रूप हो सकते हो।

जिज्ञासा—ज्ञानी और अज्ञानी से क्या तात्पर्य है ? तथा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को आत्मा की प्रतीति किस प्रकार होती है ?

समाधान—समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि में स्थित जीव है तथा अज्ञानी का अर्थ निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट जीव विवक्षित है। इन्हें आत्मा की प्रतीति किस प्रकार होती है ? उसे एक निम्न दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

दृष्टान्त—जिस प्रकार लवण की डली एक खारे रस वाली होती है। फिर भी अज्ञानियों को वह फल, साग और पत्र साग आदि परद्रव्यों के संयोग से भिन्न–भिन्न स्वाद वाली प्रतीत होती है परन्तु ज्ञानियों को तो वह मात्र खारी रस वाली ही प्रतीत होती है। अज्ञानी अन्य भोज्य वस्तुओं के साथ लवण को भिन्न–भिन्न स्वाद रूप अनुभव करता है। जबकि ज्ञानी जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही अनुभव करता है। उसी प्रकार एक अखण्ड स्वभाव वाली आत्मा निर्विकल्प समाधि से च्युत होने वाले अज्ञानियों को तो स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द और नीलपीतादि वर्णमय ज्ञेय पदार्थ के भेद से खण्ड–खण्ड ज्ञानरूप प्रतीत होती है, किन्तु जो निर्विकल्प समाधि में स्थित ज्ञानी जन हैं उन्हें वही आत्मा एक

अखण्ड ज्ञान रूप ही प्रतीत होती है। आठ कर्मों के बीच रहते हुए भी ज्ञानी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते।

संसारी प्राणी हमेशा नेत्र, कर्ण, नासिका आदि पाँच इन्द्रिय रूपी खिड़कियों से बाहर देखता है, अतः उसे बाह्य ज्ञेय ही दिखता है, उसी का परिचय होता है पश्चात् तत्सम्बन्धी रागद्वेष की विचारधारा चलती है। आचार्य कहते हैं कि–हे संसारी प्राणी, तुम जो इन्द्रिय और मनरूपी खिड़कियों से बाहर देख रहे हो उनको बन्द कर दो, क्योंकि इनसे बाह्य वस्तु ही देखने-जानने में आयेगी, अतः खिड़कियों से बाहर मत देखना, देखना है तो खिड़कियों को देखो। खिड़कियों के बिना भी देखने वाला देखने का कार्य कर लेता है, क्योंकि देखने वाला तो आत्मा है (मैं हूँ) पहले खिड़कियों के अवलम्बन से बाहर देख रहा था, अब भीतर देख रहा हूँ। इन्द्रिय, मन एवं स्मृति के अभाव में भी ज्ञान की अखण्ड धारा चलती रहती है।

इस **समयसार** ग्रन्थ में मात्र मिथ्याज्ञानी को अज्ञानी नहीं कहा किन्तु निर्विकल्पसमाधि से जो भ्रष्ट हैं उन सभी को अज्ञानी की संज्ञा दी है। यह **समयसार** ग्रन्थ का रहस्य है। निर्विकल्पसमाधि में साधक एक अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहर सकता है, इसके उपरान्त फिर समाधि से च्युत हो जाता है, तो पुनः अज्ञानी संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। उस समय वह भूतपूर्व ज्ञानी कहलाता है। जैसे भूतपूर्व राष्ट्रपति कहलाते हैं। वर्तमान में भूतपूर्व राष्ट्रपति को राष्ट्रपति नहीं, किन्तु सामान्य नागरिक माना जाता है।

जिज्ञासा—निश्चय साध्य होता है व्यवहार साधन, इन दोनों के पूर्व निर्णय होता है। प्रश्न यह है कि व्यवहार और निश्चय इन दोनों में से पहले व्यवहार होता है या निश्चय ?

समाधान—इस जिज्ञासा का समाधान स्वतः ही स्पष्ट है कि पहले साधन होता है बाद में साध्य की प्राप्ति होती है। चूँकि व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है अतः पहले व्यवहार होता है पश्चात् निश्चय। लेकिन विशेष बात यह है कि व्यवहार के पूर्व भी निर्णय होता है। समझने के लिए एक दृष्टान्त है।

दृष्टान्त—जैसे किसी ने निर्णय किया कि दिल्ली जाना है। अब दिल्ली जाने के लिए वह रुपये एकत्रित करके टिकट लेता है। टिकट लेने के बाद स्टेशन पर प्लेटफार्म पर जाता है। मात्र टिकट खरीदने से भी वह दिल्ली नहीं पहुँच पायेगा। अतः टिकट भी खरीद लिया, स्टेशन, प्लेटफार्म पर भी पहुँच गया, ट्रेन गाड़ी भी आ गई। कुछ सेकेण्ड रुकी, लेकिन आप चूक गए, गाड़ी चली गयी। अब गाड़ी एक सप्ताह बाद जायेगी, तब तक टिकट बेकार हो जायेगा। और यदि वह सावधान रहे, समय पर गाड़ी आये और वह उसमें बैठ जाये तो वह समय पर दिल्ली पहुँच जायेगा। इस दृष्टान्त से हम समझ सकते हैं कि निश्चय-व्यवहार में से पहले कौन होता है ? दिल्ली जाने का निर्णय करना, यह तो सर्वप्रथम होगा ही किन्तु दिल्ली पहुँचने के पूर्व की जितनी भी तैयारियाँ हैं, जितने भी साधन हैं, वे सभी व्यवहार कहलायेंगे और दिल्ली पहुँचना निश्चय है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार पहले होता है निश्चय बाद में।

निश्चय के पहले जो व्यवहार को नहीं मानता उसका निर्णय अधूरा माना जायेगा वह व्यवहार के बिना निश्चय तक पहुँच ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि दिल्ली जाने का निर्णय भी कर लिया लेकिन टिकट बॉम्बे का खरीद लिया तो भी देहली नहीं पहुँच सकता। अर्थात् निश्चय के योग्य ही साधन रूप व्यवहार होना चाहिए। अन्यथा वह व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास हो जायेगा। **साधन मंजिल नहीं है पर उसके बिना भी मंजिल नहीं।** दिल्ली जाने का निर्णय ही दिल्ली तक पहुँचाता है अतः निश्चय की प्राप्ति में व्यवहार के समान निर्णय भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। उक्त दृष्टान्त से यह तात्पर्य सिद्ध होता है कि–**सर्वप्रथम निर्णय फिर व्यवहार के माध्यम से निश्चय की ओर पहुँचा जाता है।** अतः निश्चय की प्राप्ति में निर्णय और व्यवहार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

दृष्टान्त—पहले के लोगों को जब बाहर दूसरे गाँव जाना होता था तो बस वगैरह से जाते थे। लेकिन बस आने में यदि विलम्ब हो तो वे जहाँ जाना है उस ओर पैदल चलना प्रारम्भ कर देते थे। एक-एक घण्टे या आधे घण्टे तक वहाँ बस स्टेण्ड पर बैठे नहीं रहते थे। चलते-चलते रास्ते में जब बस आ जाती थी तो हाथ से इशारा करके बस को रोककर बैठ जाते थे और अपनी यात्रा सानन्द सम्पन्न करके अपने गन्तव्य पर पहुँच जाते थे। उसी प्रकार मोक्षमार्गी भी मोक्ष का निर्णय लेकर चलना प्रारम्भ करता है। जब तक रत्नत्रय की बस नहीं मिलती, तब तक कोई अणुव्रती बन जाता है, कोई ऐलक, क्षुल्लक बन जाता है, कोई पाक्षिक, कोई नैष्ठिक श्रावक बन जाता है। उसकी दृष्टि लक्ष्य की ओर रहती है अतः व्यवहार के साधनों रूपी बस स्टेण्ड पर रुकता नहीं है, किन्तु व्यवहार में भी चलता रहता है। **जितने-जितने साधन मिलते जाते हैं उनको अपनाता जाता है और अपनी यात्रा में निश्चय की ओर आगे-आगे कदम बढ़ाता जाता है।** निश्चय रूप मंजिल की प्राप्ति के पूर्व उसे साधनों को अपनाना ही एकमात्र श्रेयस्कर होता है।

अपदेससुत्तमज्झं के स्थान पर आगम में दूसरा पाठ **अपदेससंतमज्झं** भी मिलता है। लेकिन **तात्पर्यवृत्ति** और **आत्मख्याति** टीका में यह पाठ स्वीकार नहीं किया, क्योंकि इसकी पदखण्डना टीका नहीं की, किन्तु **अपदेससुत्तमज्झं** पाठ की टीका करके यह स्पष्ट किया है कि द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य है वह अपदेससुत्तमज्झं है। द्रव्यश्रुत के द्वारा भावश्रुत को प्राप्त करने वाला जिनशासन है यह भी अर्थ निकलता है।

उत्थानिका—अब आगे की गाथा में यह कहा जाता है कि शुद्धात्म-भावना में परिणत होने पर ही अर्थात् समाधि में समाविष्ट होने पर ही सम्यग्ज्ञानादिक प्राप्त होते हैं–

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१८॥

अन्वयार्थ–(मज्झ णाणे आदा) मेरे ज्ञान में आत्मा है **(मे दंसणे चरित्ते य)** मेरे दर्शन एवं चारित्र में **(आदा)** आत्मा है **(पच्चक्खाणे)** मेरे प्रत्याख्यान मे **(आदा)** आत्मा है **(मे संवरे जोगे खु)**

मेरे संवर एवं योग में निश्चय से **(आदा)** आत्मा है।

अर्थ—मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र में तथा प्रत्याख्यान में एवं संवर में और ध्यान के समय में केवल आत्मा ही आत्मा है, ऐसा ज्ञानी का विचार होता है।

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्याख्यान गुण में लसता गुरो! मैं।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१८॥

व्याख्या—मेरी तो एक शुद्धात्मा है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग इन सभी भावनाओं में एक आत्मा ही है। आत्मा प्रदेशवान है। द्रव्य प्रदेशवान होता है, गुण कभी प्रदेशवान नहीं होते, किन्तु आत्मा के जितने प्रदेश हैं, उन सभी असंख्यातप्रदेशों में गुण व्याप्त होकर रहते हैं। अतः ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान आदि सभी का आत्म से पूर्ण सम्बन्ध रहता है। इनको पर्याय भी कहें तो कहा जा सकता है, क्योंकि ये सभी भाव आत्मा के ही परिणमन स्वरूप हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

दृष्टान्त—जैसे केन्द्र और व्यास के बिना परिधि नहीं होती है। वैसे ही द्रव्य और गुणों के बिना पर्याय नहीं होती है। परिधि द्रव्य की पर्याय है, गुण व्यास के समान है और द्रव्य केन्द्र स्वरूप है। गुण दिखाई नहीं देते लेकिन गुणों की पर्याय दिखती हैं। रूप गुण पकड़ में नहीं आता, किन्तु रूप गुण की जो काली, नीली, लाल आदि पर्यायें दिखाई देती हैं। यहाँ पर द्रव्य, गुण, पर्याय से सम्बन्धित दोहे हैं–

व्यास बिना वह केन्द्र ना, केन्द्र बिना ना व्यास।
परिधि तथा उस केन्द्र का नाता जोड़े व्यास ॥७८॥
केन्द्र रहा सो द्रव्य है और रहा गुण व्यास।
परिधि रही पर्याय है, तीनों में व्यत्यास ॥७९॥
व्यास केन्द्र या परिधि को, बना यथोचित केन्द्र।
बिना हठाग्रह निरख तू निज में यथा जिनेन्द्र ॥८०॥

(पूर्णोदय शतक)

अर्थात् व्यास के बिना केन्द्र नहीं, केन्द्र के बिना व्यास नहीं। परिधि तथा केन्द्र का नाता जोड़ने वाला व्यास होता है। केन्द्र रूप द्रव्य, गुण व्यास स्वरूप और पर्याय परिधि रूप से उपमित है। व्यास, केन्द्र या परिधि को यथोचित केन्द्र रूप बनाकर बिना हठाग्रह के निज में आत्मतत्त्व को जाने जैसे बिना हठाग्रह के जिनेन्द्र को जानते हैं। हठाग्रह के बिना वस्तुतत्त्व को जानने से वह सम्यक् रूपेण समझ में आती है। यहाँ प्रसंग में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान आदि पर्याय हैं। ज्ञान, दर्शन आदि सभी

पर्यायें आत्मा से अभिन्न हैं, अतः आत्मा को ज्ञानादि में स्वीकार किया है। आत्मा ही कारण है और आत्मा ही कार्य है। प्रत्याख्यान, संवर आदि का अधिकरण आत्मा है। निर्विकल्प समाधि को परम सामायिक या परम ध्यान भी कहते हैं। उस परम समाधि में भोगाकांक्षा, निदानबन्ध और निदान शल्य, आर्तरौद्रध्यानादि से रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने पर उपर्युक्त समस्त सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शुद्धनय के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—अब आगे भेदाभेद रत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथाएँ कही जा रही हैं। उनमें से प्रथम गाथा के पूर्वार्द्ध से भेदरत्नत्रय की भावना को और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना को स्पष्ट करते हुए कथन करते हैं–

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१९॥

अन्वयार्थ—(साहुणा) साधु पुरुषों के द्वारा **(दंसणणाणचरित्ताणि)** दर्शन ज्ञान और चारित्र **(णिच्चं)** नित्य **(सेवि दव्वाणि)** सेवन करने योग्य है **(पुण)** और **(ताणि तिण्णिवि)** वे तीन हैं तो भी **(णिच्छयदो)** निश्चय से **(अप्पाणं)** आत्मा **(चेव)** ही **(जाण)** जानो।

अर्थ—साधक को अपनी प्रारम्भिक अवस्था में दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न रूप से भली प्रकार समझकर स्वीकार करना चाहिए, किन्तु निश्चयनय को अंगीकार करने पर तो ये तीनों आत्मस्वरूप ही भासित होते हैं।

साधू चरित्र दृग बोध समेत पाले,
आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गा ले।
ज्ञानी नितान्त निज में निज को निहारे,
तो अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारे ॥१९॥

व्याख्या—आचार्यों की वाणी से, उनके उपदेशों से हमेशा शुद्धात्मा की भावना करने की प्रेरणा मिलती है। शुद्धात्मा की भावना अनेक प्रकार से की जाती है। व्यवहारनय की विवक्षा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र की भिन्न-भिन्न रूप से आत्मभावना की जाती है तथा निश्चयनय की विवक्षा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों से अभिन्न आत्मा की भावना की जाती है। पहले कहा था कि आत्मद्रव्य दिखाई नहीं देता लेकिन पर्याय और गुण के माध्यम से द्रव्य की पहचान कर सकते हैं। रत्नत्रय आदि गुण के माध्यम से गुणी की पहचान कर सकते हैं। वैसे अधिकरण और करण के माध्यम से सही पहचान होती है।

मार्गणायें संसार दशा में रहती हैं। इनके द्वारा जीव की विभिन्न दशाओं का ज्ञान होता है। कुछ ऐसी मार्गणायें होती हैं जो क्षायिक भाव के साथ भी पायी जाती हैं। वे संसार और मुक्त दोनों अवस्थाओं में पायी जाती हैं। जैसे–क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन आदि मार्गणायें संसार अवस्था में भी होती हैं और मुक्त जीवों में भी पायी जाती हैं। कषायमार्गणा १०वें गुणस्थान तक होती है, किन्तु

अकषाय और अवेद भाव ११ वें से १४ वें गुणस्थान तक भी पाया जाता है और सिद्धों में भी पाया जाता है। संयममार्गणा १४ वें गुणस्थान तक, लेश्या मार्गणा १३ वें गुणस्थान तक होती है। इत्यादि आगम में मार्गणाओं का विस्तृत व्याख्यान है।

जिज्ञासा—गुणस्थान का पतन कैसे होता है ?

समाधान—कुछ लोग आकर कहते हैं कि–महाराज! कभी–कभी बहुत संक्लेश होता है तो गुणस्थान से पतन हो जाता है क्या ? नहीं, संक्लेश की तीव्रता को सम्हाल नहीं पाते तो इस प्रकार का सन्देह होने लगता है। प्रतिज्ञा भंग होने से गुणस्थान गिरता है। प्रतिज्ञा जितनी दृढ़ रहेगी गुणस्थान उतनी ही दृढ़ता से बना रहेगा। दृढ़ता होने से गुणस्थान के विशुद्धिस्थानों में वृद्धि होती रहती है। विशुद्धि स्थानों से एवं संयमलब्धिस्थानों से कर्म संक्रमित होते हैं। जैसे–तिर्यंचगति में जीवों के हमेशा नीचगोत्र की उदीरणा होती है। लेकिन तिर्यंच द्वारा संयमासंयम ग्रहण कर लेने पर उच्चगोत्र की उदीरणा प्रारम्भ हो जाती है। संयमासंयम छूटने पर या छोड़ने पर पुनः नीचगोत्र की उदीरणा प्रारम्भ हो जाती है। ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि यह गुण प्रत्ययिक है। **को गुणपच्चओ ? संयमासंयमो संयमो वा।** तात्पर्य यह है कि संक्लेश होने मात्र से गुणस्थान का पतन नहीं होता परन्तु संकल्प टूटने या तोड़ने से गुणस्थान का पतन होता है।

दृष्टान्त—गुणस्थानों के योग्य संक्लेश और विशुद्धि का क्रम तो चलता ही रहता है। जैसे–समुद्र में हवा चले या न चले ज्वारभाटा तो उठता ही रहता है। एक बार समुद्र के ज्वारभाटा युक्त दृश्य का अवलोकन करने का योग बना था। समुद्र में १२ बजे तक प्रवाह बढ़ता जाता है और २–३ बजे रात तक दो–तीन किलोमीटर तक घटता जाता है। यह नियम है। तीर्थंकर भी क्यों न हों, उनके जीवन में भी संक्लेश और विशुद्धि का क्रम चलता है। हजारों बार छठवाँ सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। हमेशा विशुद्धि परिणामों का विकास ही विकास होता हो, ऐसा नियम नहीं है। दीक्षा लेते समय जैसे परिणाम होते हैं वैसे ही परिणाम हमेशा बने रहें यह तो तीर्थंकरों के भी सम्भव नहीं है। अतः संयमी की पीड़ा देखकर या कदाचित् होने वाले संक्लेश को देखकर कभी ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि ''हम तो ऐसे ही ठीक हैं।'' ध्यान रखो, ''गिरता वही है जो ऊपर चढ़ता है।'' वह गिरता जैसा लगता है, पर गिरता नहीं, वह अपने गुणस्थान में बना रहता है। अथवा और अधिक ऊपर विशुद्ध परिणामों की प्राप्ति के लिए झूले की भाँति, नीचे आकर और अधिक जोर लगाकर झूला ऊँचा उठ जाता है। यही स्थिति ६ वें ७ वें गुणस्थान में होती है। हाँ, इतनी बात अवश्य ध्यान में रखें कि यदि गुणस्थान के योग्य कषाय की मन्दता या तीव्रता हो तो भी गुणस्थान सुरक्षित रहता है, किन्तु यदि निम्न गुणस्थान के योग्य कषाय सम्बन्धी संक्लेश बढ़ता है तो गुणस्थान का पतन हो जाता है। छद्मस्थ अवस्था में संयमलब्धि स्थान के बारे में इसी तरह समझना चाहिए। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन उत्पत्ति का भी एक क्रम है। किसी भी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु सर्वप्रथम

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है पश्चात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होगा, अन्त में क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

संसार क्या है ? इसके बारे में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने **समाधितन्त्र** ग्रन्थ में एक कारिका लिखी है कि–

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के मन में रागद्वेष रूपी संकल्प-विकल्प की तरंगें उठती रहती हैं। जिनके कारण आत्मतत्त्व का अवलोकन नहीं हो पाता। जिस व्यक्ति के मन रूपी जल में रागद्वेष रूपी कल्लोलें नहीं उठती, वही आत्मतत्त्व का दर्शन या उसकी अनुभूति कर सकता है, अन्य कोई नहीं। अतः यदि आत्मतत्त्व का अवलोकन करना चाहते हो तो रागद्वेष रूपी संकल्प-विकल्प मत करो। ऐसा पुरुषार्थ करो कि रागद्वेष न हों।

आचार्यों ने गुफाओं में बैठकर आत्मसाधना करके निचोड़ के रूप में उक्त आध्यात्मिक कारिकायें लिखी हैं। दुनियाभर के विकल्पों के साथ समयसार या अन्य अध्यात्म ग्रन्थों के पढ़ने में कोई सार समझ में नहीं आता। आत्मतत्त्व पर श्रद्धान हो जाये तो भी बड़ा काम हो सकता है। सर्प में भी खिलौने का श्रद्धान करने वाला बालक उससे अच्छी तरह खेलता रहता है और अन्धेरे में कोई व्यक्ति सर्प का श्रद्धान कर लेता है तो डर जाता है। प्रकाश होने पर पता चलता है तो कहता है कि– अरे, मैं रस्सी को सांप समझ गया था। प्रकाश होने पर उसका सर्प सम्बन्धी भय नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश होने पर अज्ञान के कारण होने वाली मिथ्या मान्यताओं का समीचीन ज्ञान होता है, वस्तु स्वरूप समझ में आता है तब मिथ्या मान्यताओं को छोड़ देता है। तत्पश्चात् **अंतो अंतो डज्झमि** ज्ञानी जीव को अन्दर ही अन्दर पश्चाताप होता है, भीतर ही भीतर वह जलता रहता है। अपने आपको धिक्कारता है। अनर्थ को अनर्थ समझता है और स्वीकार करता है कि मेरे द्वारा अनर्थ हुआ है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की महत्ता है। आचार्यों का महान् उपकार है कि उन्होंने इस भौतिक जगत को आत्मतत्त्व का उपदेश दिया।

उत्थानिका—अब आगे भेदाभेद रत्नत्रय की भावना को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा दो गाथाओं से स्पष्ट करके बतलाते हैं–

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिदूण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥२०॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥२१॥

अन्वयार्थ—(जह णाम) जैसे **(को वि)** कोई **(अत्थत्थीओ)** धन को चाहने वाला **(पुरिसो)** पुरुष **(रायाणं)** राजा को **(जाणिदूण)** जानकर **(सद्दहदि)** श्रद्धान करता है **(तो तं)** उसके बाद उसको **(पयत्तेण अणुचरदि)** प्रयत्नपूर्वक आचरण (सेवा) करता है। तब राजा से धन प्राप्त करता है।

(एवं हि) इसी प्रकार **(मोक्खकामेण)** मोक्ष के इच्छुक जीव को **(जीवराया)** जीवरूपी राजा को **(णादव्वो)** जानना चाहिए **(पुणो य)** और फिर **(तह य)** इसी प्रकार **(सद्दहेदव्वो)** उसका श्रद्धान करना चाहिए और पश्चात् **(सो चेव दु अणुचरिदव्वो)** उसी का अनुचरण करना चाहिए।

अर्थ—जैसे कोई भी धन की इच्छा वाला पुरुष पहले राजा को राजा जानकर उस पर विश्वास करता है फिर प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करके उससे धन प्राप्त करता है। उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को जीव रूपी राजा जानकर उस पर श्रद्धान कर प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करना चाहिए।

ज्यों निर्धनी धनिक की कर खोज पाता,
आस्था धनार्थ उसमें फिर है जमाता।
ले मात्र एक धुन वो धन की सदैवा,
पश्चात् सहर्ष उसकी करता सुसेवा ॥२०॥
भाई, इसी तरह आत्म गवेषणा हो,
श्रद्धा समेत उसको फिर देखना हो।
चारित्र भी तदनुसार सुधारना हो,
ध्यातव्य! मात्र मन में शिव कामना हो ॥२१॥

व्याख्या—जिसके द्वारा हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है उसी के बारे में पहले सही जानकारी लेना चाहिए। आचार्यों ने भी कहा है कि प्रयोजनभूत तत्त्व की ही जानकारी लेना चाहिए। उसी के द्वारा हमारा लक्ष्य एवं रास्ता प्रशस्त होता है। धन प्राप्ति की इच्छा होने से राजा को जानना एवं उस पर भरोसा करना अनिवार्य होता है। भरोसा करने के बाद राजा जैसी आज्ञा दे उसी के अनुसार अनुचर बनकर प्रयत्न पूर्वक आचरण करना पड़ता है। **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में भी **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने लिखा है कि–

रागद्वेषनिवृत्ते हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥

अर्थात् राजा आदि की सेवा कुछ न कुछ अपेक्षा होने से ही की जाती है। उसी प्रकार रागद्वेष की निवृत्ति करने की इच्छा है, तो पाँच पापों के त्याग से ही होगी। जिस प्रकार राजा की सेवा करने से धन की प्राप्ति होती है उसी प्रकार व्रतों को अंगीकार करने से रागद्वेष की निवृत्ति स्वरूप चारित्र धन की प्राप्ति होती है। यहाँ पर यह रहस्य उद्घाटित होता है कि **कोई भी व्यक्ति कुछ भी कार्य करता है तो वह किसी प्रयोजन के बिना नहीं करता।** किसी भी कार्य के पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता

है। भोगभूमि में व्यसन, पाप, अतिक्रमण आदि नहीं होते। कर्मभूमि में असि, मसि आदि षट्कर्म करने में पाप होते हैं, फिर भी आचार्य कहते हैं कि **कर्मभूमि में कर्त्तव्य कीजिए पर पाप न कीजिए** अर्थ यह है कि बुद्धिपूर्वक पाप न करो।

आत्मा भी एक राजा है, उसे जानो, श्रद्धान करो। जैसे ही आत्मा के स्वभाव के बारे में जानने लग जाते हैं, तत्त्व की ओर दृष्टिपात करने लग जाते हैं, तो भव्य हो या अभव्य, बन्ध की अपेक्षा ७० कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति को अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण कर लेता है। यह सम्यग्दर्शन के पूर्व होने वाली लब्धियों की विशेषता होती है। करणलब्धि के बिना अभव्य को भी देशना, विशुद्धि, क्षयोपशम और प्रायोग्य ये चार लब्धियाँ हो जाती हैं। जिनके प्रभाव से वह कर्मबन्ध की स्थितियों को अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण कर लेता है। यह कार्य मिथ्यात्व दशा में ही अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में ही हो जाता है। **तत्त्व की ओर दृष्टि जाते ही, शान्ति से बैठकर चिन्तन करने में उपयोग की एकाग्रता होने से बहुत बड़े-बड़े कार्य सफल हो जाते हैं।** मोक्षमार्ग में हाथ-पैर चलाने की या फावड़ा चलाने के श्रम की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ मानसिक, शारीरिक या वाचनिक परिश्रम की आवश्यकता ही नहीं होती। बस, बाहर से भीतर की ओर अपने स्वभाव में आने की आवश्यकता होती है। मैं कौन हूँ ? इसके बारे में जब तक विचार नहीं आता तब तक कुछ नहीं हो सकता। कहते हैं– **दुष्टन देहु निकार, साधुन को रख लीजै।** कर्म को दुष्ट कहते हैं जबकि वह तो जड़ है। यह कर्म आखिर क्यों बंधता है ? इसका कारण ढूँढ़ो ? आचार्य कहते हैं–अज्ञानी प्राणी अज्ञान दशा में कर्मबन्ध कर लेते हैं। उनके उदय होने पर कोई बचाने वाला नहीं होता। मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न के अभाव में हमारा अनन्त अतीत कैसे चला गया। इसके बारे में कुछ सोचा ही नहीं, कुछ विचार ही नहीं किया, अभी भी नहीं सोचते। ''तत्त्वचिन्तन में हमारे कितने क्षणों का सदुपयोग होता है, इसका लेखा-जोखा रखना चाहिए।'' आज तक हमारा उपयोग बहिर्मुखी बना रहा। बाह्य पर पदार्थों को ही अपना विषय बनाता रहा। **वर्षा होती है, उस समय सीप के मुख में जल की एकाध बूँद गिरती है और स्वाति नक्षत्र का योग होता है तो वही जल मोती बन जाती है।** मात्र अन्तर्मुहूर्त का काम है, परन्तु अनन्तकाल व्यतीत हो गया तो भी नहीं कर पाये। जानना देखना ही आत्मा का स्वभाव है, इसका श्रद्धान करो, इसे सम्यक् रूपेण जानने का प्रयास करो। **आचार्य ज्ञानसागर** महाराज जी कहते हैं– **समुद्र भर पानी पी लिया, एक अंजुलि पानी पीने में आनाकानी कर रहा है। अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय को तो समाप्त कर दिया और शेष तीन कषाय की चौकड़ी का अभाव करने के लिए प्रयास करने में डरता है और कहता है—चारित्रमोहवश लेश न संजम, क्या करें, चारित्रमोह कर्म का तीव्र उदय है अतः चारित्र को अंगीकार नहीं कर पा रहा हूँ।** यह संसारी प्राणी सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य रखता है, सब कुछ कर सकता है लेकिन ज्ञान की आँखें खुलेंगी तभी तो कर पायेगा। समुद्र भर तो खारा पानी पी लिया अब उल्टी हो गई तो आनाकानी कर रहा है। अतः

तत्त्व क्या है ? धर्म क्या है ? प्रयोजनभूत क्या है ? यह जानना आवश्यक है। यदि तत्त्व ज्ञात भी है तो भी **चरितमोहवश** ऐसा कहकर आचरण नहीं करता। अतः आप ही बताइये कि **अधूरे काम करोगे तो प्रयोजन सिद्ध कैसे होंगे** ? अतः आत्मतत्त्व का श्रद्धान तो कर लिया, उसका ज्ञान प्राप्त भी कर लिया, लेकिन आचरण नहीं किया तो कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

वस्तु की मौलिकता वस्तु का मूल्य उसके प्रयोजन पर आधारित होता है। इसी को अर्थक्रियाकारित्व कहते हैं। आत्मा के पास अनन्तगुण हैं, पर उनका प्रयोजन क्या है ? यह समझना आवश्यक है। इसी को अर्थक्रिया कहते हैं।

दृष्टान्त—एक घड़ा बहुत सुन्दर है। सुन्दरता के कारण किसी ने इसका सुन्दर फोटो भी खींच लिया। एक प्यासा व्यक्ति आया, उसने उसे खोलकर देखा तो उसमें पानी नहीं था, क्योंकि छेद होने से खाली हो गया। घड़े की अर्थक्रिया है जलधारण करना। जल धारण क्रिया न होने से वह घड़ा अपना कोई अर्थ या महत्त्व नहीं रखता। उसी प्रकार आचरण के अभाव में जानना और श्रद्धान करना सब व्यर्थ है। यदि श्रद्धान और ज्ञान को अर्थयुक्त करना है तो आचार्य कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव, गुणधर्म के अनुसार चलो।

आत्मतत्त्व के प्रति श्रद्धान होने से मोक्षमार्ग के प्रति प्रमोद भाव जागृत हो जाता है। सम्यक्त्व के साथ आचरण आपेक्षित है तभी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि लक्षण सहित श्रद्धान एवं ज्ञान कार्यकारी होता है, अन्यथा नहीं। अविनश्वर तत्त्व कौन है ? जब यह समझ में आ जाता है तो क्षणभंगुर तत्त्व स्वरूप शरीर का स्वरूप भी समझ में आ जाता है। फलतः यह भी समझ में आ जाता है कि यह शरीर मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार विश्वास होने पर संवेदन में अन्तर आ जाता है। शरीर में रहते हुए भी मैं शरीरातीत बन सकता हूँ, यह विश्वास होने पर सम्यग्दृष्टि जीव शरीर मिलने के कारणों को खोजकर उन्हें छोड़ने का भी प्रयास करता है। वह मिथ्यात्व और अज्ञान से बचने का प्रयास करता है। आचार्य तो बार-बार यही कहते हैं कि **श्रद्धान करो, जानो और तदनुरूप आचरण करो।**

पूत के लक्षण पालने में लेकिन मैं कहता हूँ कि—**पूत का लक्षण माँ की आज्ञा पालने में।** सम्यग्दृष्टि बालक भी होता है और पालक भी। कोई भक्त **भगवान् को तो मानता है, पर उनकी बात नहीं मानता।** जैसे—माँ बेटे को कुछ काम करने को कहती है तो बेटा यह कहकर भाग जाता है कि—अभी आता हूँ। ऐसा बेटा माँ को तो मानता है, पर माँ की बात नहीं मानता। परन्तु बड़ा बेटा हो तो ऐसा नहीं कर पायेगा।

अणुचरिदव्वो आचरण करना चाहिए। किसके अनुसार आचरण करें ? तो आगे जो पथ पर चल चुके हैं उनके पदचिह्नों पर चलें। असंयमी पथिक नहीं हैं, क्योंकि पथ पर उसे विश्वास तो है लेकिन अभी पथ पर पैर नहीं रखा है। वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का पक्ष रखता है, अतः उसे पाक्षिक कहते हैं। वोट डालना अलग है और सपोर्ट देना अलग है। अविरतसम्यग्दृष्टि सपोर्ट तो देता है पर वोट नहीं

डालता। वह बैठे-बैठे ही प्रचार-प्रसार करना तो चाहता है परन्तु कदम आगे नहीं बढ़ाता। कई लोग बार-बार कहने के उपरान्त भी सपोर्ट करते हुए भी वोट नहीं डालते। अर्थात् विश्वास करते हैं अतः सम्यग्दर्शन तो होता है परन्तु संयम की ओर आगे नहीं बढ़ते। बैठे-बैठे प्रचार-प्रसार नहीं होता किन्तु प्रचार के योग्य शब्दों से बोलना एवं अन्य कोई शारीरिक श्रम भी करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार आत्मा ऐसा है, आत्मा का स्वभाव इस प्रकार है, इस बात को माना, लेकिन तदनुरूप आचरण अभी तक नहीं किया। आचार्य कहते हैं कि यदि आचरण नहीं कर सकता तो कम से कम श्रद्धान को तो मजबूत बनाए रखने का प्रयास करना ही चाहिए। इस विषय में **अष्टपाहुड** में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने एक गाथा लिखी है-

जं सक्कइ तं कीरई जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं॥

अर्थात् **कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सरधा धरैं।** यदि शक्ति है, सामर्थ्य है तो आचरण करो। यदि सामर्थ्य नहीं है तो श्रद्धान तो करना चाहिए, क्योंकि श्रद्धान करने वाला ही जब संयमाचरण का पालन करता है तभी अजर अमर स्थान को प्राप्त करता है। देवगण श्रद्धान तो कर सकते हैं, लेकिन संयम की ओर कदम भी नहीं उठा सकते। तिर्यंच भी उतना कदम नहीं उठा सकते जितना कि मनुष्य, मनुष्य आचरण के क्षेत्र में सबसे आगे बढ़ते हैं। तिर्यंच आचरण के क्षेत्र में कदम आगे बढ़ाते भी हैं तो बाहर से विशेष कुछ देखने में नहीं आते। लेकिन मनुष्य जब कदम रखता है अर्थात् आचरण करता है तो दूसरे लोग भी देखकर कदम आगे बढ़ाने लगते हैं। तिर्यंच देशव्रती बन जाता है तो भी उसका आचरण दिखने में नहीं आता और मनुष्य यदि देशव्रती होता है तो उसका आचरण दृष्टव्य होता है।

जिज्ञासा—शुद्ध जीव रूपी राजा पर श्रद्धान करना आवश्यक क्यों है ?

समाधान—मोक्ष प्राप्ति की भावना से जीव रूपी राजा पर श्रद्धान करना आवश्यक है। मुञ्च् धातु छोड़ने के अर्थ में आती है। अतः ''मोक्तुं इच्छुः मुमुक्षुः'' अर्थात् जो छोड़ने की इच्छा रखता है वह मुमुक्षु कहलाता है। क्या छोड़ा जाता है ? मिथ्यात्व, कषाय, अज्ञान आदि को छोड़ा जाता है। अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए **आचार्य समन्तभद्रस्वामी** ने **बृहत्स्वयंभूस्तोत्र** में लिखा है कि-

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनं।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत्॥

अर्थ—हे भगवन्! लक्ष्मी की विभूति रूप सर्वस्व से युक्त तथा सुदर्शनचक्र रूप चिह्न से सहित समस्त पृथ्वी सम्बन्धी जो आपका साम्राज्य था, वह मोक्ष के इच्छुक होने पर आपके लिए जीर्ण तृण के समान हो गया था।

ज्ञानप्राप्ति में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और उसके साथ वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी आवश्यक होता है। ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त त्याग का भाव आता है। अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का

अभाव होने पर सम्यग्दृष्टि कोई भी कार्य अत्यन्त विश्वास एवं समर्पण के साथ करता है।

जीवराया यह शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जो जानता है वह जीव है। जीव ही जानने के क्षेत्र में सामर्थ्यशाली होता है। पुद्गल आदि द्रव्यों में जानने की सामर्थ्य नहीं होती। समस्त द्रव्यों में जीव को राजा कहने का तात्पर्य भी यही है कि मात्र उसके पास ही जानने-देखने की सामर्थ्य होती है। स्वस्थ व्यक्ति को देखने से स्वस्थता के प्रति आदेय दृष्टि एवं रोग के प्रति हेयदृष्टि आ जाती है। जैसे-जिनदर्शन के प्रभाव से आत्मा में बद्ध निधत्ति, निकाचित जैसे कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। यह कार्य मात्र बिम्ब के दर्शन के निमित्त से नहीं किन्तु उसकी ओर उपयोग की एकाग्रता से होता है। यह चेतन आत्मा की महिमा का प्रभाव है। जिनबिम्ब तो बन्ध और संवर दोनों का कारण हो सकता है। यदि स्वर्णमयी प्रतिमा में राग जाग गया, भाव बिगड़ गये तो बन्ध हो जायेगा, यहाँ तक कि निधत्ति-निकाचितपने का भी बन्ध हो सकता है। लेकिन उसी स्वर्णमयी प्रतिमा की वीतरागता की ओर उपयोग की एकाग्रता से दृष्टि में समीचीनता आ जाये तो, निधत्ति-निकाचित जैसे कर्मों का क्षय हो सकता है। अनादिकाल से जीव के ऐसे संस्कार हैं कि सोने को देखकर मुँह में पानी आ जाता है, जबकि सोने को कभी पानी नहीं आता। रागादि समस्त विकल्पों से रहित उस महिमावन्त जीव रूपी राजा का निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव होता है।

विशेष- आचार्य कहते हैं जहाँ परिग्रह संज्ञा है वहाँ भय संज्ञा भी नियम से होती है। परिग्रह का स्रोत आरम्भ होता है अतः इन दोनों संज्ञाओं से उपरत होने के लिए सर्वप्रथम आरम्भत्याग प्रतिमा का अभ्यास किया जाता है। परिग्रहसंज्ञा से बचने के लिए सर्वप्रथम आरम्भत्याग करके यह संकल्प लेना अनिवार्य होता है कि-''मैं परिग्रह पैदा नहीं करूँगा।'' फिर धीरे-धीरे अपने आप परिग्रह सीमित होकर पूर्ण परिग्रह का त्याग हो जायेगा। फलतः परिग्रहसंज्ञा भी समाप्त हो जायेगी। परिग्रह के संरक्षण में भय के साथ-साथ हिंसानन्द रौद्रध्यान भी होता रहता है, क्योंकि परिग्रह के प्रति राग होना भावहिंसा ही तो है। धर्मध्यान करने के पूर्व रौद्रध्यान कितना हो रहा है, यह अवश्य देखते रहना चाहिए। रौद्रध्यान को कम करने का अर्थ ही है धर्मध्यान की ओर आगे बढ़ना।

जिज्ञासा—निर्विकल्पसमाधि का तात्पर्य क्या है ?

समाधान—शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के विकल्पों से रहित होने का अर्थ है निर्विकल्प समाधि। छठवें-सातवें गुणस्थान तक शुभ विकल्प होते हैं। जैसे-प्रवृत्ति के समय पिच्छी एवं कमण्डलु का विकल्प होना, स्वाध्याय के समय शास्त्र का विकल्प होना, स्तुति, वन्दना के समय जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा के दर्शन का विकल्प होना इत्यादि। लेकिन ध्यान में बैठने के उपरान्त साधक उक्त शुभ विकल्पों से भी रहित हो जाता है। ध्यानस्थ होने के बाद या निर्विकल्प समाधि में लीन होने के उपरान्त पिच्छी एवं कमण्डलु तथा शास्त्र कहाँ रखे हैं, इसका कोई विकल्प नहीं रहता। 'मैं मुनि हूँ' ऐसा भी

विकल्प नहीं उठता। यदि ध्यान में भी मुनिपने का विकल्प रहता है तो वह निर्विकल्पदशा नहीं कहलाती। जिस प्रकार इधर-उधर देखना कोर्स से बाहर की बात होती है। उसी प्रकार ध्यान में मुनि होने का, शास्त्र का, पिच्छी-कमण्डलु का विकल्प होता है, तो वह उसका कोर्स से बाहर का विषय होता है। अतः उस समय निर्विकल्प अवस्था नहीं होती।

दृष्टान्त—जैसे-विद्यार्थी जब पेपर देता है उस समय वह यह नहीं सोचता कि कौन-सी कक्षा का छात्र हूँ। परीक्षा तो परीक्षा होती है, चाहे किसी भी कक्षा की हो। वह पूरे वर्ष पढ़ाई करता है, पढ़ाई तो ३६५ दिन करता है परन्तु पेपर देने के तो मात्र तीन घण्टे ही होते हैं। जो प्रतिभा सम्पन्न छात्र होता है वह शीघ्रता से पेपर हल करता जाता है। तीन घण्टे का समय पता ही नहीं चलता, बल्कि उसे समय कम पड़ जाता है और आप लोगों से उत्कृष्ट सामायिक का कहा जाये तो मन नहीं लगता, पैरों में दर्द होने लगता है, मन एकाग्र नहीं होता। जबकि सामायिक आपके लिए श्रेयस्कर है। विचार करो, गिरि-गुफाओं में कैसे दिन कटते होंगे ? गुफाओं में ध्यान करने वाले मुनिराजों का सुख कैसा होता है ? छहढाला में कहा है—**सो इन्द्र नाग नरेन्द्र व अहमिन्द्र को नाहीं कह्यो।** जैसा सुख उन साधक श्रमणों को होता है वैसा इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्रों को भी नहीं होता। जिस प्रकार व्रती अपने व्रतों की सीमा में बंध जाता है उसे कोई करोड़ों रुपये का भी प्रलोभन दे तो भी वह अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता। उसी प्रकार निर्विकल्पसमाधि वाला साधक भी अपने आप में आत्मसंतोष एवं आत्मतृप्ति को प्राप्त होता है कि बाहर का कोई भी प्रलोभन उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। जो साधक बाह्य वस्तु के प्रलोभन में आ जाता है, कोई भी मानसिक परीषह या शब्दों की चपेट में आ जाता है वह कभी निर्विकल्प नहीं हो सकता। निर्विकल्प समाधि में रहना, यह साधक की परीक्षा का समय माना जाता है। विद्यार्थी की भाँति ३६५ दिन साधना करता है और बीच में जब-जब निर्विकल्पसमाधि का समय आता है उस समय उसका पेपर होता है। जो साधना में दृढ़ होता है वह प्रतिभासम्पन्न छात्र की भाँति अपना पेपर शीघ्रता से, एकाग्रता से हल कर देता है। यहाँ-वहाँ अपना उपयोग चंचल नहीं करते। प्रशंसा या निन्दा के वचन सुनकर भी वे उनसे प्रभावित नहीं होते। बल्कि वे सोचते हैं कि हमारा स्वभाव तो ज्ञानस्वरूप है, इसे ये जानते ही नहीं हैं, इसलिए ये हमारी क्या प्रशंसा करेंगे ? और यदि मेरे स्वरूप को जानते हैं तो ये मेरी क्या निन्दा करेंगे ? क्योंकि मेरा ज्ञान स्वभाव निन्दा का विषय ही नहीं है। इस प्रकार चिन्तन के द्वारा प्रशंसा और निन्दा के विकल्पों को तोड़ देता है। आत्मचिन्तन या आत्मानुभव में इन विकल्पों को स्थान ही नहीं रहता।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जिस प्रकार राजा की सेवा करने वाला धन की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार आत्मद्रव्य की आराधना करने वाला जीव मोक्ष की अपेक्षा रखता है। आत्मद्रव्य के अतिरिक्त यदि अन्य द्रव्य की आराधना करता है तो कर्मों से मुक्ति नहीं हो सकती। फलतः मोक्ष की अपेक्षा की पूर्ति नहीं हो सकती। अनादि से तैजस-कार्मण शरीर का जो सम्बन्ध है वह छूट नहीं

सकेगा। तैजस-कार्मण दोनों शरीर अप्रतिघात होते हैं। इनके ऊपर किसी के द्वारा घात नहीं हो सकता। अतः इन दोनों शरीर से मुक्त होना चाहते हो अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो जीव द्रव्य के स्वभाव की आराधना करो। कायोत्सर्ग करो अर्थात् शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करो। ऐसा करते-करते आत्मस्वभाव की आराधना का पक्ष मजबूत होता जाता है। फलतः मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। पण्डित आशाधर जी ने कहा है कि-**सातवीं प्रतिमा वाला यदि शरीर के प्रति ममत्व रखता है तो मुर्दे का शृंगार कर रहा है, क्योंकि ब्रह्मचारी बनने के उपरान्त शरीर का शृंगार उसी के समान होता है।** सातवीं प्रतिमा लेने के उपरान्त शरीर से राग कम होना चाहिए। जैसे-स्वर्गों में लौकान्तिक देव उदासीन होकर रहते हैं। वैसे ही साधक भी उदासीन होकर शरीर के प्रति ममत्व छोड़कर आत्मतत्त्व की आराधना में लीन रहते हैं। **आराधना के अभाव में अपराध होते हैं।** ''आत्मा की आराधना नहीं करना ही अपराध है।'' तात्पर्य यह है कि हम संसारी आत्माओं को भेदाभेद रत्नत्रयात्मक भावना रूप परमात्म-चिन्तन करना चाहिए वही प्रयोजनीय है अन्य इधर-उधर के शुभाशुभ विकल्प से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार भेदाभेदरत्नत्रय की मुख्यता से दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें कही जाती हैं। सर्वप्रथम जिस जीव को स्वपर-भेदविज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी होता है, यह तो हम समझ गये, किन्तु वह अज्ञानी कब तक रहता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर दे रहे हैं-

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥२२॥

अन्वयार्थ-(जा) जब तक इस आत्मा की **(कम्मे)** कर्म (द्रव्यकर्म भावकर्म) में **(णोकम्मह्मि य)** और शरीरादि नोकर्म में **(अहं)** ''यह मैं हूँ'' **(च)** और **(अहकं)** ''मुझमें **(कम्मणोकम्मं इदि)** कर्म और नोकर्म हैं'' **(एसा खलु बुद्धी)** निश्चय से ऐसी बुद्धि है **(ताव)** तब तक **(अप्पडि-बुद्धो)** वह अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) **(हवदि)** होता है।

अर्थ-जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भावकर्म तथा शरीरादि नोकर्म में ''मैं कर्म नोकर्म हूँ'' और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं' ऐसी प्रतीति होती रहती है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है।

हूँ कर्म देहमय ये मुझसे न न्यारे,
किं वा शरीर मम है, वसु कर्म सारे।
भाई सदैव रटता जड़ मूढ ऐसा,
दीखे उसे परम आतम गूढ़ कैसा ? ॥२२॥

व्याख्या-प्रतिबुद्ध अर्थात् ज्ञानी, इसके विपरीत अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी। जब तक संसार के शरीर आदि समस्त पदार्थों के प्रति अहंकार या ममकार रूप बुद्धि बनी रहती है तब तक वह आत्मा

अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है, किन्तु बाह्य पदार्थों में अहंकार-ममकार बुद्धि हटने पर जब यह आत्मा आत्मनिमग्न हो जाता है तब यह प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) बनता है। इन ज्ञानावरणादि कर्म रूप मैं नहीं हूँ, रागादि रूप मैं नहीं हूँ, इन शरीरादि रूप भी मैं नहीं हूँ और ये तीनों मेरे नहीं हैं। यह कथन अत्यन्त रहस्य पूर्ण है। हालाँकि ज्ञानी को ऐसे ही स्वरूप की प्रतीति होती है, लेकिन मनुष्यगति नामकर्म के उदय से अपने आपको मनुष्य रूप महसूस करना, देवगति आदि नामकर्म के उदय से उस-उस रूप महसूस करना इत्यादि रूप प्रतीति क्यों होती है ? पुरुष को पुरुष रूप, स्त्री को स्त्री रूप प्रतीति क्यों होती है? पुरुष अपने को पुरुष रूप मानकर ''मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ'' इत्यादि प्रकार भाषा का प्रयोग करता है। कोई स्त्री है तो ''मैं खाती हूँ, मैं जाती हूँ'' इत्यादि प्रकार से भाषा का प्रयोग करती है। ऐसा क्यों होता है ? क्या ऊपर-ऊपर बोलता है ? क्या बिना प्रतीति के बोलता है ? अज्ञान या दर्शनमोह के कारण बोलता है ? नहीं, यह सब कर्म के उदय में संवेदन होता है, इसे टाला नहीं जा सकता। जीवविपाकी कर्म के उदय में ऐसी ही प्रतीति होती है लेकिन ज्ञानी जीव इन सभी को अपना स्वरूप नहीं समझता। ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थान में भी औदयिकभाव है कि नहीं ? लेकिन वहाँ कषाय का अभाव है, मोहनीयकर्म की सत्ता भी नहीं है, क्योंकि उसका क्षय हो चुका, फिर भी वहाँ औदयिक भाव किमात्मक होता है ? चूँकि वहाँ वेदकर्म का उदय नहीं है, इसलिए जैसी वेदकर्म के उदय में प्रतीति होती है वैसी वहाँ नहीं होती, यह तो निश्चित है, बस इतना ही कह सकते हैं। वैसे भी निर्विकल्पसमाधि के समय ये सभी औदयिक भावों की प्रतीतियाँ गौण हो जाती हैं। लेकिन भेदविज्ञान के अभाव में कर्म-नोकर्म के साथ शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव निज परमात्मा की एकता रूप स्पष्ट बुद्धि बनी रहती है। इस प्रकार की बुद्धि अप्रतिबुद्धि कहलाती है। पुरुष या स्त्री रूप प्रतीति में वेद कर्म के उदय के साथ-साथ अंगोपांग नामकर्म का उदय भी कार्य करता है। वैज्ञानिक एकेन्द्रियों में नर, मादा दोनों को मानते हैं तथा जो द्रव्य से स्त्री है वह पुरुष और द्रव्य से जो पुरुष है वह स्त्री हो जाती है, इसे स्वीकारते हैं। लेकिन कर्मसिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। निर्विकल्प समाधि में लीन होने पर स्त्री-पुरुष सम्बन्धी कर्म नोकर्म आदि गौण हो जाते हैं। उस समय बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता।

दृष्टान्त—जिस प्रकार एयरकण्डीशन रूम होता है उस पर बाह्य वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि में लीन साधक श्रमणों का उपयोग बाह्य पदार्थों से प्रभावित नहीं होता। यह सबसे महत्त्वपूर्ण है, परन्तु संसारी प्राणी के लिए टेढ़ी खीर है।

बाह्य पदार्थों को रागद्वेष मूलक विषय बनाना बहिरात्मा का लक्षण है। रागद्वेष से रहित बाह्य पदार्थों को देखना अन्तरात्मा का लक्षण है। द्रव्यश्रुतकेवली भी जब बाह्य पदार्थों को जानते हैं तब स्व को नहीं जानते। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ के टीकाकार **आचार्य जयसेन स्वामी** जी ने लिखा है कि-**अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहणं** अर्थात् इस ग्रन्थ में वास्तव में तो

वीतराग सम्यग्दृष्टि को ग्रहण किया है चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सराग सम्यग्दृष्टि को गौण रूप से ग्रहण किया है। जो वीतराग सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प समाधि सम्पन्न हैं वे जब तक बाह्य पदार्थ विषयक शुभाशुभ विकल्पों से रहित होते हैं, तब तक ज्ञानी हैं या प्रतिबुद्ध हैं, लेकिन जैसे ही अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त निर्विकल्प समाधि की अवस्था से च्युत होते हैं तब वे अप्रतिबुद्ध हैं, अज्ञानी हैं या बहिरात्मा हैं।

जिज्ञासा—क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बहिरात्मा कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह प्रश्न होना स्वाभाविक है क्योंकि सर्वत्र मिथ्यादृष्टि को बहिरात्मा संज्ञा दी गई है। लेकिन यहाँ सम्यग्दृष्टि को भी अज्ञानी या बहिरात्मा क्यों कहा ? अभी-अभी ऊपर कहा जा चुका है कि **जो बाह्य पदार्थों को रागद्वेष मूलक विषय बनाता है वह बहिरात्मा है।** इस लक्षण के अनुसार सम्यग्दृष्टि भी जब बाह्य पदार्थों को रागद्वेष के साथ जानता है, तो वह बहिरात्मा सिद्ध होता है। इस विषय को निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट समझ सकते हैं। दृष्टान्तों के द्वारा विषय अत्यन्त सुगम हो जाता है अतः आचार्य स्वयं दृष्टान्त शैली का प्रयोग करते हैं।

दृष्टान्त—दो विद्यार्थी हैं। एक एम॰ ए॰ का और दूसरा बी॰ ए॰ का। दोनों ने अपना-अपना अध्ययन किया। परीक्षा का समय आया, परीक्षा दी। पश्चात् परिणाम आया। परिणाम यह आया कि एम॰ ए॰ वाला विद्यार्थी फेल हो गया और दूसरा बी॰ ए॰ में उत्तम श्रेणी से पास हुआ है। दोनों में देखें तो निचली अवस्था पास और ऊपरी दशा फेल है। बी॰ ए॰ में पास होने वाला एम॰ ए॰ में अनुत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी से कहता है कि आपसे तो अच्छा मैं हूँ, आप फेल हो गए, हम तो उत्तम श्रेणी में पास हुए हैं। अतः यदि वह कहता है कि जब तक शिक्षक नहीं आते तब तक आप मेरे अंडर में रहोगे। उसका ऐसा कहना उचित नहीं है। एम॰ ए॰ वाला विद्यार्थी कहता है कि-मैं अपनी कक्षा में एक-दो नम्बर से फेल हूँ, तुम्हारी कक्षा की अपेक्षा से फेल नहीं हूँ। अतः बी॰ ए॰ में पास होने वाला एम॰ ए॰ में फेल होने वाले विद्यार्थी की अपेक्षा बड़ा नहीं माना जायेगा।

आज तक का रिकार्ड है कि तीर्थंकर भी क्यों न हों, निर्विकल्प समाधि में लीन होने के अन्तर्मुहूर्त बाद वे भी उससे निम्न सविकल्प अवस्था को प्राप्त होते हैं। भले ही वे अप्रतिबुद्ध हैं, फिर भी वे अविरत क्षायिकसम्यग्दृष्टि से तो ऊपर की अवस्था वाले माने जायेंगे क्योंकि वे पुनः बार-बार निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करते हैं चूँकि निर्विकल्प अवस्था से च्युत होना अप्रतिबुद्धता का लक्षण है, अतः वे अप्रतिबुद्ध माने जाते हैं। उनकी मिथ्यादृष्टि के समान अप्रतिबुद्धता या बहिरात्मपना अथवा अज्ञानदशा नहीं मानी जायेगी। जैसा लक्षण बनाया है, उसकी विवक्षा में ही वे अप्रतिबुद्ध हैं।

समयसार ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा है कि-अबुद्धिपूर्वक जो हो रहा है उसे होने दो, लेकिन बुद्धिपूर्वक जो कार्य किया जा रहा है उसे छोड़ो। तभी कृतकृत्य अवस्था प्राप्त करने योग्य साधना सफल हो सकेगी।

जिज्ञासा—कर्मों के उदय में जो हो रहा है वह तो होगा, अत: उसमें क्या पुरुषार्थ करना ?

समाधान—औदयिकभाव के साथ भी पुरुषार्थ होता है। जैसे मिथ्यात्व का उदय है फिर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भूमिका रूप पाँच लब्धियाँ और अध:करणादि परिणाम वहीं पर होते हैं। उन्हीं परिणामों के बल पर मिथ्यात्व का औदयिकभाव, औपशमिक या क्षायोपशमिक भाव रूप हो जाता है। यही तो पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ मात्र काल या कर्म पर आधारित नहीं है। इन दोनों के साथ बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ भी आपेक्षित होता है। तभी कार्य सफल होता है।

जो व्यक्ति दर्पण के समान अविकार रहकर बुद्धिपूर्वक शुभाशुभ विकल्प नहीं करता वही प्रतिबुद्ध हो सकता है। स्वयं को देखने का भी पुरुषार्थ होता है। संयम की ओर उपयोग नहीं होने से तथा आत्मस्वभाव का ज्ञान नहीं होने से विकल्प करने की स्थिति बनती है। मुनियों के मात्र संज्वलन कषाय का उदय होता है। उसका उदय होते हुए भी वे उससे प्रभावित नहीं होते, बल्कि आत्मपुरुषार्थ से उसे प्रभावित कर देते हैं। जैसे–सर्कस आदि में छोटे बच्चे दूसरों को हँसा देते हैं, पर स्वयं नहीं हँसते। उसी प्रकार मोक्षमार्ग में प्रवेश होने पर यदि हम गम्भीर हो जाते हैं तो प्रभाव नहीं पड़ेगा क्या ? कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा पुरुषार्थ कर्मों को परिवर्तित कर देता है। प्रशिक्षण के माध्यम से जैसे छोटे बच्चे बड़ों को हँसा देते हैं, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में छोटे–छोटे मुनिराज भी बड़े–बड़े कर्म करके तपस्या, साधना करके विस्मित कर देते हैं। इस प्रकार आत्मा अप्रतिबुद्ध कब तक माना जाता है, इसका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—जब इस जीव की शुद्ध जीव में रागादि रहित परिणति होती है तब मोक्ष होता है और जब अजीवरूप देहादिक में रागादि सहित परिणति होती है तब बंध होता है। यह कहते हैं–

जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥२३॥

अन्वयार्थ—(संपदि समयम्हि) जिस समय में **(अजीवे व जीवे वा)** अजीव में या जीव में **(जत्थ उवजुत्तो)** जहाँ उपयुक्त रहता हैं **(तत्थेव)** वही **(बंध मोक्खो)** बंध, मोक्ष **(हवदि)** होता है, ऐसा **(समासेण)** संक्षेप से (कथन) **(णिद्दिट्ठो)** निर्दिष्ट किया है।

अर्थ—जीव तथा अजीव देहादिक में जिस समय यह आत्मा उपयुक्त रहता है तभी मोक्ष तथा बन्ध होता है ऐसा कथन संक्षेप से श्रीसर्वज्ञदेव ने किया है।

साम्याभिभूत बन आतमलीन होना,
पा मोक्ष ईश बनना, बनना सलौना।
स्वच्छन्द हो विषय में मन को लगाना,
है कर्मबन्ध गहना, प्रभु का बताना ॥२३॥

व्याख्या—स्वभाव का आश्रय लेने वाले जीव के रागद्वेष नहीं होते। रागद्वेष नहीं होने से बन्ध

नहीं होता, किन्तु संवर और निर्जरा होती है। संवर-निर्जरा होने से मोक्ष होता है। विभाव का आश्रय लेने से तथा अजीव का आश्रय लेने से रागद्वेष होते हैं। ध्यान दें, अजीव मात्र का आश्रय बन्ध का कारण नहीं, किन्तु अजीव में भी विभाव का आश्रय बन्ध का कारण होता है। द्रव्य कोई भी हो उसके स्वभाव का आश्रय रागद्वेष या बन्ध का कारण नहीं होता अतः किसी भी द्रव्य के स्वभाव का आश्रय लेना चाहिए। जैसे–परमाणु को विषय बनाने पर उसमें पाये जाने वाले रूप, रस, गन्ध, वर्ण आपके उपयोग को प्रभावित नहीं कर सकते। अतः स्वभाव का आधार लेने वाला रागद्वेष कर ही नहीं सकता। रागद्वेष जहाँ हो रहा है वहाँ स्वभाव का आश्रय नहीं लिया जा रहा है, ऐसा समझना चाहिए। यही बन्ध-मोक्ष का संक्षिप्त वर्णन समझना चाहिए। देह के आश्रय से बन्ध और शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्ष होता है। दर्पण कभी भले-बुरे को भला-बुरा नहीं कहता, इसी तरह साधक वीतरागी श्रमण किसी वस्तु में रागद्वेष नहीं करते। वे दर्पण की भाँति निर्विकार रहते हैं। स्व पदार्थ (आत्मा) में उपयोग एकाग्र होने से मोक्ष और पर-पदार्थ में उपयोग लगने से बन्ध होता है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। कर्म सापेक्ष आत्मतत्त्व में भी उपयोग लगने से बन्ध होता है। वाक्यरचना लेखनी के द्वारा होती है लेकिन उस वाक्यरचना का ज्ञान होने के लिए तत्सम्बन्धी क्षयोपशम होना अनिवार्य होता है। उसी प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्सम्बन्धी क्षयोपशम होना अनिवार्य होता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान जब शुद्धात्मा को अपना ज्ञेय और ध्येय बनाता है तभी मुक्ति की ओर विकसित होता है। अन्यथा बन्ध की प्रक्रिया चालू रहती है। पर द्रव्य रागद्वेष का कारण होता है। रागद्वेष बन्ध का कारण होता है। अशुद्धनिश्चयनय से जीव रागद्वेषादि भावकर्मों का कर्त्ता होता है। शुद्धनिश्चयनय से एकत्व-विभक्त निर्विकल्प शुद्धात्मतत्त्व सम्बन्धी शुद्धभावों का कर्ता होता है। जो कि मोक्ष का कारण होता है। वर्तमान में जीव जिन भावों का कर्त्ता होता है उन्हीं का भोक्ता होता है। रागद्वेष करने वाला कभी भी मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकता। **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने भी लिखा है कि **उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं।** रागद्वेष भाव आत्मा में नवनीत की तरह ऊपर तैरते हैं, ऐसा जो कहते हैं उन्हें विचार करना चाहिए कि नवनीत भी पूर्णरूपेण ऊपर-ऊपर नहीं तैरता, वह भी आधा अन्दर रहता है, आधा बाहर। रागद्वेष भाव आत्मा में सर्वत्र व्याप्त हैं। वैभाविक परिणति भी द्रव्य में ही होती है, इतना अवश्य है कि वह त्रैकालिक नहीं होती।

दृष्टान्त—जैसे शैवाल/काई चातुर्मास में ही उत्पन्न होती है। जल सूख जाने पर काई भी समाप्त हो जाती है। जल में उत्पन्न होने से उसे शैवाल कहते हैं। यह शैवाल मिट्टी में उत्पन्न नहीं होती। उसी प्रकार रागद्वेष रूपी शैवाल आत्मा में ही उत्पन्न होती है। रागद्वेष परिणाम परद्रव्य में उत्पन्न नहीं होते किन्तु परद्रव्य के कारण उत्पन्न होते हैं। कौन से जल में काई उत्पन्न होती है ? स्वच्छ जल में नहीं, किन्तु विकृत जल में काई उत्पन्न होती है। आकाश के स्वच्छ जल में कभी भी काई उत्पन्न नहीं होती। उसी प्रकार आकाश के स्वच्छ जल की भाँति शुद्धात्मा में कभी भी रागद्वेष रूपी शैवाल उत्पन्न नहीं होता,

किन्तु कर्ममलिन विभाव परिणमन गत अशुद्ध आत्मा में रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। विकृतजल वास्तविक जल नहीं, किन्तु वैभाविक जल का मल है। इसी प्रकार आत्मा का वैभाविक परिणमन आत्मा का शुद्ध उपयोग नहीं किन्तु उपयोग का मल है, अर्थात् आत्मा की विभाव परिणति है। **शुद्धबोध के अभाव में बुद्धि मोहित हो जाती है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने एक अमृतकलश में ठीक ही लिखा है कि–

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः॥

अर्थात् प्रमत्त बनकर जो रागद्वेषादि भाव नहीं करते वे ही तीन लोक में तैरते हैं। अन्यथा भवसागर में डूब जाते हैं। राग करते जाओ और रागभाव का कर्त्ता पुद्‌गल द्रव्य को मानते जाओ, यह जैन आगम का अपलाप है। समय-समय पर आचार्यों ने हमारी सुषुप्त चेतना को सावधान किया है। जागृत किया है। फिर भी अपनी रट नहीं छोड़ते, यह मोह का प्रभाव है। मोहनीयकर्म के उदय से आत्मा में रागद्वेषादि संयोगज भाव होते हैं। इनके द्वारा बन्ध होता है। इससे विपरीत रागद्वेषादि रहित भावों से मोक्ष होता है। इस प्रकार बन्ध और मोक्ष कैसे होता है ? इसका संक्षिप्त व्याख्यान किया। आगे जीव का कर्त्तापना बताते हैं।

उत्थानिका–आगे अशुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा रागादि भावकर्मों का कर्त्ता है और अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है, ऐसा बतलाते हैं–

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥२४॥

अन्वयार्थ–(णिच्छयदो) निश्चय से **(आदा)** आत्मा **(जं भावं कुणदि)** जो भाव करता है **(सो तस्स भावस्स)** वह उन भावों का **(कत्ता होदि)** कर्ता होता है। और **(ववहारा)** व्यवहार से **(पोग्गलकम्माण)** पुद्‌गल कर्मों का **(कत्तारं)** कर्ता (होता है)

अर्थ–निश्चयनय से आत्मा जिस समय जैसे शुद्ध या अशुद्ध भावों को उपजाता है उस समय उस भाव का कर्त्ता होता है और व्यवहारनय से वह पुद्‌गल कर्मों का कर्त्ता होता है।

आत्मा अशुद्धनय से हि विभाव कर्त्ता,
होता विशुद्धनय से शुचि भाव कर्त्ता।
मोहाभिभूत विविधों विधि-बन्धनों का,
कर्त्ता अवश्य व्यवहारतया जड़ों का ॥२४॥

व्याख्या–आत्मा जिस समय जिस भाव रूप परिणमन करता है उस समय वह उसी रूप का कर्त्ता माना जाता है। जिस समय रागद्वेष रूप परिणमन करता है, उस समय रागद्वेषादि भावों का कर्त्ता माना जाता है। रागद्वेषादि भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं। लेकिन पुद्‌गल द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होते

हैं अतः वे नैमित्तिक माने जाते हैं। भाव करने की क्रिया १३ वें गुणस्थान तक होती है। चूँकि१३ वें गुणस्थान तक आस्रव होता है इसलिए वहाँ आस्रव के कारणभूत भावों का अस्तित्व भी मानना पड़ेगा। १४ वें गुणस्थान में आस्रव के कारणभूत भाव नहीं हैं अतः वहाँ आस्रव भी नहीं है।

जिज्ञासा—चौदहवें गुणस्थान में जीव किन भावों का कर्त्ता होता है ?

समाधान—वैसे तो चौदहवें गुणस्थान में जीव आस्रव-बन्ध के कारणभूत परिणामों का कर्त्ता नहीं होता। इस दृष्टि से उन्हें भावातीत कह सकते हैं लेकिन आचार्यों ने ध्यान को अशुद्ध पारिणामिक भाव माना है क्योंकि यह चतुर्थ शुक्लध्यान किसी कर्म के उदय से नहीं होता। अतः १४ वें गुणस्थान में जीव परमशुद्ध पारिणामिक भाव के कारणस्वरूप भावों का कर्त्ता होता है।

जो जिसका कर्त्ता होता है वही उसका भोक्ता होता है। चौदहवें गुणस्थान में जीव शुद्ध पारिणामिक भावों के कारणभूत ध्यान भाव का कर्त्ता होता है तो वही ध्यान के फलस्वरूप मोक्ष का भोक्ता भी होता है। व्यवहारनय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता होता है, चूँकि उनका कर्त्ता है अतः उनके फलों का भोक्ता भी होता है। यह नियत है। जैसे–आँख रूप को, नासिका गन्ध को, कर्ण शब्दों को विषय बनाते हैं, यह नियत है। वैसे ही उक्त सिद्धान्त भी नियत है। यदि व्यवहारनय से जीव को पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता नहीं स्वीकारेंगे तो संसारदशा में कर्म वर्गणायें कभी कर्मरूप में परिणत ही नहीं होंगी, क्योंकि जीव के रागद्वेष परिणामों के निमित्त से कर्म-वर्गणायें कर्म रूप परिणत होती हैं। जब तक जीव रागद्वेष रूप परिणत होता है, तब तक कर्म वर्गणायें कर्मरूप होकर बंधती हैं, इसीलिए जीव को पुद्गल कर्मों का कर्त्ता कहा गया है।

जिज्ञासा—जीव में रागद्वेष किस प्रकार हैं ?

समाधान—जैसे समुद्र में लहरें होती हैं वैसे जीव में रागद्वेष होते हैं। समुद्र लहरों के बिना रह सकता है। परन्तु लहरें समुद्र के बिना नहीं रह सकतीं। सरोवर काई के बिना रह सकता है लेकिन काई सरोवर के बिना नहीं रह सकती। उसी प्रकार जीव रागद्वेष के बिना पाया जा सकता है लेकिन रागद्वेष जीव के बिना नहीं पाए जा सकते। काई का होना जल का स्वभाव नहीं, लेकिन जब भी काई उत्पन्न होगी तो पानी में ही। उसी प्रकार रागद्वेष जीव का स्वभाव नहीं, लेकिन जब भी रागद्वेष होंगे तो जीव में ही होंगे। जैसे–शैवाल ऊपर-ऊपर दिखता है वैसे जीव में रागद्वेष आत्मा में ऊपर-ऊपर होते हों ऐसा नहीं समझना चाहिए। नीचे सतह में निर्विकल्प समाधि और ऊपर-ऊपर रागद्वेषादि हैं, ऐसा नहीं है। ऊपर अशुद्ध निश्चयनय और भीतर शुद्धनिश्चयनय का विषय हो, ऐसा है क्या ? नहीं, क्योंकि सर्व आत्मप्रदेशों में एक समान परिणमन होता है। बन्ध होता है तो सर्व आत्मप्रदेशों में और मोक्ष होगा तो भी सर्व आत्मप्रदेशों में। यदि सर्व आत्मप्रदेशों में बन्ध को स्वीकार नहीं करेंगे तो जहाँ बन्ध नहीं है वहाँ मोक्ष मानना पड़ेगा। फिर कुछ प्रदेशों में राग और कुछ प्रदेशों में वीतराग की अवस्था भी स्वीकार

करना पड़ेगी। जबकि ऐसा है ही नहीं। तो वैसा स्वीकार करने का प्रश्न भी नहीं उठता। **आचार्य उमास्वामी** जी महाराज ने स्वयं **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रन्थ के आठवें अध्याय के एक सूत्र में उक्त विषय को स्पष्ट किया है–

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः
सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः॥ ८/२४॥

अर्थात् योगविशेष से एकक्षेत्र में स्थित नाम के अनुसार समस्त आत्मप्रदेशों में बन्ध होता है। तपे हुए लोहे के गोले में पानी के समान समस्त आत्मप्रदेशों में कर्म वर्गणायें बन्ध को प्राप्त होती हैं।

एकान्त से यदि रागद्वेषादि भावों का कर्त्ता पुद्गल को मानेंगे तो तो सांख्यमत और जैनमत एक समान हो जायेगा, क्योंकि सांख्य यह मानते हैं कि रागद्वेष प्रकृति में होते हैं पुरुष (आत्मा) तो पूर्ण शुद्ध है। मोक्षार्थी हमेशा रागद्वेष का कर्त्ता कौन है, इसका निर्णय करके उनसे मुक्त होने का प्रयास करता है। मोक्षार्थी हमेशा रागद्वेष रूप संसार से भयभीत रहता है। कर्मसिद्धान्त का ज्ञान होने से भी श्रद्धान मजबूत होता है।

जिज्ञासा—अनन्तानुबन्धी के उदय में ज्ञान कैसा होता है ?

समाधान—अनन्तानुबन्धी कषाय एक्स्ट्रा आर्डनरी है। वह द्विमुखी है। चारित्र और सम्यक्त्व दोनों का घात करती है। सम्यक्त्व का घात होने से ज्ञान की समीचीनता भी नहीं रहती अर्थात् ज्ञान भी मिथ्या रूप होता है। उपशम सम्यग्दर्शन के काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली काल शेष रहने पर यह अनन्तानुबन्धी कषाय जब धावा बोल देती है अर्थात् उस काल में जब उदय में आती है तब द्वितीय गुणस्थान होता है। उस गुणस्थान में भले ही मिथ्यात्व का उदय नहीं होता फिर भी मिथ्याज्ञान को घोषित किया है। जो कि अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का परिणाम होता है। मिथ्याज्ञान है तो मिथ्यादर्शन भी मानना पड़ेगा। हाँ, मानना ही पड़ेगा, क्योंकि वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन की घातक है। गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में मिथ्यात्व के समान ही अनन्तानुबन्धी को भी मिथ्या रूप स्वीकार किया है। आत्मा का असद् श्रद्धान करने रूप शक्ति अनन्तानुबन्धी कषाय में है ही नहीं। ऐसी घोषणा करने की जल्दी मत करो, क्योंकि तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धान कराने की क्षमता मात्र मिथ्यात्व में ही नहीं किन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय में भी होती है। अनन्तानुबन्धी कषाय के द्वारा मिथ्यात्व और अविरत दोनों भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के अभाव में अनन्तानुबन्धी का प्रयोग राजा के अभाव में सेनापति के कार्य की तरह होता है।

दर्शनमोहनीय के उदयाभाव में भी कुछ ऐसे भाव होते हैं जैसे, मैं चक्रवर्ती हूँ, ऐसा चक्रवर्ती मानता है यह मिथ्यात्व जैसा विपरीत भाव नहीं है, लेकिन रागभाव, अहंकार भाव आ जाता है।

जिज्ञासा—यह चक्रवर्तित्व भाव व्यवहारनय का विषय है क्या ?

समाधान—संसारी प्राणी यह संज्ञा ही व्यवहारनय से है, अतः चक्रवर्तित्व भाव भी व्यवहारनय से है। पर-सापेक्ष समस्त भाव जीव के व्यवहारनय से होते हैं। कथंचित् क्षायिकभाव भी व्यवहारनय का विषय बनता है, क्योंकि वह भी कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में आया है कि–तीर्थंकर, चक्रवर्ती और अर्धचक्री आदि विशेष पद माने जाते हैं। यह पूर्वभव में किए गए भावों का परिपाक होता है। जैसे–पूर्वभव में मनुष्यायु का बन्ध किया, वर्तमान में मनुष्यायु की उदीरणा होने पर ''मैं मनुष्य हूँ'' यह भाव उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार कोई पूर्वकृत भावों के विपाक स्वरूप चक्रवर्ती बना तो ''मैं चक्रवर्ती हूँ'' यह भाव उत्पन्न होता है। अप्रत्याख्यान कषाय के उदय में इस प्रकार के भाव होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ''मैं चक्रवर्ती हूँ'' यह दर्शनमोहनीय के कारण नहीं किन्तु मोहनीय मात्र का यह प्रत्यय ''मैं चक्रवर्ती हूँ'' यह भाव उत्पन्न कराता है।

कोई मुनिराज क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं, उनका निर्विकल्प समाधि रूप ध्यान टूटा। उनके समक्ष कोई दर्शनार्थी दर्शन करता है और कहता है कि–महाराज! आशीर्वाद दीजिए। मुझे थोड़ा आँख उठाकर तो देख लीजिए तब तीर्थंकर को छोड़कर वे मुनिराज भी भीतर भावों से 'समाधिरस्तु' रूप आशीर्वाद देते हैं। आशीर्वाद देते समय क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज के कौन से भाव होते हैं ? स्वयं को मुनि समझकर सामने वाले का कल्याण हो यह भाव होता है।

जिज्ञासा—इस प्रकार के भाव से सामने वाले का कल्याण हो जायेगा क्या ? भगवान् क्यों नहीं करते ऐसा भाव ? मुनिराज ही क्यों करते हैं ?

समाधान—मुनि के दूसरों के प्रति कल्याण के भाव से सामने वाले का कल्याण हो ही जाये यह तो नियामक नहीं है लेकिन दूसरों के कल्याण का भाव करने वालों के कल्याण का मार्ग तो प्रशस्त हो ही सकता है। दूसरी बात, मुनिराज जब निर्विकल्प समाधि से बाहर रहते हैं तभी कल्याण की भावना से किसी को आशीर्वाद देते हैं। निर्विकल्पसमाधिस्थ मुनिराज चूँकि प्रवृत्ति नहीं करते अतः तथास्तु रूप आशीर्वाद देने की क्रिया नहीं करते। आशीर्वाद देना अर्थात् प्रमाद के सम्मुख होना है। इन भावों के साथ वे श्रमण अपने आपको श्रमण यानि दिगम्बर मुनि मानते हैं कि नहीं ? मानते हैं, अतः आशीर्वाद देना एक प्रकार से उनका कर्त्तव्य है किन्तु निर्विकल्पसमाधि में स्थित मुनि की यह स्थिति नहीं रहती। सामने वाले का कल्याण तो अपने उपादान से होगा परन्तु परकल्याण की सद्भावना तो होती है और होनी ही चाहिए। लोककल्याण की भावना से तीर्थंकर प्रकृति का भी बन्ध हो सकता है फिर केवली भगवान् बनकर वे भी उपदेश देते हैं। तीर्थंकर भगवान् की तो दिव्यदेशना होना नियोग ही है।

दृष्टान्त—निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से वस्तु स्वरूप को जानने का प्रयास होना चाहिए। निश्चयनय से आत्मा की चक्रवर्ती, तीर्थंकर, बलदेव आदि कोई भी संज्ञा स्वीकार्य नहीं हैं लेकिन व्यवहारनय से स्वीकार है। जब व्यवहारनय की विवक्षा में दिगम्बर मुनियों को ''मैं श्रमण हूँ''

ऐसा भाव आ सकता है तो चक्रवर्ती को ''मैं चक्रवर्ती हूँ'' ऐसा भाव आ जाये तो इसमें क्या आश्चर्य। यह व्यवहार कथन है। समझने के लिए दीपक जलता है या तेल ? जलते-जलते समाप्त कौन होता है ? तेल समाप्त होता है। अतः तेल जलता है और प्रकाश देता है किन्तु कहने में यही आता है कि दीपक जलता है। यह जनपद सत्य है जो व्यवहारनय से सत्य रूप स्वीकार किया जाता है। दूसरा उदाहरण भी है-जैसे लट्टू (बल्ब) के अभाव में भी करण्ट प्रवाहित होता है या नहीं ? होता है, लेकिन बिना लट्टू के प्रकाश देखने में नहीं आता, स्पर्श में तो आ सकता है। लट्टू में प्रकाश करने की क्षमता नहीं है वह तो करण्ट में ही है, फिर भी करण्ट के कनेक्शन से वह स्वयं प्रकाशित होकर प्रकाश करता है। कहने में यही आता है कि ट्यूब या बल्ब से प्रकाश होता है। जबकि प्रकाश करने की क्षमता करण्ट में ही होती है। बल्ब या ट्यूब तो प्रकाश में निमित्त होता है। इसी प्रकार ध्वनि या शब्द आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता। लेकिन भावों का स्पष्टीकरण करने के लिए शब्द वर्गणाओं का आधार लिए बिना विचारों की प्रस्तुति नहीं हो सकती। भगवान् की देशना को दिव्यध्वनि कहते हैं। भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी भी संसारी प्राणी के वचनों को दिव्यध्वनि नहीं कहा जाता। दिव्यध्वनि में भी शब्दवर्गणाओं का आलम्बन होता है। शब्द वर्गणाओं का आधार लिए बिना व्याख्यान नहीं हो सकता। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के आश्रय से वस्तुतत्त्व का समीचीन ज्ञान होता है।

उपसंहार- कितनी गहरी बात कही जा रही है। आगे इसी ग्रन्थ में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** कहेंगे कि-**णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं** आत्मा के अतिरिक्त कर्म, नोकर्म आदि ज्ञेयभूत पदार्थ को विषय बनाना भी एक प्रकार से मुनियों को उपयुक्त नहीं है। वह भी विकल्पात्मक स्थिति होने से बन्ध का कारण हो सकती है। रागद्वेष आत्मा में हैं या नहीं ? यदि आत्मा में नहीं मानेंगे तो किसमें हैं ? धर्मादि चार द्रव्य तो शुद्ध हैं, उसमें तो हो ही नहीं सकते। मात्र पुद्गल द्रव्य शेष रह गया। यदि पुद्गल में रागद्वेष मानेंगे तो पुद्गल ही रागी हो जायेगा। पुद्गल के ही बन्ध होगा और पुद्गल को ही मोक्ष होगा। फिर पुद्गल का ही निर्वाण दिवस मनाया जायेगा। लेकिन ऐसा है ही नहीं। अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि रागद्वेषादि वैभाविक परिणामों का कर्त्ता जीव है। जीव में ही रागद्वेष भाव होते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि जीव में रागद्वेष की उत्पत्ति पौद्गलिक मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से होती है। उपादान कर्त्ता तो जीव का अशुद्ध परिणमन रूप उपयोग ही है। इन वैभाविक परिणामों को अपना स्वरूप मानना, उनको अपनाना ही अप्रतिबुद्धपना है। मिथ्यात्व के दो अर्थ होते हैं-एक अर्थ है विपरीत मानना और विपरीत जानना। दूसरा अर्थ है-अपने स्वभाव से च्युत हो जाना। यहाँ अज्ञान या मिथ्या कहने से प्रथम गुणस्थान को ही ग्रहण करना उचित नहीं है, किन्तु स्वभाव से अन्यथा रूप हो जाना भी विभाव या अज्ञान है। ऐसा क्यों होता है ? कर्म के कारण। लेकिन यह मात्र दर्शनमोहनीय के उदय से नहीं, किन्तु सामान्य मोहनीय कर्म के उदय से होता है, ऐसा आगे कहेंगे।

यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि जिन रागादिभावों का कर्त्ता जीव को कहा गया है वे रागादि भाव संसार

के कारण हैं, इसलिए संसार से भयभीत तथा मोक्ष के इच्छुक पुरुष को समस्त प्रकार के रागादि विभाव भावों से रहित और शुद्धद्रव्य तथा गुण पर्याय स्वरूप निज परमात्मा में भावना करना चाहिए।

इस प्रकार स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीयस्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कोई भोला प्राणी, अग्नि ही ईंधन है, ईंधन ही अग्नि है, अग्नि ही पहले ईंधन था और ईंधन ही पहले अग्नि थी, आगे भी अग्नि ही ईंधन होगा और ईंधन ही अग्नि होगी, इस प्रकार कहा करता है। वैसे ही जो सदा देह रागादि रूप परद्रव्यों को अपनी आत्मा में जोड़ता है, वह अप्रतिबुद्ध बहिरात्मा अर्थात् बाह्यदृष्टि वाला मिथ्याज्ञानी होता है–

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२५॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि।
होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ॥२६॥
एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२७॥

(त्रिकलम्)

अन्वयार्थ—(अण्णं जं परदव्वं) जो पुरुष अपने से अन्य पर द्रव्य **(सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा)** सचित्त (स्त्रीपुत्रादिक) अचित्त धन-धान्य आदि मिश्र (ग्राम नगरादिक) उन्हें यह समझता है कि **(अहं एदं)** मैं यह हूँ **(एदं अहं)** यह द्रव्य मुझ स्वरूप है **(अहमेदस्सेव)** मैं इसका **(होमि)** हूँ **(एदं मम)** यह मेरा है।

(एदं मम पुव्वं आसि) यह मेरा पहले था **(च एदं अहं अवि पुव्व कालाम्हि)** और मैं भी पूर्व में इसका था [यहाँ यह पाठ अंतर भी है] **(पुणोवि मज्झं)** यह मेरा फिर **(होहिदि)** भविष्य में होगा **(चावि)** और भी **(एदं अहं)** मैं इसका **(होस्सामि)** भविष्य में होऊँगा।

(एवं तु असंभूदं) ऐसा झूठा **(आदवियप्पं)** आत्म विकल्प **(करेदि)** करता है वह **(संमूढो)** मूढ़/मूर्ख है। अज्ञानी है **(दु)** और जो पुरुष **(तं)** उस **(भूदत्थं)** भूतार्थ को/निश्चय नय को **(जाणंतो)** जानता हुआ **(ण करेदि)** नहीं करता वह **(असंमूढो)** मूढ़ नहीं ज्ञानी है।

अर्थ—आत्मा अपने आपसे भिन्न सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त मुकुट-कुण्डलादिक और मिश्र आभरण सहित स्त्री आदि इन वस्तुओं में, मैं सो यह है, यह सो मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे पहले थे, मैं पहले इनका था, आगे भी ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा, इस प्रकार का संयोगात्मक विकल्प करता है, वह मूढ़ अर्थात् मोहभाव का धारक होता है, किन्तु जो मोहरहित अर्थात् संयत होता है वह भूतार्थ (निश्चयनयात्मक) आत्मस्वरूप को अनुभव करता हुआ इन सब विकल्पों से दूर रहता है।

जो भी सचेतन अचेतन द्रव्य सारा,
संसार में लस रहा निज भाव द्वारा।
मैं हूँ रहा यह, रहा यह ही यहाँ मैं,
मेरा रहा यह, रहा इसका अहा मैं ॥२५॥
मैं भी रहा विगत में इसका यथा था,
मेरा रहा नियम से यह भी तथा था।
मैं भी नितान्त इसका यह भी बनेगा,
मेरा भविष्य भर में क्रम यों चलेगा ॥२६॥
ऐसा सदैव पर को निज मान लेता,
होता तभी दुखित हो वह मूढ़ नेता।
पै मूढ़ता न करते मन अक्ष जेता,
वे धन्य-धन्य मुनि हैं निज तत्त्व-वेत्ता ॥२७॥

व्याख्या—संसारी प्राणी की त्रैकालिक ज्ञान स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं जाती। ज्ञान था, ज्ञान है और ज्ञान रहेगा, इस ओर दृष्टि ही नहीं जाती। जबकि ज्ञान की ओर दृष्टि जाना तो चाहिए थी। ज्ञेय की ओर तो दृष्टि जाती है पर ज्ञान की ओर नहीं जाती। ज्ञेय में भी पुद्‌गल द्रव्य की ओर दृष्टि ज्यादा रहती है उन्हीं में तत्सम्बन्धी वैभाविक पदार्थों में मोह कर लेता है। रागद्वेष परिणाम भी करने लगता है फलस्वरूप संसार की वृद्धि होती रहती है। आचार्य कहते हैं कि—परपदार्थों में मोह, रागद्वेष करके यह संसारी प्राणी अपनी त्रिलोकीनाथ बनने की योग्यता को भुला देता है। यदि यही प्राणी समस्त ज्ञेय पदार्थों में मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के साथ रहे तो तीन लोक के नाथ बनने में देरी नहीं लगेगी। अहं भाव का प्रयोग करो लेकिन परपदार्थों के साथ नहीं, स्वभाव के साथ करो। पर पदार्थों के साथ कैसा अहंभाव ? जैसे—पुद्‌गल द्रव्य में शरीर, धन, सम्पत्ति आदि तथा सम्बन्धी जन, परिवारजन आदि के साथ ये मेरे थे, मेरे हैं, मेरे रहेंगे। स्वभाव के साथ कैसा अहंभाव ? जैसे—मेरा स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप था, है और रहेगा। अथवा ज्ञानदर्शन मेरा स्वभाव है, था और रहेगा। यदि यह संसारी प्राणी उक्त प्रकार से अपने त्रिकाली स्वभाव के साथ अहंभाव का प्रयोग करता है तो शीघ्र ही ज्ञाताद्रष्टामय स्वभाव को प्राप्त भी कर सकता है।

काल की पहचान—

काल संख्यात, असंख्यात और अनन्त स्वरूप होता है। वस्तुतः वर्तमान काल एक समय का परिणमन स्वरूप होता है। शुद्ध द्रव्यों में एक समयवर्ती ही पर्याय बनती है। जीव और पुद्‌गल द्रव्यों में संख्यात, असंख्यात और अनन्तकालवर्ती पर्यायें भी बनती हैं। जीव और पुद्‌गल का परिणमन काल को जानने में ज्ञापक कारण है अर्थात् जीव और पुद्‌गल के द्वारा जो काल पहचानने में आता है वह

व्यवहारकाल है। जैसे–यह १०० वर्ष का था अथवा यह २५ वर्ष का है। धूप देखकर समय का ज्ञान करना अथवा माला की गिनती के हिसाब से समय का ज्ञान करना। इन सबके द्वारा व्यवहारकाल को ही पहचाना जा सकता है। घड़ी के द्वारा भी एक, दो घण्टे, मिनट, सेकेण्ड आदि से भी व्यवहारकाल जाना जाता है। काल की या अन्य समस्त शुद्ध द्रव्यों की एक समयवर्ती पर्याय सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का ही विषय बनती है। स्व समय (शुद्धात्मा) शुद्ध द्रव्य है। इसमें भी एक समयवर्ती स्वभाव अर्थपर्याय होती है। यह स्वसमय कभी भी वक्र नहीं होता, चूँकि वह भूत, भविष्य के साथ अपना उपयोग नहीं जोड़ता। भूत, भविष्य या अतीत अनागत के साथ उपयोग जुड़ने से जीव द्रव्य वक्र होता है। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने **प्रवचनसार** ग्रन्थ में कहा है कि–**भूत, भविष्य अव्यक्त होता है, मात्र एक समयवर्ती वर्तमान काल व्यक्त होता है।** परत्वापरत्व, अनिमेष, निमेष आदि व्यवहारकाल स्वरूप होते हैं। संसारी प्राणी के पलकों की टिमकार, पलकों का झपकना बन्द हो जाये तो खतरा सा लगने लगता है। देवों में टिमकार नहीं होती। असंज्ञी पंचेन्द्रिय अतीत–अनागत के बारे में कुछ सोच ही नहीं सकता। ये सभी विकल्प संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के ही होते हैं। यह अतीत–अनागत सम्बन्धी विकल्प मन की उपज हैं। बिना मन के मात्र इन्द्रियाँ अतीत–अनागत में नहीं जा सकती अर्थात् अतीत अनागत को अपना विषय नहीं बना सकतीं। अतः इन्द्रियाँ नहीं किन्तु मन खतरनाक होता है। भले ही इसके पास नाक नहीं है, फिर भी खतरनाक है, टेढ़ा है। मैं वह था, मैं वह हूँ, वह रहूँगा, इत्यादि विकल्प मन के द्वारा ही होते हैं। जिसका मन जितना–जितना निर्विकल्प होता जाता है उतना–उतना कल्याण के पथ पर आगे बढ़ सकता है। बालक के समान कम कषाय वाला मन ही जल्दी कल्याण कर सकता है।

दृष्टान्त–जैसे बालक को माँ ने चाँटा मारा तो वह रोने लगता है। उसी समय रोते हुए बालक को यदि माँ ने या किसी अन्य ने पुचकार लिया तो वह शान्त हो जाता है। किसी ने खुश किया तो खुश हो जाता है। माँ के मारे हुए चाँटे को शीघ्र ही भूल जाता है। यदि वह चांटे को याद रखता है तो खुश नहीं हो सकता। बच्चे जब बड़े हो जाते हैं तो वे छोटे बच्चों की भाँति सहज और सरल नहीं रह पाते। उनमें टेढ़ापन का प्रवेश हो जाता है। वे किसी भी बात को शीघ्र ही सहजता से स्वीकार नहीं कर पाते। इसी प्रकार जिस साधक का मन छोटे बालक की भाँति या तुरन्त उत्पन्न बालक की भाँति सरल और सहज होता है, टेढ़ापन नहीं रहता, कषाय का तीव्र आवेग नहीं रहता वही साधक कल्याण के पथ पर स्वयं भी आगे बढ़ता है और अन्य साधकों को भी कल्याणपथ पर आगे बढ़ाने में सफल साधक कारण होता है। यदि साधक का अपनी कषाय के वेग पर नियन्त्रण नहीं होता तो वह कल्याणपथ पर स्वयं अग्रसर नहीं हो सकता है। जो स्वयं कल्याणपथ पर आगे नहीं बढ़ सकता वह दूसरों को कल्याणपथ पर आगे बढ़ने में कारण कैसे बन सकता है ? अतः बालक के समान कम कषाय वाला ही जल्दी कल्याण कर सकता है। अधिक कषाय वाले पालक के समान रहेगा तो जल्दी कल्याण नहीं कर सकता।

आरोग्यकारों का कहना है कि–जो दिन के समस्त विकल्पों को गौण करके या भूलकर सोता है, वही स्वस्थ हो सकता है। निश्चिन्त अर्थात् तनाव रहित व्यक्ति को स्वस्थ निद्रा आती है। नींद की गोली से नींद नहीं मूर्च्छा आती है। जो चिन्ता में या विकल्पों में रहते हैं वे शान्त नहीं रह सकते अर्थात् निर्विकल्प नहीं हो सकते।

आगे गाथा कथित विषय को स्पष्ट किया जाता है–मैं यह हूँ, यह सो मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे थे, मैं इनका था, आगे ये मेरे होंगे, मैं भी इनका होऊँगा। इन समस्त विकल्पों का आधार कौन होता है ? किनके निमित्त से उक्त सभी प्रकार के विकल्प होते हैं। जीव इन विचारों को कब करता है ? आचार्य कहते हैं–आत्मा से भिन्न शरीर को केन्द्र बनाकर सभी विकल्प होते हैं। जो आत्मा के ज्ञानदर्शन स्वभाव को अपना वास्तविक परिचय समझता है वह शरीर को केन्द्र बनाकर या अन्य कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, किन्तु जो बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है वह उनको बार-बार अपनी स्मृति का विषय बनाता है। प्रत्यभिज्ञान के रूप में विषय बनता है। तत्सम्बन्धी जितना-जितना विकल्प बढ़ता जाता है उतना-उतना अतीत अनागत में उपयोग जाता है। ज्ञेय के बारे में बार-बार सोचता है परन्तु उस ज्ञान के बारे में नहीं सोचता है। संसारी प्राणी पर पदार्थों को तो हमेशा ज्ञेय बनाता है परन्तु ज्ञान को भी स्वयं का ज्ञेय बनाया जा सकता है, यह बात ध्यान में नहीं आती। बल्कि पर पदार्थों में ही एकत्व बुद्धि के कारण सम्मोह और संमूढ़ अवस्था को प्राप्त होता है।

अनुभूति किसको किसकी ?

अनुभूति वर्तमान की होती है। अतीत-अनागत का श्रद्धान होता है। अतीत, अनागत का विषय ध्येय भी बन सकता है, परन्तु उसका संवेदन नहीं हो सकता। वर्तमान में ध्याता सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान तो कर सकता है अर्थात् उन्हें ध्येय बना सकता है लेकिन सिद्धत्व का अनुभव नहीं कर सकता। पर पदार्थों का अनुभव नहीं होता, स्व-पदार्थ का ही अनुभव होता है। स्व का अनुभव भी वर्तमान में वर्तमान परिणमन का ही होता है। स्वयं के अतीत परिणमन का भी अनुभव नहीं होता। जिस जीव का वर्तमान में जैसा परिणमन होता है चाहे वह स्वभाव रूप हो या विभाव रूप, रागमय हो या वीतरागमय, दुःखरूप हो या सुखरूप अनुभव तो उसी का होता है। वर्तमान में कर्मोदय की अपेक्षा अशुद्ध परिणमन हो और शुद्धत्व का अनुभव हो यह कभी सम्भव नहीं है। हाँ, भविष्य में शुद्धत्व के अनुभव को श्रद्धान का विषय बनाया जा सकता है। वर्तमान में यह श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण बन सकता है। दुःख का संवेदन या रागद्वेष का संवेदन होने के बाद भी यह मेरा स्वभाव नहीं है, इस प्रकार का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन को पुष्ट करता है। राग का अधिकरण आत्मा है अर्थात् आत्मा में ही राग उत्पन्न होता है। आत्मा के बिना रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन को बढ़ाता है। भले ही निर्विकल्प समाधि का अविनाभावी वीतराग सम्यग्दर्शन न हो फिर भी क्षयोपशम व क्षायिक सम्यग्दर्शन होने में यही श्रद्धान कार्यकारी होता है।

गाथा का मुख्य विषय—

आत्मा अपने आपसे भिन्न सचित्त, अचित्त और मिश्र वस्तुओं में ''मैं सो यह'' और ''यह सो मैं'' इत्यादि संयोगात्मक विकल्प करता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** का कहना है कि इस प्रकार का विकल्पात्मक विचार मूढ़ भाव या मोह भाव का परिचायक है। इसी विषय को विस्तृत करते हुए टीका में आचार्य जयसेन स्वामी जी कहते हैं कि **गृहस्थ की अपेक्षा** स्त्री, पुत्रादि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त और साभरण स्त्री आदि मिश्र परिग्रह हैं। तथा **तपोधन की अपेक्षा** छात्र, शिष्यादि सचित्त, पिच्छी-कमण्डलु, पुस्तक आदि अचित्त और उपकरण सहित छात्र, मुनि आदि मिश्र परद्रव्य हैं। अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त, द्रव्य और भावकर्मरूप मिश्र परद्रव्य हैं। अथवा **विषयकषाय रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित साधक की अपेक्षा** सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्‌गल आदि पाँच द्रव्य अचित्त और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादि रूप परिणत जो संसारी जीव का स्वरूप मिश्र द्रव्य है। इस प्रकार उक्त समस्त परद्रव्य वर्तमान, भूत और भविष्य की अपेक्षा ''मैं हूँ, मैं था, मैं होऊँगा'' इत्यादि रूप असद्‌भूत तीन काल सम्बन्धी परद्रव्यों से संसर्ग लिए हुए मिथ्यारूप विचार को अशुद्धनिश्चयनय से होने वाले जीव के परिणाम को जो करता है वह मोहयुक्त अज्ञानी बहिरात्मा होता है, किन्तु जो भूतार्थ निश्चयनय को जानता हुआ तीन काल सम्बन्धी परद्रव्यों में मिथ्या विकल्प को नहीं करता, वह मोहभाव रहित सम्यग्दृष्टि, अन्तरात्मा, ज्ञानी होता है अर्थात् भेदाभेद रत्नत्रय की भावना में निरत होता है। ऐसी स्थिति में ही वह परमात्मा का आराधक हो सकता है, अन्यथा नहीं।

परिग्रह दुःखदायक—

दृष्टान्त—जैसे किसी खिलौने, पुस्तक आदि के निमित्त से दो बच्चों में झगड़ा हो गया। दोनों बच्चों की माँ को पता चलता है तो वे बाहर आ जाती हैं और आपस में झगड़ा करने लगती हैं। बाद में जब पिता को पता चलता है तो बच्चों के पिता भी आपस में झगड़ने लगे, एक दूसरे पर हाथ उठाने लगे। दण्डादण्डि हो गई। पुलिस को पता चलने पर पुलिस आ गई। केस बन गया। वारण्ट आ गया। फिर कोर्ट में, हाईकोर्ट में, सुप्रीमकोर्ट तक केस पहुँच गया। इस प्रकार तूँ-तूँ, मैं-मैं करते-करते झगड़ा अत्यधिक बढ़ गया। उसका गाढ़ संस्कार इसी भव में नहीं, परभव में भी बना रह सकता है। श्री पार्श्वनाथ भगवान् पर भव-भव में अर्थात् दस भव तक उपसर्ग होते रहे। अन्तिम भव में ७ दिन तक उपसर्ग होता रहा। जब तक सुप्रीमकोर्ट अर्थात् केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तब तक उपसर्ग चलता रहा। कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे सचित्त परिग्रह हो या अचित्त अथवा मिश्र, सभी प्रकार का परिग्रह भव-भव में दुःख का कारण है। जैसा कि **सुनीतिशतक** में लिखा है-

परिग्रहो विग्रहमूल हेतु परिग्रहो विग्रह भाव धाता।
परिग्रहो विग्रह राजमार्गः परिग्रहोऽनेन विमुच्यते॥९॥

उपसंहार—शुद्ध निश्चयनय का आलम्बन लेकर साधना करने वालों की साधना कितनी अनूठी रहती होगी। हम सभी को उसका थोड़ा प्रयोग करने का अभ्यास करना चाहिए। बिना नाम का पदार्थ चिन्तन करो। बहुत कठिन होता है क्योंकि बिना नाम का कोई पदार्थ नहीं होता। चिन्तन को निर्विकल्प बनाने के लिए इस प्रकार के प्रयोग किए जाते हैं। आत्मा कहेंगे तो उसमें भी ढाई अक्षर आता है।

जिस प्रकार कोई राजा का सेवक पुरुष राजा के शत्रुओं के साथ सम्बन्ध रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता, किन्तु वह देशद्रोही कहलायेगा। उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा के प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व व रागादिकभाव रूप परिणमन करता है तो वह परमात्मा का या आत्मा का आराधक नहीं कहला सकता।

विशेष कथन—अध्यात्म और आगम ग्रन्थों में अध्यात्म सम्बन्धी कथन में अन्तर होता है। आगम की दृष्टि से **देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है** अर्थात् शरीर और आत्मा को एकत्व रूप स्वीकार करने वाला बहिरात्मा अज्ञानी होता है। अध्यात्म की दृष्टि से **नियमसार** ग्रन्थ में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने बहिरात्मा का लक्षण बतलाते हुए लिखा है–

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥

अर्थ—जो साधु अन्तर्जल्प और बाह्य जल्प में वर्तता है, वह बहिरात्मा है और जो (किसी भी प्रकार के) जल्पों में नहीं वर्तता है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यात्म में तो जल्पमात्र करने को भी बहिरात्मा कह दिया। वास्तव में देखें कि बोलने की प्रवृत्ति या वचनप्रवृत्ति कब होती है ? तो आचार्य कहते हैं कि जब उपयोग अन्तरात्मा से बाहर आता है तब बहिर्जल्प होता है। यहाँ तक कहा है कि जब तक अन्तर्जल्प होता है तब तक साधक निर्विकल्प नहीं हो सकता। अर्थात् शुद्धोपयोग को प्राप्त नहीं हो सकता। यह अध्यात्म की भाषा है। आगम की अपेक्षा यथाख्यातचारित्र के अभाव में पूर्ण वीतरागता की प्राप्त नहीं हो सकती। लेकिन अध्यात्म की दृष्टि से जब साधक गुप्ति में लीन अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लीन होता है उस समय राग अबुद्धिपूर्वक होता है, इसलिए वीतरागी संज्ञा दी जाती है चूँकि रागरूप परिणमन १० वें गुणस्थान तक होता है, अतः आगम की दृष्टि से पूर्ण वीतराग अवस्था ११ वें गुणस्थान में होती है। समझने के लिए जैसे–

दृष्टान्त—किसी को ९९ डिग्री बुखार रहता है तो उसे बुखार जैसा नहीं लगता। बुखार जैसी हरारत भी नहीं रहती, फिर भी उसे तापमान नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार १० वें गुणस्थान में ९९ डिग्री तापमान जैसा रागांश होता है। जो यथाख्यातचारित्र को नहीं होने देता। वहाँ पर बुद्धिपूर्वक कषाय नहीं होती फिर भी संज्वलन लोभ का वहाँ उदय नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जैसे–स्वस्थ होने में वह ९९ डिग्री तापमान बाधक होता है उसी प्रकार यथाख्यातचारित्र होने

में १० वें गुणस्थान का रागांश बाधक होता है।

क्षयोपशम सम्यग्दर्शन ६६ सागर तक रह सकता है, परन्तु निर्विकल्प समाधि ६६ मिनट भी नहीं रह सकती। अतः वे प्रतिबुद्ध है अर्थात् ज्ञानी हैं वे अपने ज्ञान को और अधिक दृढ़ बनायें एवं विकसित करें तथा जो अप्रतिबुद्ध हैं, उन्हें ज्ञानप्राप्ति हेतु सम्बोधन करें, यह कहना आचार्यों का व्यवसाय है अर्थात् कर्त्तव्य है। इसी अभिप्राय से आचार्य उपदेश देते हैं।

इस प्रकार अप्रतिबुद्ध के लक्षण के कथन रूप में चतुर्थ स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे इस अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न किया जाता है–

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभाव संजुत्तो ॥२८॥
सव्वण्हुणाणद्दिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२९॥
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्का वुत्तं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥३०॥

अन्वयार्थ–(अण्णाणमोहिदमदी) जिसकी मति अज्ञान से मोहित है **(बहुभावसंजुत्तो)** और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है ऐसा **(जीवो)** जीव **(भणदि)** कहता है कि **(इणं)** यह **(बद्धमबद्धं च तहा)** शरीरादिक बद्ध और धन-धान्यादि अबद्ध **(पुग्गलं दव्वं)** पुद्‌गलद्रव्य **(मज्झं)** मेरा है।

अन्वयार्थ–(सव्वण्हुणाणदिट्ठो) सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो **(णिच्चं)** सदा **(उवओगलक्खणो)** उपयोग लक्षण वाला **(जीवो)** जीव है **(सो)** वह **(पुग्गलदव्वीभूदो)** पुद्‌गल-द्रव्यरूप **(कह)** कैसे हो सकता है? **(जं)** जिससे **(भणसि)** तू कहता है कि **(इणं मज्झं)** यह पुद्‌गलद्रव्य मेरा है।

अन्वयार्थ–(जदि) यदि **(सो)** वह **(पुग्गलदव्वीभूदो)** पुद्‌गलद्रव्य रूप हो जाये और **(इदरं)** पुद्‌गलद्रव्य (यह) **(जीवत्तं)** जीवत्व को **(आगदं)** प्राप्त करें **(तो)** तो **(वुत्तुं सक्का)** तू कह सकता है **(जे)** जो **(इणं पुग्गलं दव्वं)** यह पुद्‌गलद्रव्य है **(मज्झं)** मेरा है।

अर्थ—अज्ञान से मोहित बुद्धिवाला संसारी प्राणी अपने साथ में मिलकर रहने वाले शरीर और अपने से पृथक् गहने इत्यादि पुद्‌गल द्रव्य को अपना कहता है, नाना प्रकार की रागद्वेषादि रूप कल्पना करता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! जब सर्वज्ञ भगवान् ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला देखा है तो फिर वह पुद्‌गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है ? जिससे कि तू पुद्‌गलात्मक पदार्थ को मेरा-मेरा कहता है। हाँ, यदि जीवद्रव्य पुद्‌गल रूप हो जाये तो पुद्‌गल द्रव्य भी जीव रूप हो जाये,

तब फिर तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, पर ऐसा तीन काल में भी संभव नहीं हो सकता, अत: तेरा यह कहना भूल भरा है।

कर्मों जड़ात्मक तनों वचनों कुलों को,
रागादिकों सुत सुतादि जनों घनों को।
अज्ञान से भ्रमित हो अपने बताता,
संसार को अबुध और अरे! बढ़ाता ॥२८॥
हे मित्र! जीव उपयोगमयी रहा है,
सर्वज्ञ का सदुपदेश यही रहा है।
तू ही बता जड़ बना वह जीव कैसा ?
मेरा जिसे कह रहा बन अंध जैसा ॥२९॥
हो जाय जीव यदि पुद्गल द्रव्य भाई,
हो जाय पुद्गल सचेतन जीव थाई।
नि:शंक हो कह सको जड़ है हमारा,
ऐसा परन्तु कब हो प्रभु ने पुकारा ॥३०॥

व्याख्या—मोह का परिणमन बहुत विचित्र है। जैसे–बंगाली जादूगर जादू दिखाते हैं। बच्चे, बूढ़े, युवा सभी देखते हैं। वे जादूगर थोड़ी सी मिट्टी हाथ में लेकर फूँक लगाते हैं। सिक्के, नोट आदि बना देते हैं। इसी प्रकार और अनेक प्रकार के जादू दिखाता हैं। दूसरों को आश्चर्यचकित करते हैं। अन्त में कटोरा लेकर भाई दे–दे, इस प्रकार गरीबों जैसे क्यों माँगते हैं ? यदि वास्तव में वह पैसा नोट आदि बनाता है तो भीख माँगने की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? वह जादू के नोटों से स्वयं लखपति, अरबपति क्यों नहीं बन जाता? मोह का परिणमन भी जादू जैसा ही है। मोह के कारण जीव कभी किसी को अपनी ओर आकर्षित करता है। तो कभी स्वयं किन्हीं दूसरों की ओर आकर्षित हो जाता है। दूसरों को आकर्षित करना अथवा दूसरों से आकर्षित होना यह पर्यायमूढ़ता का परिणाम है। किसी भी वस्तु को देखना–जानना खराब नहीं है, किन्तु वस्तु को अच्छा बुरा कहना ठीक नहीं है। वस्तु को पर्यायदृष्टि से जानना ज्ञान का विषय है लेकिन वस्तु की पर्याय में मोहित होना मोह का परिणाम है। आचार्य कहते हैं कि–**पर्यायदृष्टि खराब नहीं किन्तु पर्यायमूढ़ता खराब है।** अत: पुद्गल द्रव्य को जानना बुरा नहीं किन्तु पुद्गल द्रव्य को मेरा कहना, अच्छा बुरा कहना बुरा है। मोह के रहते हुए इस प्रकार की मान्यता पुष्ट होती है।

जिज्ञासा—संसारी प्राणी पर द्रव्यों में अच्छी–बुरी क्वालिटी का चुनाव किस आधार पर करता है ?

समाधान—आचार्य कहते हैं **अण्णाणमोहिदमदी** अर्थात् अज्ञान से मोहितमति होने के कारण

संसारी प्राणी अनुकूल वस्तु के प्रति अच्छी और प्रतिकूल वस्तु के प्रति बुरी क्वालिटी का चुनाव करता है। मोह के कारण ही पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति अपना बड़प्पन दिखाता है। आचार्य समझाते हैं कि ''तू तो हमेशा एक उपयोगमयी चेतन आत्मा है'' फिर स्त्री, पुत्रादि चेतन एवं अन्य पौद्‌गलिक पदार्थ तेरे कैसे हो सकते हैं ? क्या ये पौद्‌गलिक पदार्थ तेरी आत्मा रूप परिवर्तित हो सकते हैं ? यदि परिवर्तित हो सकते हैं तो फिर तेरा चेतन आत्मा भी पुद्‌गल रूप परिवर्तित हो जायेगा। जब जड़ चेतन दोनों एक दूसरे रूप परिवर्तित हो जायेंगे तो फिर कौन जीव है ? कौन पुद्‌गल है ? इसकी पहचान भी नहीं हो सकेगी। इसलिए मोहयुक्त तेरी मान्यता उचित नहीं है। मोह को छोड़कर पंचेन्द्रिय के विषयों को ग्रहण करने पर भी रागद्वेष नहीं होने के कारण असंख्यातगुणी निर्जरा हो सकती है। पंचेन्द्रिय के विषय चारों ओर हैं अर्थात् सर्वत्र हैं, उनसे बच नहीं सकते। कैसिट की तरह ये विषय ग्रहण में आते ही रहते हैं। दिन-रात, चलते-फिरते, सोते-उठते यह कार्य चलता ही रहता है। लेकिन उन विषयों में रागद्वेष करना या नहीं करना जीव के आधीन होता है। उनमें रागद्वेष करना मोह का परिणाम है एवं रागद्वेष नहीं करना यह ज्ञान का परिणाम है। हे चेतन! तू ज्ञानी है, मोह से उपरत होकर ज्ञानपूर्वक कार्य कर। श्रद्धापूर्वक ज्ञान से जो निर्णय लिया जाता है वही कार्यकारी होता है। पाँच इन्द्रिय के विषयों से मन, वचन, काय इन तीनों बलों को जब गौण करोगे तभी आत्मा अपना कार्य कर सकता है। मोहित मन ही पुद्‌गल द्रव्यों में **मज्झमिणं** का भाव करता है। मन अत्यन्त चंचल है। कभी चुप नहीं बैठता। यहाँ तक कि कायोत्सर्ग करते-करते भी मन अन्यत्र चला जाता है। शुद्धि पत्र में भी अशुद्धियाँ हों तो कहाँ तक शुद्धि करें ?

अज्ञान से मोहित मन होने के कारण उक्त स्थिति घटित होती है। मोहित मन का यह स्वभाव होता है कि बद्ध-अबद्ध पर वस्तुओं को अपना कहता है।

मोहित मन को सम्बोधित करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि-**जीव का लक्षण जब उपयोगात्मक है तो यह मिलावट क्यों ? पुद्‌गल जीव नहीं हो सकता तो फिर यह मेरा है, ऐसा क्यों ? बन्ध को काटना है फिर सम्बन्ध क्यों ? ''यह मैं हूँ, यह मेरा है'' इस प्रकार के विकल्प क्यों करते हो ?** आचार्यप्रवर बार-बार समझाते हैं कि जब जीव पुद्‌गल नहीं हो सकता तो उसे अपना क्यों कहता है ? सुनो, ध्यान से सुनो-

दूध में कितना भी पानी डाल दो, फिर भी दूध-दूध रहता है, पानी पानी रहता है। उबालने पर पानी जल जाता है, दूध मावा बन जाता है। उसी प्रकार उपयोग में से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द सम्बन्धी रागद्वेषात्मक वैभाविक विचार निकल जाते हैं तब फिर ज्ञान, दर्शन के अतिरिक्त उपयोग में कुछ शेष नहीं रहता। वास्तव में समीचीन विशुद्धज्ञान तो वही है जो गन्धातीत, रूपातीत, रागातीत, द्वेषातीत आदि रूप हो। संसारी प्राणी रूप, रस, गन्ध आदि में इतना अधिक आसक्त हो गया है कि स्पर्श, रस, गन्ध, आदि से युक्त पुद्‌गल के अभाव में स्वयं को निर्जीव जैसा अनुभव करता है अर्थात्

पुद्गलादि परद्रव्य के अभाव में अपने आप में दुःखी होता है, आँखों में आँसू लाता है। यह मिथ्यादृष्टि जीव की परिणति होती है। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव को पाप बन्ध होने पर, रागद्वेष होने पर, आत्मचिन्तन च्युति होने पर, आँखों में आँसू आते हैं। उसे विचार आता है कि–ये रागद्वेष परिणाम कब छूटें ? मेरी पापों की प्रवृत्ति कब छूटे ? यह सब कैसे छूटेगा ? परद्रव्यों के प्रति प्रीति का भाव कैसे छूटेगा? मैं कब संयम को ग्रहण कर लूँ ? इत्यादि। अज्ञानी प्राणी इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग होने पर दुःख के आँसू बहाते हैं। इतना अधिक वैर भाव कर लेते हैं कि नरक में पहुँचकर वैरभाव का बदला लेते हैं। इस अज्ञानी प्राणी को दुःख की संतति से मुक्ति कब मिलेगी ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि–**जब तक स्वयं की मति नहीं पलटेगी, स्वयं को गलत नहीं मानेगा, तब तक कुछ नहीं हो सकता। हम तो दूसरों की मति को पलट नहीं सकते। निमित्त तो बन सकते हैं लेकिन उपादान तो सामने वाले का ही पलटना आवश्यक होता है।**

दृष्टान्त–मोह की विचित्रता देखिए। क्षायिक सम्यग्दृष्टि राम भी अपने भाई नारायण लक्ष्मण के शव को ६ महिने तक लेकर घूमते रहे। क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने से उनके चार अनन्तानुबन्धी एवं तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का सत्त्व से अभाव था। मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों का सत्त्व शेष रह गया था। पुनः वे सत्त्व रूप में कभी भी नहीं आ सकतीं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने के बाद भी रामचन्द्र जी अपने छोटे भैय्या के शव को लेकर घूमने के साथ-साथ उसे स्वयं भोजन खिलाने की कोशिश करते रहे, उसके साथ स्नान कराना, सुलाना, खिलाना, पिलाना आदि क्रिया करते रहे। ऐसी स्थिति में जब रामचन्द्र जी को कोई समझाता था कि तुम्हारा भैय्या लक्ष्मण मर चुका है, तब श्रीराम को यह सुनना भी अच्छा नहीं लगता था। मोहवश वे कहते थे कि–''तू मर जाये, तेरा बाप मर जाए, पर मेरा भैय्या कभी नहीं मर सकता।'' इस प्रकार पद्मपुराण ग्रन्थ में आचार्य रविषेण महाराज ने वर्णन किया है। **अण्णाणमोहिदमदी** यह पंक्ति उक्त प्रसंग में लागू हो रही है। सारे के सारे लोग समझा रहे हैं कि–''मोह छोड़ दो'' लेकिन अज्ञान से या मोह से मोहित मति होने के कारण वे नहीं समझ पाए। अप्रत्याख्यानकषाय की वासना/संस्कार की चरम समय सीमा तक पहुँच गए। अर्थात् छह महीने तक मोह का उद्रेक बना रहा। देखिए कर्मोदय का प्रभाव कैसा-कैसा होता है ? अप्रत्याख्यान कषाय का उद्रेक बड़े-बड़े व्यक्तियों को अर्थात् महापुरुषों को भी आ जाता है। सबको समझाने वाले स्वयं नहीं समझ पा रहे हैं। कितने प्रकार से समझाया गया लेकिन नहीं समझे। छोटे बच्चों को समझाने पर बच्चे भी समझ जायें, इस तरीके से समझाने पर भी रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष भी तीव्रमोह के उद्रेक में नहीं समझ पाए। समझदार को कौन समझा सकता है ? कषाय का अर्थात् मोहकर्म का उद्रेक कम होने पर ही समझ में आ सकता है।

एक व्यक्ति पत्थर पर बीज बोता है, उसे रामचन्द्रजी ने देखा और पूछा–क्या कर रहे हो ? वह कहता है–बीज बो रहा हूँ। रामचन्द्रजी ने उसे समझाया–पाषाण पर बीज कैसे अंकुरित होंगे ? तब

अवसर का लाभ उठाकर वह व्यक्ति साहस करके रामचन्द्र जी से कहता है–रामचन्द्र जी! यदि पाषाण पर ये बीज नहीं ऊग सकते, तो मरा व्यक्ति जिंदा कैसे हो सकता है ? तब रामचन्द्र जी को यह बात समझ में आ गई।

अण्णाणमोहिदमदी अर्थात् जब तक अज्ञान से मोहित मति रहती है तब तक जीव कर्मबन्धन को प्राप्त होता है। फलतः संसार परिभ्रमण होता रहता है। सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त चतुःस्थानीय उदय नहीं आ सकता। द्विस्थानीय का उदय होते हुए भी अप्रत्याख्यान कषाय के तीव्र उदय का संस्कार छह माह तक बना रह सकता है, इससे ज्यादा नहीं। उस समय कुछ नहीं किया जा सकता।

दृष्टान्त–१०७ या १०८ डिग्री बुखार आने पर दूसरों को पहचानने में भी रोगी का माथा दर्द करने लगता है। उस समय समझ लीजिए कि वस्तु का अवग्रह मात्र हो पाता है। लेकिन यदि किसी को १०८ डिग्री से ऊपर बुखार पहुँच जाये तो अवग्रह भी छूट जाता है, मानो दर्शन मात्र होता है। उसी प्रकार अप्रत्याख्यान के तीव्र उदय होते हुए व्यक्ति कुछ सोच नहीं पाता, कुछ समझ नहीं पाता। उस समय उसे तत्त्वज्ञान की बात भी गौण जैसी लगने लगती है। देखो! रामचन्द्र जी को सभी ने कितना समझाया, परन्तु उन्हें उस समय कुछ समझ ही नहीं आया। समयावधि पूर्ण होने पर कषाय रूपी बुखार कम होने पर समझ में आ गया। अप्रत्याख्यान कषाय का उदय समाप्त होने पर इष्ट–वियोग, अनिष्टसंयोग आदि की स्थिति में रोना–धोना, अत्यधिक शोकमग्न होना आदि कुछ नहीं होता, ये सभी क्रियायें शान्त हो जाती हैं।

कब किस जीव को चतुःस्थानीय उदय आ जाए इसे हम माप नहीं सकते। कषाय का चतुःस्थानीय उदय होने पर जीव सम्यग्दृष्टि नहीं रह सकता। दूसरे के पास सम्यग्दर्शन है या नहीं इसको मापने का अपने पास कोई थर्मामीटर नहीं है। इसका निर्णय आप अपनी बुद्धि से नहीं कर सकते। आज तो ऐसा प्रवाह चल रहा है कि तत्त्वज्ञान कर लिया सो सम्यग्दर्शन हो गया। द्रव्यश्रुत रूप तत्त्वज्ञान तो मिथ्यादृष्टि को भी हो जाता है। भीतर से मोहकर्म का प्रभाव नहीं होता तो बाहर कैसे दिखाई देता है ? अप्रत्याख्यान के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय से ही मेरा–तेरापन का भाव आता है। असंयमी मरने–मारने में हिचकिचाता नहीं है। सौ कौरव और पाँच पाण्डव अलग–अलग होने से महाभारत बना और दोनों मिलकर १०५ हो गये कि युद्ध समाप्त हो गया। जब तक गृहस्थ है तब तक मेरा–मेरा कहना नहीं छूटता। एक इंच का हजारवाँ हिस्सा भी नहीं छूट सकता। **बाहुबली** भी कहता है कि मेरा तो मेरे पास रहेगा। मैं चक्रवर्ती का भाई हूँ। भाई के नाते मिलने तैयार हूँ, लेकिन चक्रवर्ती **भरत** मिलना चाहता है तो रणांगन में ही मिलेंगे। यह सब क्या है ? ध्यान रखना मेरा–तेरा यह जब तक रहेगा तब तक जीवत्व की ओर दृष्टि नहीं जा सकती।

जिज्ञासा–अज्ञान से मोहित मति वाला जीव किस प्रकार के विचार करता है ?

समाधान–वैसे इसी विषय का व्याख्यान चल रहा है फिर भी जिज्ञासा है तो पुनः व्याख्यान

करते हैं। अज्ञान से मोहित बुद्धि वाला व्यक्ति हमेशा रागद्वेष, मोहयुक्त विचारधारा से सहित होता है। विपरीत मान्यता में खुश रहता है। जैसे–पुण्य के उदय में, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर बुद्धि का विकास होने पर गुदगुदापन होता है, कभी अपने पुण्य का अभिमान करता है, तो कभी अपने ज्ञान, रूप, धन आदि का अभिमान करता है। शरीर और आत्मा के प्रति एकत्वबुद्धि रखता है। परद्रव्यों के प्रति ममत्वभाव करता है। इष्ट वस्तु के वियोग में एवं अनिष्ट वस्तु के संयोग में अत्यन्त आकुल-व्याकुल होता है। उसे यह विचार नहीं आता कि ये धन, वैभव, गृह, शरीर, माता-पिता, बेटा-बेटी, पत्नि-बहिन आदि सभी से एक दिन हम वियोग को प्राप्त हो जायेंगे अथवा ये सभी मेरे से वियुक्त हो जायेंगे। प्राण निकल जाने पर शरीर में चैतन्य शक्ति का अस्तित्व नहीं रहता। शरीर शव की स्थिति में हो जाता है फिर वहाँ न फोन, न तार, न वायरलैस, न वायर कुछ नहीं रहता। शव होने पर शरीर को बाहर निकाल दिया जाता है। श्मशान ले जाकर उसे धू-धू कर जला दिया जाता है, फिर सूतक लगता है। यह सब जानता हुआ भी शव से भी मोह करता है, बार-बार उसका स्पर्श करता है, उसे घर से बाहर ले जाने की अनुमति नहीं दे पाता। लोग मिलकर ले जाते हैं तो मोहवश रोता है कि मेरा बेटा मर गया, इत्यादि यह सब **अण्णाणमोहिदमदी** अर्थात् अज्ञान से मोहित मति की विचारधारा रहती है।

बहिरात्मा को सम्बोधन—

अज्ञानी, बहिरात्मा को सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे बेटा! ऐसा विचार नहीं करते, विपरीत मान्यता को स्वीकार नहीं करना चाहिए। अपने स्वभाव का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास क्यों नहीं करते ? स्वभाव का चिंतन करने से विपरीत विचार आते ही नहीं। देख! इधर देख, सोचो, विचार करो कि पुद्‌गल तत्त्व जीव रूप कैसे हो सकता है। जिसे तू मेरा-मेरा कह रहा है। विनाशशील पुद्‌गल को तू स्थिर, शाश्वत बनाए रखने के लिए क्यों व्यर्थ का श्रम करता है ? स्वभाव से च्युत हो गए हो इसलिए यह सब हो रहा है। स्वभाव की प्रतीति विलक्षण होती है एक बार इसकी प्रतीति करने का सफल प्रयास तो कर, जीवन धन्य हो जायेगा। रत्नत्रय को धारण कर। जैसे–सान पर धार तेज की जाती है। उस समय पल भर के लिए चमकीले-चमकीले स्फुलिंग निकलते हैं, वैसे ही रत्नत्रय धारण करने के उपरान्त शुद्धात्मा की अनुभूति बहुत कम समय के लिए ही होती है। जैसे–वर्षाकाल में लवण (नमक) जल रूप और गर्मी में जल, लवण रूप हो जाता है, उसी प्रकार यदि पुद्‌गल द्रव्य चेतन रूप हो जाये तो ''यह मेरा है'' कहना सही है, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं। ऐसा होना कभी त्रिकाल में भी संभव नहीं हो सकता। अतः हे आत्मन्! तू कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व बुद्धि का त्याग कर। आचार्यों ने जिन विकल्पों को छोड़ने को कहा है उसे छोड़ने का पुरुषार्थ कर। जहाँ तक पुरुषार्थ चल सकता है वहाँ तक तो पुरुषार्थ करना ही चाहिए उसके उपरान्त पुरुषार्थ होने की अवस्था होती है, वहाँ पुरुषार्थ की आवश्यकता ही नहीं होती। इसलिए जो संकल्पपूर्वक छोड़ने योग्य विकल्प हैं, उन्हें छोड़ने का पुरुषार्थ करें, इसके उपरान्त जो अबुद्धिपूर्वक विकल्प होते हैं उन्हें छोड़ना

नहीं पड़ता किन्तु स्वतः छूटते जाते हैं। जैसे–मृत्यु के समय विकल्प दो प्रकार के होते हैं–१. संक्लेशयुक्त विकल्प और २. स्मरण करने योग्य। १३ दिन तक रोने योग्य विकल्प होते हैं, उसके उपरान्त याद करने रूप विकल्प होते हैं। उस समय रोते–रोते भी भोजन करना होता है और खारी उठने के उपरान्त विकल्प कम होता जाता है। कोई आ जाता है तो आँखें गीली हो जाती हैं। फिर १२ दिन बाद पगड़ी पहनाकर दुकान भिजवा दिया जाता है। इस प्रकार तेरह दिन के बाद समय बीतते–बीतते विकल्प धीरे–धीरे कम होते जाते हैं। कभी–कभी विकल्प प्रसंग आने पर याद आ जाते हैं। इस प्रसंग में यदि कोई यह कहता है कि ये विकल्प हम छोड़ ही नहीं सकते। नियन्त्रण करने का और त्याग करने का पुरुषार्थ किए बिना तथा छोड़ने का संकल्प किए बिना ऐसा कहना उचित नहीं है। इस प्रकार कृपालु, परोपकारी आचार्य बहिरात्मा जीव को अनेक प्रकार से सम्बोधन करके उन्हें अन्तरात्मा बनने का बोध प्राप्त कराते हैं। इस समस्त विकल्प जाल को छोड़कर निर्विकार निज चैतन्य परमात्मतत्त्व की भावना करने की प्रेरणा देते हैं।

इस प्रकार अप्रतिबुद्ध को सम्बोधने के लिए पंचमस्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

आगे पूर्वपक्ष (जीव व शरीर को एक मानने) के परिहार रूप में आठ गाथायें कही जाती हैं। वहाँ पहली गाथा में पूर्वपक्ष का कथन है, फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहार के समर्थन रूप से उसका परिहार है तथा तीन गाथाओं में निश्चयस्तुति रूप से पूर्वपक्ष का परिहार है, इस प्रकार छट्ठे स्थल की समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—अब सबसे प्रथम अज्ञानी शिष्य अपनी बात कहता है कि यदि जीव और शरीर में एकपना नहीं है तो तीर्थंकरों की और आचार्यों की जो स्तुतियाँ शरीर को लेकर की गई हैं वह सब व्यर्थ ठहरती हैं ?

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥३१॥

अन्वयार्थ—(जदि) यदि **(जीवो)** जीव **(सरीरं ण)** शरीर नहीं है तो **(तित्थयरायरियसंथुदी चेव)** तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति **(सव्वावि)** सभी **(मिच्छा हवदि)** मिथ्या है **(तेण दु)** इसलिए जो **(आदा)** आत्मा है सो **(देहो)** देह ही **(हवदि)** है।

अर्थ—हे भगवन्! यदि जीव और शरीर एक रूप नहीं हैं तो भक्त लोगों के द्वारा की गई तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति सब व्यर्थ ठहरती है, अतः आत्मा और शरीर एक हैं, ऐसा मानना ही चाहिए।

मानो कि जीव यदि देहमयी नहीं है,
तो देव की सुगुरु की स्तुति ना सही है।
भाई अतः समझ लो तन आतमा है,
ऐसा सदैव कहता बहिरातमा है ॥३१॥

व्याख्या—भगवान् शरीरातीत हैं फिर भी **पद्मप्रभापद्मपलाशलेश्यः** और **द्वौ कुन्देदुतुषारहार-धवलौ** इत्यादि रूप जो स्तुति की गई है। वह क्या है ? और **देसकुलजाइसुद्धा** आदि रूप आचार्य की स्तुति की गई है वह भी क्या व्यर्थ नहीं है ? यदि जीव और शरीर एक रूप नहीं हैं तो उक्त प्रकार से की गई स्तुति मिथ्या ठहरेगी। इस प्रकार शिष्य के कहने पर आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! तुम्हें अभी निश्चयनय का ज्ञान नहीं है, इसलिए ऐसा कह रहे हो। निश्चय और व्यवहारनय के परस्पर साध्य-साधक भाव को तुम नहीं जानते हो। सुनो, निश्चयनय साध्यरूप है और व्यवहारनय साधनरूप है। अध्यात्म दृष्टि के ज्ञाता निश्चय और व्यवहार नय को इसी तरह (साध्य-साधन रूप) घटित करते हैं। इस साध्य-साधक भाव को जानने वाले ही **समयसार** ग्रन्थ के रहस्य को समझ सकते हैं। **छहढाला** में भी ध्यान से देखें तो स्पष्ट होता है कि **हेतु नियत को होइ** अर्थात् व्यवहारनय निश्चयनय का कारण है अतः निश्चयनय व्यवहार से उत्पन्न होने वाला साध्य है। शरीर साध्य नहीं है, किन्तु आत्मतत्त्व है, देह उसका साधन है। साधन रूप देह का आश्रय लेकर भगवान् की एवं आचार्य की उक्त प्रकार से स्तुति की जाती है। इस विषय को आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

यदि जीव शरीर रूप नहीं है तो शरीराश्रित गुणस्तवन मिथ्या माना जाना चाहिए, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इस प्रकार यह पूर्व पक्ष की गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे आचार्य महाराज इसका परिहार करते हैं कि-हे भाई! यह जो तूने कहा सो ठीक नहीं है, क्योंकि तुम निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर जो साध्य-साधकभाव है उसको नहीं जानते हो-

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥३२॥

अन्वयार्थ—**(ववहारणयो)** व्यवहार नय **(भासदि)** कहता है **(जीवो देहो य)** जीव और शरीर **(खलु इक्को)** एक ही **(हवदि)** होते हैं। **(दु णिच्छयस्स)** किन्तु निश्चय से **(जीवो देहो य)** जीव और शरीर **(कदावि)** कभी भी **(एकट्ठो)** एक **(ण)** नहीं हैं।

अर्थ—व्यवहारनय (जो कि संयोग मात्र को लेकर चलता है) कहता है कि जीव और देह अवश्य एक हैं, किन्तु निश्चयनय (जो तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार करता है) से जीव और देह किसी काल में भी एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं।

है भिन्न निश्चयतया तन जीव मानो,
है एकमेक व्यवहारतया सुजानो।
हो दृष्टि में यदि विराग अमूर्त-मा की,
होती शरीर स्तुति से स्तुति आत्मा की ॥३२॥

व्याख्या— जिस प्रकार चाँदी और सोना मिली हुई दशा में व्यवहारनय से परस्पर एक हैं, फिर

भी निश्चयनय से वे अपने रूप, रंग को लिए हुए भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार जीव और देह का व्यवहार है। इसलिए व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोष कारक नहीं है।

व्यवहारनय से जीव और देह में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से एक हैं। वास्तव में जीव और देह अलग-अलग दो वस्तुयें हैं। फिर भी देखने में एक हैं। निश्चयनय से देखा जाये तो एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में कभी प्रवेश नहीं हो सकता। **श्री धवला** ग्रन्थ में कर्मस्पर्श का एक प्रकरण आया है। कर्मवर्गणायें एक ऐसा रसायन है जो कि जीव के परिणामों से ही तैयार होता है और परिणामों से ही विनष्ट हो जाता है। जीव के जिन परिणामों से अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति आदि परिणामों से वह रसायन निर्मित होता है तो सम्यक्त्व, व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि वीतराग परिणामों से विनष्ट होता है।

जिज्ञासा—कर्मस्पर्श से क्या तात्पर्य है ?

समाधान—कर्मस्पर्श का अर्थ है कि जहाँ जीव के प्रदेश स्थित हैं वहीं कर्मवर्गणाओं का भी एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रूप से स्थित होना।

विशेष—जीवस्पर्श, द्रव्यस्पर्श, जीवबन्धस्पर्श आदि का भी व्याख्यान किया गया है। जीवस्पर्श का अर्थ है कि एक निगोदिया जीव के शरीर में जहाँ स्वयं के आत्मप्रदेश अवस्थित हैं वहीं पर अनन्त निगोदिया जीव के आत्मप्रदेशों का अवस्थान होना। जीवबन्धस्पर्श का अर्थ है कि जीव के परिणामों के निमित्त से कर्मवर्गणाओं का जीवप्रदेशों के साथ बन्ध होना। द्रव्यस्पर्श का अर्थ है कि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर छहों द्रव्यों का अस्तित्व होना इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे-शरीर नामकर्म के उदय से शरीर की रचना होती है। कहाँ होती है ? जहाँ जीव के आत्मप्रदेश हैं वहीं शरीर के प्रदेश हैं, शरीर रूप से निर्मित हैं। सशरीरी अवस्था में कर्मबन्ध भी होता है, उदय भी होता है, उदीरणा, सत्त्व, उदयावली, संक्रमण आदि कर्म की सभी अवस्थायें होती हैं। कर्मबन्ध होने के उपरान्त कर्म उदय होता है उसमें नोकर्म सहायक होता है, क्योंकि नोकर्म के बिना कर्म का उदय सम्भव नहीं है। नोकर्म दो प्रकार के होते हैं-१. शरीररूप और २. भोगोपभोगसामग्रीरूप। कर्मफल नोकर्म के माध्यम से मिलता है। अज्ञानी जीव कर्मफल पर टूट पड़ता है। जीव के पास अज्ञान का अनन्तकालीन संस्कार हैं।

दृष्टान्त—सामान्यदृष्टि से लौकिक क्षेत्र में गाढ़ मित्रता होने पर दोनों मित्र आपस में यह अनुभव करते हैं कि हम लोगों के शरीर दो हैं पर आत्मा एक है। हम दोनों विचारों की अपेक्षा एक हैं, परन्तु दिखने की अपेक्षा दो हैं। उसी प्रकार जीव और शरीर की मित्रता है। लक्षण की अपेक्षा दोनों भिन्न-भिन्न हैं किन्तु एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध की अपेक्षा एक हैं। उपयोग की अपेक्षा जीव का स्वरूप दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों से युक्त है किन्तु चेतनत्व की अपेक्षा जीव का स्वरूप एक है।

दृष्टान्त—निश्चयनय से जीव और देह एक नहीं हैं। जैसे स्वर्ण और चाँदी का मिश्रण करके एक

आभरण बनाया जाता है तो वे दोनों एकमेक हो जाते हैं किन्तु लक्षण की अपेक्षा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। स्वर्णकार स्वयं जानकारी देता है कि इसमें इतना तौला सोना है और इतनी तौला चाँदी है। इसी प्रकार शरीर और जीव वर्तमान संयोगी अवस्था में आभूषण की भाँति ऐसे ढल चुके हैं कि जीव को कर्म रूपी रसायन से पृथक् नहीं दिखाया जा सकता। फिर भी आचार्य समझाते हैं कि जीव का और शरीर के स्वरूप का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। मरण के समय जब शरीर से आत्मतत्त्व निकल जाता है तो शरीर यहीं निश्चेष्ट पड़ा रह जाता है, वह निष्क्रिय मृत, शव के रूप में घोषित हो जाता है। इस स्थिति में ज्ञात हो जाता है कि दोनों के लक्षण पृथक्-पृथक् हैं।

गृहीतमिथ्यात्व—जिस प्रकार स्याही पेन में रहने के बाद भी उसका सत्त्व समाप्त होने के कारण निब चलाने पर भी अक्षर लिखा हुआ स्पष्ट दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार मरण होने पर जीवत्व शक्ति भी समाप्त हो जाती है अतः शरीर ही जीव है। शक्ति का अभाव हो जाने पर शरीर कार्य करना बन्द कर देता है। ऐसा चार्वाक आदि भौतिकवादी मत वाले मानते हैं। उनका कहना है कि **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥** अर्थात् खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ। शरीर को जीव मानने पर उनकी इस प्रकार की धारणा बन जाती है। यह गृहीतमिथ्यात्व है।

दूसरे को देखकर क्रोध, मान, माया आदि भाव होना यह भी गृहीत है। ये संज्ञी पंचेन्द्रियों के होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक क्रोधादि परिणाम कर्म के उदय में सहज रूप से होते हैं अतः उन्हें अगृहीत कह सकते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के गृहीत, अगृहीत दोनों प्रकार के परिणामों का वैर एवं शत्रु के रूप में वासना काल चलता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गृहीत मिथ्यात्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जब अपनी मिथ्या मान्यताओं को छोड़ देता है तो उसी को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने की पात्रता प्राप्त होती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति का साधन—

गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का उदय होने के कारण जीव और शरीर के प्रति एकत्व एवं स्याद्वादमय अनेकान्त के रहस्य को समझ नहीं पाता, किन्तु जिनबिम्ब दर्शन या धर्मश्रवण, जातिस्मरण आदि के निमित्त से जब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है तब उसे यह सारा रहस्य समझ में आ जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर भेदज्ञान के द्वारा उसकी दृष्टि में शरीर से पृथक् रहस्यमयी आत्मतत्त्व उद्घाटित हो जाता है।

जिनबिम्ब या जिनप्रतिमा के दर्शन करने पर उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मैंने साक्षात् भगवान् के दर्शन किए। जबकि भावनिक्षेप की अपेक्षा साक्षात् भगवान् तो समवसरण में विराजमान होते हैं। उनके साक्षात् दर्शन से तो क्षायिक सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति होती है।

जिज्ञासा—साक्षात् समवसरण में विराजमान भगवान् आँखों से दिखते हैं या नहीं ?

समाधान—समवसरण में बारह सभाओं के बीच गन्धकुटी में सुशोभित सिंहासन पर चार अंगुल ऊपर विराजमान भगवान् को वहाँ उपस्थित सभी जीव अपनी चर्म चक्षुओं से दर्शन करते ही हैं लेकिन वे वर्तमान में रूपवान् हैं, इसलिए भगवान् व्यवहार से दिखते हैं। सर्वज्ञत्व को आज तक किसी ने नहीं देखा, क्योंकि सर्वज्ञत्व चर्मचक्षुओं का विषय नहीं है। सर्वज्ञत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है। जानना आत्मा का स्वभाव है, सबको जानना आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर को जानना व्यवहार से है। निश्चयनय का विषय स्वतत्त्व ही होता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने भी कहा है कि **व्यवहारनय से केवली सर्वज्ञ हैं, किन्तु निश्चयनय से आत्मज्ञ हैं।** फिर भी व्यवहारनय का कथन एवं व्यवहारनय से की गई स्तुति गलत नहीं है। बल्कि युक्तियुक्त है। यह औपचारिक व्यवहार नहीं है, न ही यह काम चलाऊ व्यवहार है, किन्तु यह व्यवहार तो निश्चयनय का साधक है। जैसे–व्यवहार सम्यग्दर्शन को साधन एवं निश्चय सम्यग्दर्शन को साध्य कहा गया है। वैसे ही व्यवहारस्तुति साधन एवं निश्चयस्तुति को साध्य कहा गया है। सराग सम्यग्दर्शन साधन है तो वीतराग सम्यग्दर्शन साध्य है। जैसे–क्षयोपशम सम्यग्दर्शन से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है वैसे ही सराग सम्यग्दर्शन से वीतराग सम्यग्दर्शन की यात्रा होती है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति क्रम के विषय में यह नियम है कि सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन, इसके उपरान्त क्षयोपशम तथा अन्त में क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

आत्मानुभूतिमय निर्विकल्प समाधि के पूर्व सराग–सम्यग्दर्शन होता है। निर्विकल्प समाधि की अवस्था में वीतराग सम्यग्दर्शन होता है। सराग सम्यग्दर्शन को व्यवहारसम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन संज्ञा भी दी गई है। व्यवहार सम्यग्दर्शन में पंच परमेष्ठी की स्तुति की जाती है जबकि निश्चय या वीतराग सम्यग्दर्शन में देहगत आत्मा देहातीत आत्मा की स्तुति करता है। देहगत आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिए अर्थात् उसकी अनुभूति के लिए निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है। यही वीतराग सम्यग्दर्शन की स्तुति मानी गई है। इसी को वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं।

स्तुति–स्तुत्य विषयक विचार–

व्यवहारनय से देह की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति हो जाती है, यह ठीक है लेकिन दोनों को एक मानना उचित नहीं है। संसारी प्राणी के लिए अरहन्त परमेष्ठी परम मंगल स्वरूप हैं क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में सिद्ध परमेष्ठी का साक्षात्कार किसी को भी नहीं हो सकता इसलिए संसारी प्राणी उनको श्रद्धान अथवा विश्वास के द्वारा ही जानता है। केवलज्ञान होने पर ही सिद्धों से साक्षात्कार हो सकता है। अनन्तानन्त सिद्ध भगवान् साक्षात् केवलज्ञान के विषय हैं। हमारे लिए वे श्रद्धान के विषय हैं। श्रद्धान परोक्षज्ञान के साथ होता है। सिद्ध भगवान् के पारिणामिक भाव को हम छद्मस्थ जीव नहीं जान सकते। इसलिए हम सभी संसारी छद्मस्थ प्राणी वर्तमान में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति परोक्ष रूप से स्थापना निक्षेप से प्रतिष्ठित जिनबिम्ब की भक्तिपूर्वक चत्तारि मंगलं–अरहंता मंगलं,

सिद्धा मंगलं इत्यादि मंगलपाठ के द्वारा करते हैं।

गणधर परमेष्ठी के पास अवधिज्ञान एवं मन:पर्यय ज्ञान भी है तो भी उनके द्वारा वे सिद्ध परमेष्ठी के परम पारिणामिक भाव को नहीं जान सकते। समवसरण सभा के उपस्थित यदि कोई सभासद् गणधर परमेष्ठी से यह प्रश्न पूछे कि–इस सभा में कितने भव्य जीव हैं ? कितने अभव्य ? तो गणधर परमेष्ठी कह देते हैं कि–मैं सभा का सदस्य तो हूँ, चार ज्ञान का धारी हूँ, फिर भी इस सभा में कितने भव्य हैं? कितने अभव्य हैं ? यह विषय हमारा नहीं किन्तु केवली भगवान् का है। मेरा ज्ञान यह तो जान सकता है कि कौन सम्यग्दृष्टि है ? कौन मिथ्यादृष्टि ? लेकिन मिथ्यादृष्टि में कौन भव्य है ? कौन अभव्य है ? यह नहीं बता सकता, क्योंकि भव्यत्व, अभव्यत्व ये पारिणामिक भाव हैं। इनकी पहचान केवली भगवान् ही कर सकते हैं। साक्षात् केवली भगवान् को अरहन्त परमेष्ठी कहते हैं। वे भावनिक्षेप की अपेक्षा भगवान् कहलाते हैं। जबकि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को जिनबिम्बों को स्थापना निक्षेप की अपेक्षा भगवान् कहते हैं। इस प्रकार भाव निक्षेप और स्थापना निक्षेप की अपेक्षा साक्षात् केवली भगवान् और जिनबिम्ब में अन्तर है। भावनिक्षेप से जो सजीव शरीरस्थ पर्यायगत अरहन्त अवस्था है वे अरहन्त परमेष्ठी हैं। लेकिन स्थापना निक्षेप से जो जिनबिम्ब हैं वे सजीव नहीं होते। देह में देहत्व आत्मतत्त्व के साथ रहता है वह भाव निक्षेप का विषय बनता है। सिद्धपरमेष्ठी की मुक्तावस्था, परम पारिणामिक भाव के साथ भावनिक्षेप का विषय है। अरिहन्त परमेष्ठी मुक्त नहीं हैं, फिर भी जीवनमुक्त चार घातिया कर्मों से रहित हैं। आज भरतक्षेत्र में उनका भी साक्षात् दर्शन नहीं होता। समवसरण में स्थित १३ वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ को स्नातक संज्ञा दी गई है। वे वर्तमान में हमारे लिए आँखों के द्वारा निर्णीत नहीं है, किन्तु श्रवणेन्द्रिय के द्वारा आगम को सुनकर एवं मन के द्वारा मनन करके हम उन्हें स्वीकार करते हैं। इस स्वीकृति का आधार आँख नहीं, श्रद्धान है। समवसरण में जाने के उपरान्त भी आप भगवान् १३ वें गुणस्थानवर्ती हैं, इस प्रकार की पहचान नहीं कर सकते। यह पहचान अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। सब कुछ संकल्प–विकल्पों को छोड़कर जब आप ध्यानस्थ होकर श्रद्धापूर्वक अरहन्त भगवान् का चिन्तन करोगे, तब आप ऐसा कह पाओगे कि मैंने भगवान् से साक्षात्कार किया। इस विषय में अत्यन्त दृढ़ श्रद्धान आवश्यक होता है। दृढ़ श्रद्धान होने के बाद भी जब भगवान् का दर्शन रूप संवेदन नहीं होता तो तिलमिलाहट होने लगती है। कभी–कभी वह कहता है कि हे भगवन् ! हम क्या करें ? आपका साक्षात् दर्शन क्यों नहीं होता ? भगवान् कहते हैं कि क्या करें ? ऐसा क्यों कहते हो ? वस्तुस्थिति यही है। श्रद्धान का विषय परोक्ष ही होता है। समवसरण में भगवान् का बाह्य स्वरूप तो दिखता है कि भगवान् ५२५ धनुष वाले या ९ हाथ, साढ़े तीन हाथ की अवगाहना वाले वीतराग निर्ग्रन्थलिंग युक्त हैं। अष्ट प्रातिहार्य युक्त समवसरण में गन्धकुटी पर स्थित सिंहासन के चार अंगुल ऊपर भगवान् विराजमान हैं। यह सब तो चर्मनेत्रों से दिखाई देता है, लेकिन भगवान् का १३ वाँ गुणस्थान आँखों से दिखाई नहीं देता।

व्यवहारनय साधन है, निश्चयनय साध्य/ व्यवहारनय परोक्ष है, निश्चयनय प्रत्यक्ष–

सम्यक् श्रद्धान के साथ व्यवहारनय समीचीन होता है अन्यथा व्यवहाराभास होता है। जो व्यवहार निश्चयनय सापेक्ष होता है वही सम्यक् व्यवहारनय है। एवं जो निश्चय व्यवहारनय सापेक्ष होता है वही सम्यक् निश्चयनय है। व्यवहारनय साधन है, तो निश्चयनय साध्य रूप है। साधन को साध्य सापेक्ष होना आवश्यक है तो साध्य को भी साधन सापेक्ष होना आवश्यक होता है। निश्चयनय के विषय का कथन व्यवहारनय के बिना संभव नहीं है। केवल निश्चयनय को लेकर चलेंगे तो उसके विषय का कथन एवं ज्ञान व्यवहारनय के बिना संभव नहीं होता। व्यवहार के द्वारा जो पढ़ा जाता है, सुना जाता है, वही निश्चय का विषय होता है। निश्चयनय का विषय बिना व्यवहार के पकड़ में नहीं आ सकता। कर्णेन्द्रिय के द्वारा सुनना भी निश्चयनय के विषय को जानने में कारण बनता है। चूँकि मतिज्ञान को आगम में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा व्यवहारनय का विषय बनता है इसलिए व्यवहारनय को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप माना जा सकता है, लेकिन सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, परोक्षप्रमाण के अन्तर्गत ही आता है अतः व्यवहारनय परोक्ष प्रमाण का विषय सिद्ध होता है। श्रुतज्ञान शुद्ध परोक्ष प्रमाण रूप होता है। फिर भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष भी होता है। व्यवहारनय चूँकि श्रुतज्ञान का भी विषय है अतः व्यवहारनय श्रुतज्ञान की अपेक्षा भी परोक्ष प्रमाण रूप होता है। निश्चयनय निर्विकल्प स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय होता है। इसलिए निश्चयनय को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की अपेक्षा कथंचित् प्रत्यक्ष है किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी परोक्ष की कोटि में आता है, अतः वह श्रुतज्ञान का विषय होने से परोक्ष प्रमाण रूप भी है। इस प्रकार उक्त विवक्षाओं से यह सिद्ध होता है कि–**व्यवहारनय मतिज्ञान का विषय होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा कथंचित् प्रत्यक्ष एवं श्रुतज्ञान की अपेक्षा परोक्ष प्रमाण रूप है। वास्तव में मतिज्ञान भी परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही है। अतः इसकी अपेक्षा भी परोक्ष प्रमाण रूप है। द्वितीय निश्चयनय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की अपेक्षा कथंचित् प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा वह भी परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं।** अतः दोनों नय मूलतः परोक्ष प्रमाण रूप ही सिद्ध होते हैं। परोक्ष प्रमाण का विषय श्रद्धानात्मक होता है, फिर भी उक्त कथन से स्पष्ट है कि व्यवहारनय चूँकि परोक्ष प्रमाण का विषय है अतः श्रद्धान रूप है और वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप निश्चयनय का साधन है। इसलिए उत्साह के साथ कहिए कि–**व्यवहारनय निश्चयनय का साधन है।**

दृष्टान्त–जैसे–अनुपस्थित दादा, परदादा के बारे में माता-पिता या अड़ोस-पड़ोस के द्वारा सुनकर विश्वास करते हैं और उन्हें स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार देव, गुरु, शास्त्र की बात पर विश्वास करके श्रद्धान करके उनके द्वारा उपदेशित तत्त्व पर विश्वास करते हैं। चूँकि देव, शास्त्र, गुरु अन्यथावादी नहीं होते इसलिए उनकी प्रत्येक बात विश्वसनीय एवं श्रद्धेय होती है। इस विश्वास के बल पर ही हमारे

कदम आगे बढ़ते हैं। इसके बिना हमारा एक कदम भी नहीं उठ सकता। बिना आधार के तो हम कुछ सोच भी नहीं सकते, कुछ करते की बात तो अलग ही है। बिना आधार के हमारा जीवन शून्य सा होता है। हमारा प्रत्येक क्षण आधार पर ही टिका होता है।

निश्चय की ओर ले जाने वाला व्यवहार–

मरण के समय शरीर छूटने के तीन प्रकार हैं–च्युत, च्यावित और त्यक्त। धवला में च्युत के अतिरिक्त च्यावित एवं त्यक्त शरीर को मंगलरूप माना है। स्वयं शरीर छूट जाता है तो वह मंगल स्वरूप नहीं है। चूँकि उपसर्ग आदि के द्वारा छूटा च्यावित तथा समाधि के द्वारा छोड़ा गया शरीर त्यक्त होता है। इसलिए ये मंगलस्वरूप होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति की उदय-उदीरणा में जो औदयिक भाव होता है वह भी मंगल होता है। तीर्थंकर प्रकृति के उदय के कारण तीर्थंकर जब समवसरण में विराजमान होते हैं उस समय सारा समवसरण ही मांगलिक होता है। समवसरण में पहुँचकर भव्य जीव भगवान् के दर्शन करके अपने आपको धन्य मानते हैं, क्योंकि भगवान् एवं भगवान् का समवसरण दोनों ही मंगलमय होते हैं। यह सब व्यवहार होते हुए भी निश्चय की ओर ले जाने वाला साधन होता है। भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास होने से पुद्‌गल रूप समवसरण में भी श्रद्धा विश्वास होता है। भगवान् के प्रति श्रद्धा के प्रभाव से पुद्‌गल में भी अतिशय हो जाता है।

जिज्ञासा–यदि कोई कहता है कि यह तो पुद्‌गल में अतिशय हुआ इससे जीव को क्या प्रयोजन ?

समाधान–आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, जीव के परिणामों के बिना कहीं अतिशय नहीं होता। अतिशय होने योग्य विशुद्ध परिणामों के बिना कभी अतिशय नहीं होते। मूर्ति, मानस्तम्भ आदि को पुद्‌गल मात्र कहना उचित नहीं है। स्थापना निक्षेप से उनमें गुणों को प्रतिष्ठित किया जाता है अत: पाषाण की मूर्ति को पाषाण समझना निकाचित कर्मबन्ध का कारण भी हो सकता है।

एकीभावस्तोत्र में कहा है–

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्तिर्,
मानस्तम्भो भवति स परस्तादृशो रत्नवर्गः।
दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः॥

अर्थ–हे देव! पत्थर रूप मानस्तम्भ दूसरे पत्थरों के समान ही है सिर्फ रत्नमयी है, परन्तु दूसरे रत्नों का समूह भी वैसा ही है, ऐसा होने पर यदि उस मानस्तम्भ की वैसी शक्ति में कारण स्वरूप आपकी निकटता न होती तो वह मानस्तम्भ देखने मात्र से ही मनुष्यों के मान-अहंकाररूपी रोग को कैसे हर सकता है ? अर्थात् नहीं हर सकता।

तात्पर्य यह है कि मानस्तम्भ में मान को स्तम्भित करने की जो शक्ति आई है वह हे भगवन् ! आपकी प्रत्यासत्ति से आई है अन्यथा यह तो पाषाण का स्तम्भ मात्र होता है। कर्म के द्विस्थानीय

अनुभाग के उदय में तो यह बात समझ में आती है। उस पर विश्वास भी होता है। यदि त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय उदय आ जायेगा तो कुछ भी नहीं कर पाओगे।

स्थापना निक्षेप से स्थापित भगवान् को देखकर **इन्द्रभूति** को सम्यग्दर्शन हो गया और मानगलित हो गया। यदि इसे मात्र पुद्‌गल रूप स्वीकार करेंगे तो मान स्तम्भित करने की शक्ति का व्याख्यान नहीं किया जा सकता। त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय के उदय में उपदेश का भी प्रभाव नहीं पड़ता है। शरीरगत स्थित अरहन्त परमेष्ठी पर श्रद्धान करने से अर्थात् साक्षात् दर्शन करने से क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। ४६ मूलगुण सहित अरहन्त परमेष्ठी व्यवहार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण होते हैं। **गौतम स्वामी** ने छद्मस्थ अवस्था में **भगवान् महावीर स्वामी** को शरीर से देखा था और जिस दिन उन्हें केवलज्ञान हुआ तब महावीर भगवान् कैसे थे ? उनका अन्तरंग व्यक्तित्व कैसा था ? यह उन्हें संवेदन में आया। उस समय उन्हें परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ था। निश्चय सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन के आधार से होता है। इस प्रकार गाढ़ श्रद्धान होने पर व्यवहारस्तुति करते हुए आत्मा की स्तुति अर्थात् निश्चयस्तुति प्रारम्भ हो जाती है।

आचार्य मानतुंग स्वामी को **यैः शान्तरागरुचिभिः।** इस छन्द से अत्यधिक बल प्राप्त हुआ। यह व्यवहारभक्ति का ही स्वरूप है। इस व्यवहारभक्ति के द्वारा भी अन्तरंग में कर्म टूट रहे हैं और बाहर के बन्धन भी टूटते जा रहे हैं। इस प्रकार का व्यवहार ही निश्चय का साक्षात् साधन माना गया है। ऐसा श्रद्धान करना ही आज सम्यग्दर्शन है। **साधन के बिना कभी साध्य की प्राप्ति संभव नहीं होती।** यही साधन रूप सराग या व्यवहार सम्यग्दर्शन साधक को निर्विकल्प समाधि में वीतराग या निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण होता है। **दूध को जमाओगे, दही को मथोगे, तभी तो नवनीत का गोला प्राप्त होगा। नवनीत की प्राप्ति निश्चय है, दूध का जमाना एवं दही का मन्थन करना व्यवहार है। जैसे—दही के मन्थन की क्रिया नवनीत की प्राप्ति की ओर ले जाने में कारण होती है उसी प्रकार व्यवहारनय निश्चयनय की ओर ले जाने वाला होता है।** आप पानी का मन्थन करके नवनीत का गोला प्राप्त करना चाहते हैं, यह तो कभी सम्भव ही नहीं है। पानी को मंथन करने का श्रम भी निष्फल होता है। यदि व्यवहार गलत है तो निश्चय की ओर गति हो ही नहीं सकती। **व्यवहार के अभाव में निश्चय खपुष्पवत् है अर्थात् आकाश के फूल के समान अभाव रूप है।** अणुव्रत या महाव्रतों के पालन में दोष लगने पर प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि के द्वारा निर्दोष करना व्यवहार है पश्चात् यही निर्दोष व्रतों का पालन निश्चय व्रतों की ओर ले जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि **निश्चय इसी व्यवहार की देन है। निश्चय साध्य स्वरूप है, फलश्रुति है। व्यवहार फूल है, तो निश्चय फल है। फूल के बिना फल का दर्शन सम्भव नहीं, लेकिन फूल को ही अर्थात् व्यवहार को ही फल मानना यानि निश्चय रूप मानना भी गलत है।** अत: देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मानना व्यवहारनय का विषय है, निश्चय का नहीं। निश्चय से तो

आत्मगुणों की स्तुति करने से ही निश्चय स्तुति मानी जाती है। इसी विषय को आगे की गाथा में भी स्पष्ट किया जा रहा है।

उत्थानिका—व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोषकारक नहीं है। इसी विषय को आगे स्पष्ट करते हैं–

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥३३॥

अन्वयार्थ–(जीवादो अण्णं) जीव से भिन्न **(इणं पुग्गलमयं देहं)** इस पुद्गलमय देह की **(थुणित्तु)** स्तुति करके **(मुणी)** साधु **(मण्णदि हु)** निश्चय से मानते हैं कि **(मए)** मैंने **(केवली भयवं)** केवली भगवान् की **(संथुदो)** स्तुति की और **(वंदिदो)** वन्दना की।

अर्थ—जीव से अन्य इस पुद्गलमयी देह की स्तुति-गुणानुवाद करके मुनि भी ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति व वंदना कर ली।

जीवात्म से पृथक् भूत शरीर को ही,
वे वंदनादि करके मुनि वीतमोही।
हैं मानते नमित वंदित केवली हैं,
बाह्योपचारवश ही हमसे बली हैं ॥३३॥

व्याख्या—जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह का स्वतन करके मुनि व्यवहार से ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति और वंदना कर ली। तात्पर्य यह है कि जैसे–चाँदी के साथ मिले हुए स्वर्ण को व्यवहार से सफेद सोना कहते हैं, पर वास्तव में सोना सफेद नहीं होता। उसी प्रकार अमुक केवली भगवान् श्वेत, लाल या कमल के रंग वाले हैं इत्यादि रूप से उनके देह का स्तवन करने पर व्यवहार से उनकी आत्मा का स्तवन हो जाता है, किन्तु निश्चय से नहीं।

जीव से पृथक्भूत देह पुद्गलमयी है। व्यवहारनय से जीव और देह को एक माना है। इसलिए व्यवहारनय से ही देह की स्तुति करने से भगवान् की स्तुति स्वीकार की गई है। यदि व्यवहार से भी देह और जीव एक नहीं कहे जाते तो देह के श्रृंगार से अपना श्रृंगार क्यों माना जाता ? देह को भोजन देने से आत्मा तृप्त क्यों होता ? आहार की इच्छा चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव को होती है, शरीर को नहीं, किन्तु भोजन शरीर को खिलाया जाता है। भोजन करने के उपरान्त सन्तुष्टि का अनुभव जीव को होता है। इसलिए कथंचित् जीव और शरीर में एकत्व स्वीकार किया गया है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा दोनों में भेद स्पष्ट है। इसी व्यवहार की अपेक्षा देह की सुरक्षा से जीव की सुरक्षा को भी स्वीकार किया गया है। जिससे अहिंसा धर्म की सुरक्षा भी होती है। व्यवहार से ही जिनबिम्ब एवं देहस्थ अरहन्त आदि परमेष्ठी को स्वीकार किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यवहार पक्ष भी अपने आप में मजबूत पक्ष है इसे लचकदार नहीं समझना चाहिए, क्योंकि व्यवहार

ही व्यवहार वाले को उठा सकता है। समीचीन व्यवहार ही निश्चयपक्ष को ऊँचा उठाता है, निश्चय स्वयं ऊँचा नहीं उठता। **आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र** जैसे कहते हैं कि–**भक्ति के द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है और गुप्ति के द्वारा आत्मसिद्धि होती है। हमें तो पहले भगवान् की भक्ति करना है। भगवान् की भक्ति करने से, भगवान् का स्मरण करने से भी परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति होती है। भक्तामरस्तोत्र** में कहा ही है कि–

त्वत्संस्तवेन भवसन्तति सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु ,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

अर्थ–हे नाथ! आपकी स्तुति से प्राणियों के अनेक भवों के बंधे हुए पापकर्म सम्पूर्ण लोक में फैले हुए भौरों के समान काले सूर्य की किरणों से खण्डित रात्रि सम्बन्धी समस्त अन्धकार की तरह क्षण भर में शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् का दर्शन, भगवान् की भक्ति से भक्त के पाप विनष्ट होते हैं।

आप लोग भगवान् के कितने बार दर्शन करते हैं, फिर भी एक बार भी भगवान् आते हैं क्या? सिद्ध परमेष्ठी तो आते नहीं, दिखते भी नहीं, तो क्या पंचपरमेष्ठी में से एक संख्या कम कर दें ? नहीं, ऐसा कभी नहीं किया जा सकता। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने स्वयं **बृहत्स्वयंभूस्तोत्र** में कहा है कि–

स्तुतिः स्तोतुः साधोः, कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन् मा वा स्तुत्यः, फलमपि ततस्तस्य च सतः।

अर्थात् स्तुति के समय स्तुत्य सामने रहे या न रहे परन्तु स्तुति का फल तो कुशल परिणाम के लिए कारण होता है। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** का स्तुति से परिपूर्ण विशुद्ध नमस्कार को पिण्डी भी सहन नहीं कर पायी। उनके नमस्कार से चमत्कार हो गया। पिण्डी के स्थान पर चन्द्रप्रभ भगवान् प्रकट हो गए। आज प्रत्येक भक्त चमत्कार चाहता है, लेकिन चमत्कार के योग्य विशुद्ध नमस्कार का कोई ख्याल ही नहीं करता।

आज वर्तमान में कहीं व्यवहार पिट रहा है तो कहीं निश्चय पुज रहा है। साधक श्रमण भगवान् की स्तुति, वंदना, दर्शन आदि करते हैं। वे देह को आत्मा समझकर या देह रूप आत्मा होने से वंदना नहीं करते किन्तु शरीरस्थ आत्मा की उनकी वीतरागता की वन्दना करते हैं। उनकी यह प्रवृत्तिपरक वंदना व्यवहार से मानी जाती है। निवृत्ति के समय आत्मा का आधार लेकर उनके गुणों का चिन्तन गुप्त्यात्मक किया जाता है। प्रवृत्ति के समय उक्त प्रकार वंदना करना उनका आवश्यक होता है। व्यवहारनय का विषय शरीर सो आत्मा नहीं, किन्तु शरीर में आत्मा है। शरीरगत आत्मा का आधार लेकर उसकी स्तुति, वंदना की जाती है। जैसे–सोने चाँदी के मिश्रण से एक आभरण निर्मित होता है

वह मिश्रण की अपेक्षा एक है किन्तु लक्षण की अपेक्षा भिन्न है, फिर भी व्यवहार में उसे सफेद स्वर्ण से निर्मित कहा जाता है, निश्चय से नहीं। उसी प्रकार अरहन्त भगवान् सफेद, लाल आदि वर्ण वाले हैं, यह व्यवहार से स्तवन हुआ। उसे इस जड़ शरीर का स्तवन नहीं समझना चाहिए, किन्तु शरीर में स्थित केवली भगवान् का स्तवन समझना चाहिए।

जिज्ञासा—शरीर शरीर में है, आत्मा आत्मा में है, ऐसा एकान्त मानने में क्या दोष है ?

समाधान—यदि कोई कहता है कि आत्मा आत्मा में है, शरीर शरीर में है, ऐसा एकान्त है तो मात्र कर्मों के क्षय से मुक्ति मानो, नोकर्म के क्षय से भी क्यों मानते हो ? जब एकान्त आ जाता है तो व्यवहार वाला निश्चय को भूल जाता है। और निश्चय वाला व्यवहार को भूल जाता है। इसलिए आचार्य ऐसे शिष्य को सावधान करते हुए कहते हैं कि निश्चय सापेक्ष व्यवहार और व्यवहार सापेक्ष निश्चय को स्वीकार करना चाहिए। इसी विवक्षा से वस्तु तत्त्व का समीचीन निर्णय एवं ज्ञान होता है। इसी विवक्षा को ध्यान में रखकर यहाँ व्यवहारनय से केवली भगवान् की स्तुति को स्वीकार किया है। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में मुनि रहे एवं गृहस्थ अवस्था में सम्यग्दृष्टि थे तो उस समय २२५ कमलों की रचना क्यों नहीं हुई ? समवसरण की रचना क्यों नहीं हुई? इसका समाधान यही है कि ये सभी अतिशय केवलज्ञान होने पर ही होते हैं। इसलिए व्यवहारनय के आश्रय से केवली भगवान् की अष्टभूमि मण्डित समवसरण में स्थित अष्टप्रातिहार्य सहित एवं विहार में २२५ कमलों से सहित वैभवयुक्त स्तुति की गई है।

मार्गणा प्रकरण में कथन है कि क्षायिकसम्यग्दर्शन की प्राप्ति केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में ही होती है। उनकी साक्षात् सन्निधि में ही तद्योग्य विशुद्धि प्राप्त होती है। साकार उपयोग वाला मनुष्य ही क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रस्थापक होता है। निष्ठापक कोई भी गति वाला एवं दर्शनोपयोग वाला भी हो सकता है। निर्विकल्प ध्यान की अवस्था में क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रस्थापक नहीं होता। जो कृतकृत्य वेदक हो चुका है वह यदि बद्धायुष्क है तो तिर्यंचायु, मनुष्यायु वाला भोगभूमि में चला जाता है और देवगति में स्वर्गादिक में, वैमानिक देवों में जाता है तथा नरकायु वाला है तो मात्र प्रथम पृथिवी में ही जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन को जहाँ कहीं बैठकर विशुद्धि बढ़ाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसे तो कर्मभूमि का संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक साकार उपयोग वाला, क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि पुरुष ही केवली-श्रुतकेवली की सन्निधि में ही प्राप्त करने का अधिकारी होता है, अन्य कोई नहीं और अन्यत्र भी नहीं।

सम्यग्दर्शन के दो भेद निसर्गज एवं अधिगमज की अपेक्षा हैं। तीन भेद भी हैं—१. उपशम सम्यग्दर्शन, २. क्षयोपशम सम्यग्दर्शन एवं ३. क्षायिक सम्यग्दर्शन। इन तीनों में से क्षायिक को छोड़कर शेष दो सम्यग्दर्शन संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, साकार उपयोग वाला चारों गति का कोई भी जीव प्राप्त कर सकता है। ये सभी जीव यथायोग्य जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन,

वेदना आदि साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। नरकगति में भी तृतीय पृथ्वी तक देवों के द्वारा धर्मश्रवण को प्राप्त करके कोई भी नारकी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। वहीं के सम्यग्दृष्टि नारकी दूसरे मिथ्यादृष्टि नारकी को धर्मश्रवण नहीं करा सकते, क्योंकि वहाँ परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव का अभाव होता है। केवली भगवान् के उपदेश से किसी भी मनुष्य को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। केवली भगवान् अनन्त उपकारी हैं, इसलिए उनकी निश्चय एवं व्यवहार दोनों नयों की विवक्षा में अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार की स्तुति की गई है। उनके वीतरागी निर्ग्रन्थ अवस्थामय दिगम्बरत्व की भी स्तुति की गई है। उस दिगम्बरत्व में तिल के मध्य तेल के समान शिव स्वरूप विद्यमान होता है। इसलिए वह स्तुति के योग्य सिद्ध हैं ही।

जिज्ञासा—यदि तिल के मध्य तेल के समान देह में स्थित शिव स्तुति के योग्य है तो वटवृक्ष, पाषाण आदि में भी शिव रूप जीव विद्यमान होने से उसे भी पूज्य माना जा सकता है क्या? यदि हाँ, तो वह भी स्तुति के योग्य सिद्ध हो जायेगा ?

समाधान—नहीं, जैसा आप सोच रहे हैं वैसा नहीं कहा जा सकता। अर्थात् बड़ में स्थित शिव रूप जीवत्व होने से उसे पूज्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनके जीवत्व में केवलित्व प्रकट नहीं हुआ है। जबकि केवली भगवान् के केवलित्व प्रकट हो जाता है। इसलिए वे पूज्य होते हैं। मुनि अवस्था में रत्नत्रय धर्म विद्यमान होने से उनका दिगम्बरत्व युक्त शरीर भी पूज्य माना जाता है। हाँ, एकेन्द्रिय आदि सभी जीव में शुद्धत्व की शक्ति विद्यमान है, इसलिए उन्हें ध्यान का विषय अवश्य ही बनाया जा सकता है। पर्याय को गौण करके द्रव्य की अपेक्षा ध्येय रूप माना गया है। **द्रव्यसंग्रह** ग्रन्थ में भी कहा है कि–**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** अर्थात् सभी जीव शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धशक्ति युक्त हैं। अतः सामान्य से सभी जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले हैं, इस प्रकार वे सभी चिन्तन योग्य हैं। फिर भी सभी जीवों में से पंचपरमेष्ठी को धर्मध्यान का विषय बनाने की प्राथमिकता दी गई है, क्योंकि यदि सभी जीवों को पर्याय प्रधान दृष्टि से ध्यान का विषय बनायेंगे तो कोई खा रहा है, कोई पी रहा है, कोई हंस रहा है, कोई रो रहा है, कोई सो रहा है, कोई जाग रहा है, कोई अमीर है, कोई गरीब है, कोई अंधा, बहरा है, कोई नेत्र एवं कर्णयुक्त है, इत्यादि विभिन्न अवस्थाओं में ध्यान की एकाग्रता नहीं बन सकती। अतः प्राथमिक अवस्था में पंचपरमेष्ठी को ध्यान का विषय बनाओ, ऐसा कहा है। परिपक्व अवस्था में या अभ्यस्त अवस्था में द्रव्य, गुण, पर्याय किसी को भी ध्येय बना सकते हैं।

जिज्ञासा—शिष्य कहता है कि पंचपरमेष्ठी में भी आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी तो आहार करते हैं, विहार करते हैं, कभी-कभी थोड़ी बहुत कषाय भी करते हैं, यदि मेरा ध्यान एकाग्र नहीं होता तो फिर क्या करें ?

समाधान—उक्त जिज्ञासु शिष्य को समाधान देते हुए गुरु महाराज कहते हैं कि हे शिष्य! तुम्हारी

पर्याय की ओर दृष्टि जाने से, उनकी उक्त क्रियाओं की ओर दृष्टि जाने से यदि उनमें ध्यान एकाग्र नहीं होता, तो अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करो। उन्हीं का चिन्तन करो।

जिज्ञासा—पुनः शिष्य कहता है कि भगवन्! यदि अरहन्त भगवान् का ध्यान करते हैं तो वे भी समवसरण में स्थित हैं, उन पर चौसठ चँवर ढुर रहे हैं। पुष्पवृष्टि हो रही है, विहार कर रहे हैं, उपदेश दे रहे हैं, इत्यादि सभी क्रियायें दिखने से मेरा ध्यान अरहन्त परमेष्ठी में भी स्थिर नहीं हो पाता। ध्यान में बाधा आती है, अतः अन्य कोई दूसरा उपाय बताइये ?

समाधान—हे शिष्य! यदि पूर्वोक्त कारणों से तेरा ध्यान अरहन्तपरमेष्ठी में भी एकाग्र नहीं होता तो सिद्ध-सिद्ध करो अर्थात् सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करो वे तो उक्त समस्त क्रियाओं से रहित हैं, आत्मस्वरूप में स्थित हैं। सिद्ध परमेष्ठी के चिन्तन में उपयोग एकाग्र हो सकता है।

जिज्ञासा—शिष्य पुनः कहता है कि गुरुवर ! आपने कहा सिद्ध-सिद्ध करो, यह ठीक है, लेकिन सिद्ध परमेष्ठी भी तो हमसे पृथक् हैं उनका ध्यान करने से क्या होगा ? द्रव्य की पृथकता के कारण उनमें भी ध्यान स्थिर हुआ या नहीं, हम नहीं कह सकते, अतः ध्यान का अन्तिम कोई अन्य उपाय बताइये ?

समाधान—आत्मस्वभाव में स्थित सिद्ध परमेष्ठी भी यदि पृथक् द्रव्य होने के कारण तुझे पराश्रित अनुभूत हो रहे हैं तो फिर अन्तिम एक ही उपाय हो सकता है कि "अपनी आत्मा का ध्यान करो।" आत्मा का ध्यान मात्र करना, अब मेरे पास नहीं आना। शिष्य कहता है कि ठीक है, कोशिश करूँगा, परन्तु आपके बिना कैसे रहूँगा।

आचार्य कहते हैं कितना कठिन होता है, अपनी आत्मा का ध्यान करना। कहना अलग होता है और करना अलग होता है। दूसरों को समझाकर अपने आप में स्थिर होना होता है। ये कार्य चारों परमेष्ठी करते हैं। फिर भी सभी के कार्यों में भिन्नता होती है। अरहन्त परमेष्ठी उपदेश मात्र देते हैं। मार्गदर्शन या प्रायश्चित आदि नहीं देते, किन्तु आचार्य परमेष्ठी उपदेश के साथ-साथ सही मार्गदर्शन भी देते हैं। शिष्यों से गलती होने पर उन्हें प्रायश्चित भी देते हैं। उन्हें डाँटते भी हैं। उपाध्याय परमेष्ठी अध्यापन कराते हैं एवं साधु परमेष्ठी ज्ञान-ध्यान तप की साधना में संलग्न रहते हैं। व्यवहार की स्थिति में अपने-अपने योग्य समस्त भूमिकाओं का निर्वाह किया जाता है। गणधर परमेष्ठी भी **णमो लोए सव्वसाहूणं** कहकर तीन कम नौ करोड़ मुनिराजों को स्मरण करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं किन्तु ध्यान में बैठते हैं तो आत्मा का ध्यान करते, ध्यान में आत्मा से आत्मा की बात करते हैं। ध्यान से निवृत्त होने पर **णमो लोए सव्वसाहूणं** की व्याख्या भी करते हैं, स्वयं अर्हत् द्वारा प्रणीत मार्ग का अनुकरण करते हैं। व्यवहार में अनेक भेद होते हैं किन्तु निश्चय अभेद रूप होता है। उस अभेद स्वरूप निश्चय के पास व्यवहार के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। उस निश्चय का प्ररूपण भी व्यवहार के द्वारा ही होता है। जिसने बी० ए०, बी० एस-सी० नहीं किया वह एम० ए० या एम० एस-सी० कैसे कर सकता

है ? यह क्रम है। योग्यता हो तो यहाँ युगपत् प्रथम से सप्तम गुणस्थान को प्राप्त किया जा सकता है। व्यवहार को सम्यक् रूप से समझने का प्रयास करो। यह व्यवहार वर्तमान में हार(माला) के समान है। निश्चय में तो एक मणि होती है वह माला रूप नहीं होता। **मुनिराज जब व्यवहार में होते हैं तो माला रूप होते हैं और निश्चय में एक आत्मध्यान रूपी मणि रूप होते हैं। जब वे एक आत्मध्यान रूपी मणि में लीन होते हैं तो वे ही अन्तर्मुहूर्त में १००८ मणि रूप केवलज्ञान की अवस्था को प्राप्त करते हैं।** अन्त में यही कहना चाहूँगा कि आप सभी तत्त्वजिज्ञासु व्यवहार को समझो, निश्चय को समझो। व्यवहार का फल समझो और निश्चय का फल समझो और दोनों को स्वीकार करो।

उत्थानिका—आगे इसी विषय को दृढ़ करते हैं, कि निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली भगवान् का स्तवन नहीं होता–

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥३४॥

अन्वयार्थ—**(तं)** वह स्तवन **(णिच्छये ण जुज्जदि)** निश्चयनय से योग्य नहीं है **(हि सरीरगुणा)** क्योंकि शरीर के गुण **(केवलिणो)** केवली के गुण **(ण होंति)** नहीं होते हैं **(जो)** इसलिए जो **(केवलिगुणे)** केवली के गुणों की **(थुणदि)** स्तुति करता है **(सो)** वह **(तच्चं)** परमार्थ से **(केवलिं)** केवली की **(थुणदि)** स्तुति करता है।

अर्थ—पूर्व गाथा में कथित बात निश्चयनय से घटित नहीं होती, क्योंकि शरीर के पुद्गलमयी गुण केवली के नहीं हो सकते। अतः निश्चयनय में तो जब केवली के ज्ञानादि गुणों का स्तवन करता है, तभी केवली भगवान् का स्तवन समझा जाता है।

होती शरीर स्तुति केवलि की नहीं है,
औचित्य देह गुण केवलि में नहीं है।
वीर्यादि अव्यय अनन्त अपूर्व धी की,
जो भी करे स्तुति वही स्तुति, केवली की ॥३४॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकार से देह का स्तवन करने पर जो केवली का स्तवन है वह निश्चयनय को मान्य नहीं है, क्योंकि शरीर के गुण केवली के अपने आत्मगुण नहीं हो सकते। तब केवली का स्तवन कैसा होता है ? जो जीव केवली के अनन्तज्ञानादिक गुणों का वर्णन करता है वही वास्तव में केवली भगवान् का स्तवन करने वाला होता है। भावार्थ यह है कि जैसे–शुक्ल वर्ण वाली चाँदी के कथन से स्वर्ण का कथन नहीं होता। वैसे ही केवली के शरीर में होने वाले शुक्लादि वर्णों के स्तवन को चिदानन्द एक स्वभाव वाले केवली भगवान् का स्तवन निश्चय से नहीं माना जा सकता।

निश्चय से केवली के गुणों की स्तुति से ही केवली की स्तुति होती है। पर के आधार लेने से

जो प्रवृत्ति होती है वह स्व के आधार लेने से नहीं होती। स्व का आधार लेने से पूर्ण निवृत्ति ही होती हो, ऐसा एकान्त रूप से नहीं कह सकते। लेकिन स्व का आधार लेने से ही पूर्ण निवृत्ति की अवस्था प्राप्त होती है, यह सत्य है। मैं ज्ञानवान हूँ, मैं दर्शनवान हूँ, इत्यादि विकल्प तो ध्यान में भी चलते हैं। कक्षाएँ जब तक रहेंगी तब तक जिस कक्षा में हैं, उसके अतिरिक्त अन्य कक्षाओं का विकल्प तो नहीं रहता, लेकिन उसी कक्षा के विषय तो बदलते ही रहते हैं, किन्तु जब कक्षाओं से ऊपर उठ जाता है तब विषय एक ही रहता है, उसी का सूक्ष्मता से गहन अध्ययन होता है।

दृष्टान्त—जैसे हवाई विमान में तीन पहिये होते हैं, उनके बल पर सर्वप्रथम वह हवाई अड्डे पर जमीन पर उड़ने की क्रिया को या ऊपर उठने की क्रिया को प्रारम्भ करता है। धीरे-धीरे वह ऊँचा उठता जाता है। उस समय तीनों पहिये दिखाई नहीं देते। बाहर की भीड़ भी दिखाई नहीं देती और बाहर की आवाज भी भीतर नहीं आती। तभी उड़ान में व्यक्ति को आनन्द आता है। बाहर के पदार्थों को देखने का, जानने का वहाँ कोई विकल्प नहीं होता, क्योंकि वहाँ की स्थिति वैसी ही होती है, किसी को खिड़की खोलकर यहाँ-वहाँ झाँकने की आज्ञा ही नहीं होती। उसी प्रकार मुनि के जीवन में साधना के क्षेत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी तीन पहिये होते हैं। जिस समय मुनि का जीवन प्रवृत्तिमय होता है उसमें उन्हें ऊपर उड़ान जैसा निर्विकल्प आनन्द नहीं आता, किन्तु जब वे मुनिराज निवृत्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यान की उड़ान में लीन हो जाते हैं उस समय रत्नत्रय रूपी तीनों पहिये अभेद स्वरूप हो जाते हैं। वहाँ इन्द्रिय रूपी खिड़कियाँ बन्द हो जाती हैं। फलस्वरूप बाह्यपदार्थों को देखने-जानने का कोई विकल्प नहीं रहता। एकमात्र आत्मध्यान का आनन्द प्राप्त होता रहता है।

सातिशय अप्रमत्त नामक सप्तम गुणस्थान से १२ वें क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक निवृत्तिरूप ध्यानावस्था चलती रहती है। १३ वें और १४ वें गुणस्थान का ध्यान उक्त ध्यान की अवस्था से पृथक् होता है। छद्मस्थ अवस्था में ध्यान के समय कभी दर्शनोपयोग, कभी ज्ञानोपयोग बदलता रहता है किन्तु सयोग एवं अयोगकेवली गुणस्थान में उपयोग का परिवर्तन नहीं होता। छद्मस्थ अवस्था में कोई ध्याता मतिज्ञानी होता है कोई श्रुतज्ञानी होता है। कोई दर्शनोपयोगी होता है। कोई मनोयोगी, कोई वचन योगी, कोई काययोगी होता है। किसी के योग परिवर्तन होता है, किसी के नहीं होता, किन्तु सयोग केवली एवं अयोगकेवली के केवलज्ञान और केवलदर्शनोपयोग ही होता है और दोनों युगपत् होते हैं। योग के विषय में सयोगकेवली के ध्यान के समय सूक्ष्मकाययोग होता है और अयोगकेवली योगरहित होते हैं। छद्मस्थ अवस्था में **एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं** कहा है जबकि केवली के योगनिरोध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ अवस्था में उपयोग की व्यग्रता का निरोध होता है जबकि केवली में योग की व्यग्रता का निरोध होता है।

प्रस्तुत गाथा में कहा है कि **तं णिच्छये** निश्चय कहने से यहाँ उपादान को ग्रहण करना चाहिए। उपादान या निश्चय अभेद रूप होता है, निमित्त या व्यवहार भेद रूप होता है। इस विषय पर श्रद्धान

करने से सम्यग्दर्शन सुरक्षित रहता है। श्रुतकेवली पर भी श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। कौन से श्रुतकेवली पर श्रद्धान की बात है ? १२ अंग १४ पूर्व के धारक श्रमण मुनि पर श्रद्धान प्रमुख है। वैसे तो स्वर्गों में भी लौकान्तिक देव, इन्द्र आदि को भी द्वादशांग का ज्ञान होता है किन्तु उन पर श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रसंग नहीं है। बारह अंगों में से १२ वाँ अंग जनरल हिन्दी के समान तथा ११ अंग लिटरेचर हिन्दी अर्थात् साहित्यिक हिन्दी भाषा जैसा है। लोक व्यवहार साहित्यिक भाषा से नहीं, किन्तु बोलचाल की भाषा से होता है। मूलाचार आदि आचारांग के अन्तर्गत अंगबाह्य रूप जनरल हिन्दी जैसे हैं।

यह व्यवहार और निश्चय अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आप लोगों ने दूसरे भाग में अरहन्त भगवान् के ४६ मूलगुण पढ़े हैं। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने भी जहाँ कहीं भी इन गुणों का वर्णन जिन गाथाओं में किया है, वह बहुत ही मार्मिक है। उन्होंने

हिंसारहिये धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

(मोक्खपाहुड)

अर्थात् हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोषों से रहित सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अर्हत्प्रवचन–समीचीन शास्त्र में जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अनन्तचतुष्टय सहित देव, ऐसा नहीं कहा, क्योंकि अनन्तचतुष्टय गुण दिखाई नहीं देते। अठारह दोष दिखने में आते हैं। इसलिए उनसे रहित देव अरहन्त भगवान् होते हैं, ऐसा कहा। सर्वज्ञत्व भी बाहर से देखने में नहीं आता। ''मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में वीतरागता आ सकती है, परन्तु सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में सर्वज्ञत्व दिखने में नहीं आता।'' चारित्र मोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम भी नहीं दिखता। हजारों योजनों दूर का बिम्ब चक्रवर्ती को दिख सकता है लेकिन कर्मों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहीं दिखता, मात्र श्रद्धान का विषय बनता है। अठारह दोषों से रहित वीतरागता नेत्र इन्द्रिय का विषय बन जाती है। देव भी अचक्षुदर्शन द्वारा कर्म को नहीं देख सकते। आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग बाहर से दिखने में नहीं आता। बाह्य परिग्रह का त्याग देखने में आता ही है। इसलिए **हिंसारहिए धम्मे** इसका वीतराग मुद्रा के माध्यम से ज्ञान होता है। भगवान् का विहार होता है किन्तु आहार के निमित्त नहीं होता। वे श्रमण नहीं, श्रमणोत्तम हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान वाले श्रमण ही आहारचर्या हेतु विहार करते हैं। इस प्रकार के समस्त व्यवहार देखने में आते हैं। इनको देखकर भी श्रद्धान होता है। व्यवहार के द्वारा ही किसी की परीक्षा होती है। निश्चय परीक्षा के योग्य नहीं होता।

भगवान् में अठारह दोष नहीं होते ऐसा बताना भी उनकी स्तुति है, उनका गुणानुवाद है। ये क्षुधाविजयी हैं, इनमें हर्षविषाद नहीं होता आदि कथन करने से उनके गुणों का अस्तित्व विदित होता है। निश्चय नय से शरीर आदि से रहित मात्र केवली के आत्मिक गुणों की स्तुति की जाती है, किन्तु

व्यवहारनय से शरीराश्रित गुणों के द्वारा भी केवली की स्तुति की जाती है। उक्त दोनों स्तुतियों को समझने के लिए दृष्टान्त द्वारा कथन करना आवश्यक है, अतः आगे की गाथा में दृष्टान्त द्वारा उक्त विषय को स्पष्ट करते हैं।

उत्थानिका—आत्मा शरीर का धारक होने पर भी शरीर मात्र के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन निश्चय से नहीं माना जा सकता। इसी को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है–

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३५॥

अन्वयार्थ—**(जह)** जैसे **(णयरम्मि)** नगर का **(वण्णिदे)** वर्णन करने पर **(रण्णो वण्णणा)** राजा का वर्णन **(ण कदा वि)** कभी भी नहीं **(होदि)** होता। [वैसे ही] **(देहगुणे थुव्वंते)** शरीर के गुण का स्तवन करने पर **(केवलिगुणा)** केवली के गुणों का **(थुदा ण होंति)** स्तवन नहीं होता।

अर्थ—जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता, इसी तरह देह के गुणों की स्तुति करने पर केवली भगवान् के गुणों की स्तुति नहीं होती।

होता नहीं नगर वर्णन से कदापि,
भूपाल का स्तवन जो बुध है प्रतापी।
तो देह का विशद वर्णन तू करेगा,
कैसा भला स्तवन केवलि का बनेगा ? ॥३५॥

व्याख्या—जैसे नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार देह के गुणों की स्तुति करने से केवली भगवान् के गुणों की स्तुति नहीं होती, यह निश्चयनय से जानना चाहिए। बार-बार इसी विषय को कहा जा रहा है। बार-बार कहने का उद्देश्य यह है कि पात्र कैसे भी लक्ष्य तक पहुँच जाये। **आचार्य ज्ञानसागर** महाराज प्रायः यह उदाहरण देते थे कि–

दृष्टान्त—जिस प्रकार हाथी के समक्ष चूरमा के लड्डू को चूर्ण बनाकर दे देते हैं तो वह उन्हें सूँड से ऊपर की ओर उछाल देता है, खाता नहीं है। मिट्टी समझकर सूँड से फेंक देता है। लेकिन हाथी का मालिक महावत लड्डू को हाथ में लेकर उसे घास में मिलाकर देता है तो हाथी उसे खा लेता है। उस समय हाथी को लड्डू का स्वाद अलग से तो नहीं आता परन्तु घास के साथ उसका स्वाद आता तो है ही। उसी प्रकार यहाँ पर कहा जा रहा है कि देह के गुणों की स्तुति करने से केवली भगवान् के गुणों की स्तुति तो नहीं होती, फिर भी केवली भगवान् की स्तुति के आनन्द का आस्वादन आता तो है ही। यह एकान्त नहीं है कि देह की स्तुति से केवली भगवान् की स्तुति ही नहीं मानी जाती।

आगम में निश्चय और व्यवहार नय की अपेक्षा अपने-अपने ढंग से वर्णन करके भगवान् की प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार से स्तुति बतलाई है। इसे निम्न दृष्टान्त से समझ सकते हैं–

दृष्टान्त—जैसे कोई-कोई वैद्य रोगी को औषधि का प्रयोग करने के पूर्व बकरी या गाय को

औषधि सम्बन्धी वनस्पति खिलाकर उसके दूध का सेवन कराते हैं और कोई-कोई वैद्य रोगी की क्षमता के अनुसार साक्षात् औषधि का सेवन कराते हैं। दोनों को औषधि का सेवन कराया गया, किन्तु प्रथम रोगी को अप्रत्यक्ष रूप औषधि का सेवन कराया, द्वितीय को प्रत्यक्ष औषधि दी गई। औषधि का सेवन दोनों ने किया। दोनों के रोग पर औषधि का प्रभाव पड़ता ही है। उसी प्रकार प्राथमिक अवस्था में केवली की साक्षात् आत्मगुणों की स्तुति न करके शरीर के गुणों के द्वारा, अठारह दोषों से रहित वीतरागता के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से स्तुति की जाती है।

आचार्य परमेष्ठी भी हमेशा निश्चयस्तुति ही करते हों, ऐसा नहीं है। वे देहस्थ केवली की व्यवहारस्तुति भी करते हैं। वे हमेशा निश्चय में ही लीन रहते हों, ऐसा नहीं है किन्तु वे जब प्रवृत्ति में आते हैं उस समय देव, गुरु, शास्त्र की स्तुति करते हैं।

दक्षिण में पूजन के समय जब चन्दन चढ़ाते हैं तो **सुगन्धित शरीरप्राप्तये** बोलते हैं। कहने का मतलब यह है कि तीर्थंकर भगवान् का शरीर पवित्र होता है। उनका परमौदारिक शरीर, सप्तधातु से रहित होता है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सोलहकारण भावनाओं के द्वारा होता है। ऐसे केवलज्ञानादि से विभूषित तीर्थंकर को उनके जैसे सुगन्धित शरीर की प्राप्ति के लिए चन्दन चढ़ाते हैं।

जिज्ञासा—सुगन्धित शरीर की प्राप्ति के लिए चन्दन क्यों चढ़ाते हैं ?

समाधान—सुगन्धित शरीर की प्राप्ति के पीछे तीर्थंकर प्रकृति एवं उसके कारणभूत सोलहकारण भावनाओं का राज छुपा होता है। श्वेत रुधिर होना, स्वेदरहित होना, इत्यादि शारीरिक विशेषतायें भी अपना एक महत्त्व रखती हैं।

तृतीय पृथ्वी तक तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व वाले रहते हैं। उन्हें वहाँ मरण से छह माह पूर्व वज्रकपाट से सुरक्षा हो जाती है, उसके पहले नहीं। यह तीर्थंकर प्रकृति का प्रभाव है। अन्य नारकी उन पर प्रहार नहीं कर पाते। यह व्यवस्था तीर्थंकर प्रकृति वाले सम्यग्दृष्टि के लिए होती है। तीर्थंकर प्रकृतिबन्ध रूप कार्य दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं से ही होता है। कारण के बिना कार्य नहीं होता यह एक व्यवस्था है। अपने यहाँ कारण-कार्य की सुदृढ़ व्यवस्था पर सारा आगम टिका हुआ है।

पंचेन्द्रिय के विषयों एवं कषायों को जीतने वाले जिन कहलाते हैं। छद्मस्थ अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है। उनमें भी अन्य उपकरणों की सहायता की आवश्यकता हो जाती है। जैसे हम आँखों से देखते हैं, किन्तु आँखें कमजोर होने पर चश्मे की आवश्यकता पड़ती है। सभी जीवों में एक समान क्षयोपशम नहीं होता। चक्रवर्ती को अपने महल से मकरसंक्रान्ति के समय सूर्य विमान में स्थित जिनबिम्ब का दर्शन बिना चश्मे के ही हो जाता है। अन्य सदस्यों या सेनापति आदि को दर्शन नहीं होता, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट क्षयोपशम चक्रवर्ती को ही होता है। अरहन्त भगवान् तो केवलज्ञान से युक्त होते हैं, उन्हें इन्द्रिय के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए वे

इन्द्रियविजेता कहलाते हैं। ऐसे इन्द्रियविजेता की स्तुति निश्चयस्तुति की गई है।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार स्तुति रूप से चार गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे प्रश्न होता है कि यदि देह के गुणों का वर्णन करने से निश्चयस्तुति नहीं होती तो, वास्तविक स्तुति क्या है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि जो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप पाँचों इन्द्रियों के विषयों को स्वसंवेदन भेदविज्ञान के बल से जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है वह जिन है, वही जितेन्द्रिय है, इस प्रकार निश्चयस्तुति होती है। इसी बात को आगे की गाथा में कहते हैं–

जो इंदिए जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३६॥

अन्वयार्थ—(जो इंदिए) जो इंद्रियों को **(जिणित्ता)** जीतकर **(णाणसहावाधियं)** ज्ञान-स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक **(आदं मुणदि)** आत्मा को जानते हैं **(तं खलु)** उसको **(जे णिच्छिदा साहू)** जो निश्चय में स्थित साधु हैं **(ते जिदिंदियं)** वे जितेन्द्रिय **(भणंति)** कहते हैं।

अर्थ—निश्चय में तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्मा का अनुभव करने वाले साधु लोग उसको जितेन्द्रिय कहते हैं, जो इन्द्रियों को वश में करके अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है।

पूरा किया दमन इन्द्रिय काय का है,
देखा चखा स्वयं का रस बोध का है।
होता वही मुनि सही निज अक्षजेता,
ऐसा कहें जिन निजामृत के समेता ॥३६॥

व्याख्या—स्पर्श आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय तो ज्ञेय हैं और उनको जानने वाली द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियरूप स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियाँ हैं। उनका जीव के साथ जो संयोग सम्बन्ध है वही दोष है। उस दोष को जो परम समाधि के बल पर जीत लेता है वही जिन है, यही प्रथम निश्चयस्तुति है।

अट्ठाईस मूलगुणों से युक्त साधु कहलाते हैं। इनमें पंचेन्द्रिय निरोध रूप पाँच मूलगुण भी हैं। इनमें से यदि एकाध गुण नहीं है तो वह सह्य नहीं है, फिर जिनके पाँचों ही गुण न हों कि वे साधु कैसे हो सकते हैं ? पंचेन्द्रिय विषयों के विजय रूप जो पुरुषार्थ करते हैं उन्हीं साधु के इन्द्रियविजय रूप पाँच मूलगुण सुरक्षित रहते हैं। वे ही जितेन्द्रिय कहलाते हैं। इन्द्रियविजय का साधन ध्यान है। इन्द्रियविजय से बन्ध नहीं, किन्तु संवर, निर्जरा होती है। अट्ठाईस मूलगुणों का संकल्प लेते ही प्रतिसमय असंख्यात गुणी निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। खाते-पीते, उठते-बैठते, पढ़ते-लिखते यहाँ तक कि सोते समय भी निर्जरा होती रहती है। निर्विकल्प समाधि में स्थिर होने से अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभागसत्त्व में कमी तथा प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती जाती है। शुभ-शुभ प्रकृतियों

का बहुलता से आस्रव प्रारम्भ हो जाता है। सभी कार्य ओवर ड्यूटी के समान होते चले जाते हैं।

दृष्टान्त—एक सामान्य ड्यूटी होती है इसमें जितना वेतन निश्चित होता हे उतना मिलता है। दूसरी ओवर ड्यूटी होती है इसमें वेतन बढ़ता है। उसी प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों का सामान्य पालन करने से जितनी कर्मनिर्जरा का वेतन निश्चित होता है वही मिलता है लेकिन साधक जब निर्विकल्प समाधि रूप शुद्धोपयोग में लीन होते हैं तब ओवर ड्यूटी के समान संवर-निर्जरा रूप वेतन बढ़ता जाता है। कारण के अनुसार कार्य होता है।

कारण दो प्रकार के होते हैं–१. उपादानकारण, २. निमित्तकारण। उपादानकारण निश्चयरूप होता है और निमित्तकारण व्यवहार रूप होता है। निश्चय का अर्थात् उपादान का जो मित्र होता है वह निमित्त होता है। समझने के लिए मानों देखना यह निश्चय है तो देखने में सहयोगी चश्मा निमित्त का काम करता है। निश्चय योगी है तो निमित्त सहयोगी होता है। निमित्त कभी भी उपादान रूप परिणत नहीं होता और उपादान कभी निमित्त रूप परिणत नहीं होता। निमित्त और उपादान की भूमिका को समझने के लिए एक दृष्टान्त लिया जा सकता है।

दृष्टान्त—जैसे मथानी से दही का आलोढ़न हो रहा है। दही को मथा जा रहा है। दही को मथने से छाछ अलग और नवनीत अलग हो जाता है। यहाँ दही-मन्थन की क्रिया में मटकी, मथानी, रस्सी आदि निमित्त रूप हैं और दही उपादान रूप है। मटकी, मथानी आदि निमित्त के बिना दही उपादान में नवनीत निकलने रूप क्रिया नहीं हो सकती। नवनीत प्राप्ति में दही, जल, मटकी, मथानी एवं मथने वाला इत्यादि निमित्त और उपादान सभी समष्टि रूप कारण होते हैं। एक भी कारण की कमी होने से यह मन्थन की क्रिया एवं नवनीत की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। दही का नवनीत में प्रध्वंसाभाव होता है, अर्थात् नवनीत में दही का अभाव होता है। दही पूर्व पर्याय और नवनीत उत्तर पर्याय होती है। नवनीत का भी जब पर्याय रूप से अभाव होता है तब घी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह कारण-कार्य व्यवस्था स्वीकार करना ही पड़ेगी। इस व्यवस्था को नहीं समझने के कारण समाज में अन्धकार छाया है।

प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि जब साधक निर्विकल्प समाधि में लीन होता है तब वह जितेन्द्रिय होता है लेकिन जो जितेन्द्रिय है वह हमेशा ही निर्विकल्पसमाधि में लीन रहता हो, यह एकान्त नहीं है क्योंकि जितेन्द्रिय जब प्रवृत्ति रूप चारित्र का पालन करता है तब निर्विकल्पसमाधि में लीन नहीं होता। निर्विकल्पसमाधि अर्थात् शुद्धोपयोग के बिना केवलज्ञान नहीं होता, अतः शुद्धोपयोग केवलज्ञान का कारण होता है। प्रश्न होता है कि शुद्धोपयोग का कारण क्या है ? जैसे नवनीत का कारण दही है तो दही का कारण क्या है ? दही का कारण दूध है, यह मानना ही पड़ेगा। उसी प्रकार शुद्धोपयोग का कारण शुभोपयोग है, यह भी मानना ही पड़ेगा चूँकि शुभोपयोग, शुद्धोपयोग का साधक कारण होता है, बाधक रूप कारण नहीं होता इसलिए शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का अभाव कारण नहीं कहा जा

सकता किन्तु अशुभोपयोग, शुभोपयोग का बाधक कारण होता है फिर भी करण परिणामों में ढला उपयोग शुभोपयोग का कारण होता ही है। शुभोपयोग को अभाव रूप कारण मानने से तत्त्वज्ञान में बहुत हानि हुई है। बड़ा घोटाला हुआ है।

आचार्य कहते हैं कि महाव्रती को शुद्धोपयोग होता है लेकिन हमेशा नहीं। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** कहते हैं कि **सरागचर्या वाले अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती श्रमण को भी शुद्धोपयोग नहीं हो सकता।** सरागचर्या दो प्रकार की होती है–१. श्रावक के आश्रित, २. श्रमण चर्या के आश्रित। श्रमणों को सरागचर्या के समय शुद्धोपयोग नहीं होता, किन्तु गुप्ति के समय निर्विकल्पसमाधि रूप शुद्धोपयोग होता है।

कारण-कार्य व्यवस्था–

आगम में कारण-कार्य व्यवस्था के लिए एक अत्यधिक युक्तियुक्त एवं सर्वत्र सर्वमान्य सिद्धान्त सूत्र है कि **बाधक कारण का अभाव, साधक कारण का सद्‌भाव पश्चात् कार्य का प्रादुर्भाव** इस सिद्धान्त सूत्र को कहीं भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जिज्ञासा–शुद्धोपयोग का कारण यदि शुभोपयोग है तो अशुभोपयोग को शुभोपयोग का कारण भी मानना पड़ेगा। यह उचित है क्या ? या मिथ्यात्व को सम्यक्त्व का कारण मानना पड़ेगा, यह उचित है क्या ?

समाधान–कारण-कार्य व्यवस्था में कारण का उपस्थिति होना अनिवार्य है। कारण के अभाव में किसी कार्य की उत्पत्ति कैसे सिद्ध हो सकती है ? उक्त जिज्ञासा के समाधान को ध्यान से विचार करें। आचार्य कहते हैं कि "अनेकान्त की शरण में आओ तो सभी जिज्ञासाओं का समाधान होता ही है।" जिज्ञासा करने वाला कह रहा है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति में मिथ्यात्व को कारण मानना उचित है क्या ? आचार्य कहते हैं कि उचित है, लेकिन ध्यान दें, मिथ्यात्व की कौन सी दशा सम्यक्त्वोत्पत्ति में कारण है ? इस पर विचार जरूर करें। आगम का उल्लेख है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पूर्व पाँच लब्धियाँ होती है–१. क्षयोपशमलब्धि, २. विशुद्धिलब्धि, ३. देशनालब्धि, ४. प्रायोग्यलब्धि और ५. करणलब्धि। ये पाँचों लब्धियाँ मिथ्यात्व अवस्था में होती हैं। ये सभी एक दूसरे के लिए कारण-कार्यरूप होती हैं। करणलब्धि के अतिरिक्त शेष चार लब्धियाँ तो अभव्य मिथ्यादृष्टि को भी प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु करणलब्धि मात्र भव्य जीव को ही प्राप्त होती है। इस करणलब्धि के तीन भेद होते हैं–१. अधःकरण, २. अपूर्वकरण, ३. अनिवृत्तिकरण। ये तीनों करण क्रमशः एक दूसरे के कारण होते हैं। जैसे–अधःकरण, अपूर्वकरण का कारण और अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण का कारण होता है। अन्त में अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम साक्षात् सम्यग्दर्शन का कारण होता है। जबकि अनिवृत्तिकरण परिणाम मिथ्यात्व गुणस्थान का परिणाम है। लेकिन सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण है। यह **आचार्य धरसेन स्वामी** का मत है इसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। निष्कर्ष यह हुआ कि **सातिशय**

मिथ्यादर्शन, सम्यग्दर्शन का कारण हुआ कि नहीं। इसमें सन्देह करना आगम से वंचित रहना है। और दूसरों को भी आगम से वंचित करना है। यदि यह कारण-कार्य की व्यवस्था स्वीकार नहीं की जायेगी तो आगम से विपरीत कारणविपर्यास हो जायेगा और स्वरूपविपर्यास भी हो जायेगा।

अन्त में उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि कारण कभी अभाव रूप नहीं मानना चाहिए। न अशुभोपयोग का अभाव शुभोपयोग का कारण है, न ही शुभोपयोग का अभाव शुद्धोपयोग का कारण और न ही शुद्धोपयोग का अभाव केवलज्ञान का कारण है। यदि शुभोपयोग का अभाव शुद्धोपयोग का कारण माना जायेगा तो शुद्धोपयोग का अभाव केवलज्ञान का कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार कारण-कार्य की सम्यक् व्यवस्था ठप्प हो जायेगी। एक स्थान पर कारण को अभाव या निषेध रूप और दूसरे स्थान पर विधि रूप मानना उचित नहीं है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण परिणामों से असंख्यातगुणी निर्जरा का कथन भी आगम में किया है। **गोम्मटसार जीवकाण्ड** में **सम्मत्तुप्पत्तीए** ऐसा स्पष्ट कथन है ही। **आचार्य उमास्वामी** महाराज ने भी **तत्त्वार्थसूत्र** के नवम अध्याय में असंख्यातगुणी निर्जरा के स्थानों में सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण किया है। **सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजक ...।** यहाँ सम्यग्दृष्टि को हमेशा असंख्यातगुणी निर्जरा का कथन नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में करण परिणामों से लेकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के एक अन्तर्मुहूर्त तक निर्जरा का कथन है। संयतासंयत एवं प्रवृत्ति रूप शुभोपयोग के समय प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत गुणस्थानों में भी अणुव्रत एवं महाव्रतों के द्वारा क्रमशः प्रतिसमय असंख्यातगुणी अधिक-अधिक निर्जरा होती है। इस प्रकार शुभोपयोग के साथ जो रत्नत्रय है वह मात्र बन्ध का कारण है, संवर निर्जरा का कारण हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा मानेंगे तो विपर्यास हो जायेगा। **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने **जयधवल** पुस्तक १ में लिखा है कि-

सुहसुद्धपरिणामेहिं विणा कम्मक्खयाभावादो।

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों के बिना कर्मक्षय का अभाव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मात्र शुद्धपरिणामों से नहीं, किन्तु शुभोपयोगमय शुभ परिणामों से भी कर्म का क्षय होता है। अनिवृत्तिकरण परिणाम में सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धान नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व का उदय है, फिर भी वह परिणाम सम्यग्दर्शन और शुभोपयोग के कारण की भूमिका स्वरूप परिणाम होता है इसलिए वहाँ भी असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा का कथन किया गया है।

इस प्रकार कारण-कार्य व्यवस्था जैनदर्शन में तराजु का अथवा कसौटी के पत्थर का काम करती है। जिसके फलस्वरूप स्वर्ण की भाँति तत्त्व की सम्यक् परख कर सकते हैं, लेकिन आज इसी को लेकर विवाद हो रहा है।

पंचम गुणस्थान एवं षष्ठ, सप्तम गुणस्थानों में संयम के कारण अधिक-अधिक निर्जरा होती है। पंचमगुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय का क्षयोपशम होता है तथा प्रत्याख्यान कषाय का उदय होता है। वहाँ क्षायोपशमिक भाव के द्वारा निर्जरा होती है। औदयिक भाव कभी निर्जरा का कारण नहीं होता। साधक अपनी साधना में बाधक कारण का अभाव करता जाता है और साधक कारणों को अपनाता जाता है तो असंख्यातगुणी निर्जरा बढ़ती जाती है। इसलिए आज से आप लोग यह धारणा बनायेंगे कि शुभोपयोग, शुद्धोपयोग का कारण है और शुद्धोपयोग केवलज्ञान का कारण है। इससे मात्र बन्ध ही नहीं किन्तु संवर, निर्जरा भी होती है। यह लौकिक न्याय नहीं किन्तु सैद्धान्तिक न्याय है। आगम का उल्लेख है कि एक कारण से अनेक कार्य होते हैं। जैसे-सम्यग्दर्शन और संयम निर्जरा का कारण है, साथ ही बन्ध का भी कारण है। सोलहकारण भावनाओं के साथ सम्यग्दर्शन तीर्थंकर प्रकृति का कारण होता है तथा संयम आहारकद्विक के बन्ध का कारण होता है। लेकिन सभी सम्यग्दृष्टियों और सभी संयमियों को उक्त प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता किन्तु तद्योग्य परिणाम वालों को ही बन्ध होता है।

विशेष चिन्तन (शुभोपयोग और शुद्धोपयोग)—शुभोपयोग सास्रवी और शुद्धोपयोग निरास्रवी, यह कथन भी सापेक्ष कथन है। शुभोपयोग केवलज्ञान का साक्षात् कारण नहीं हो सकता। जब तक शुभोपयोगात्मक भेद रत्नत्रय रहता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञान का साक्षात् कारण शुद्धोपयोग होता है। इसमें भी जब तक शुद्धोपयोग रूप ध्यानावस्था रहती है तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता। शुद्धोपयोग का काल पूर्ण होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। शुद्धोपयोग ध्यानात्मक के काल में केवलज्ञान की गन्ध भी नहीं आ सकती। शुभोपयोग की भूमिका में भले ही शुद्धोपयोग के गुण गा लें किन्तु केवलज्ञान के समक्ष तो शुद्धोपयोग भी हाथ जोड़े खड़ा रहता है, क्योंकि वह क्षायोपशमिक होता है और केवलज्ञान क्षायिक होता है। फलितार्थ यह हुआ कि जब तक ध्यानावस्था रहती है तब तक न केवलज्ञान होता है और न मोक्ष होता है, लेकिन ध्यान के बिना भी केवलज्ञान और मोक्ष दोनों नहीं होते। अतः कार्य-कारण की व्यवस्था अच्छे ढंग से समझ लेना चाहिए। मंजिल तक पहुँचना है तो सीढ़ियों का अभाव होने पर ही पहुँच पायेंगे। लेकिन ध्यान रखना बिना सीढ़ियों के भी मंजिल पर नहीं पहुँचा जा सकता। सीढ़ियों का भी अपना एक अलग ही आनन्द होता है, मंजिल तक पहुँचने का आनन्द तो होता ही है। सीढ़ियों का आनन्द तो यही है कि सीढ़ियों को जल्दी-जल्दी पार करके मंजिल पर पहुँच जायें। मंजिल में जो आनन्द है वह मार्ग में नहीं होता।

इस प्रकार मोक्ष में जो आनन्द है वह केवलज्ञान में नहीं और केवलज्ञान में जो आनन्द है वह शुद्धोपयोग में नहीं तथा शुद्धोपयोग में जो आनन्द है वह शुभोपयोग में नहीं, जो शुभोपयोग में आनन्द है वह पाँच लब्धियों में नहीं, पाँच लब्धियों में जो आनन्द करणलब्धि में है वह प्रायोग्य में नहीं,

प्रायोग्यलब्धि में जो आनन्द है वह देशना, विशुद्धि और क्षयोपशम में नहीं। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से कारण-कार्य व्यवस्था घटित होती है। कारण के प्रति अवहेलना न हो, उपेक्षा भाव न हो, इसके लिए कारण-कार्य की व्यवस्था को अच्छी तरह से समझना चाहिए। न्याय में मूलसूत्र कारण-कार्य को माना जाता है। जैसे-तराजू और बाँट अपने घर के नहीं होते। माल आपका अपना हो सकता है, घर आपका हो सकता है। छापा पड़ जायेगा तो माल जप्त हो जायेगा। उसी प्रकार कार्य-कारण व्यवस्था आपकी अपनी नहीं हो सकती। कार्य-कारण व्यवस्था तो जैसी सिद्ध है वैसी ही होनी चाहिए। उसके सामने ननु न च नहीं करना चाहिए। इस प्रकार जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था तराजू के समान है।

जिज्ञासा—जिस प्रकार दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते, वैसे ही एक कारण से दो कार्य एक साथ नहीं हो सकते ?

समाधान—हाँ, यह सत्य है कि दो उपयोग चाहे ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग हों, चाहे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग हों, छद्मस्थ अवस्था में दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। लेकिन एक गुणस्थान में एक कारण से दो कार्य तो हो सकते हैं। जैसे शुभोपयोग से पुण्यास्रव भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है। कैसे? जैसे-शुभोपयोग के रहते हुए पंचम गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण के उदय में बन्ध और अप्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से निर्जरा होती है। प्रत्याख्यानकषाय का उदय संयमासंयम का घात नहीं करता, किन्तु संयम का घात करता है, इसलिए प्रत्याख्यानकषाय का उदय रहते हुए भी संयमासंयम सुरक्षित रहता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि संयमासंयम औदयिक भाव नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिक है। अतः शुभोपयोग को केवल बन्ध का कारण मानना उचित नहीं है। शुभोपयोग को मात्र बन्ध का कारण कहने से कई लोगों का व्रत-प्रतिमा आदि पालन करने का उत्साह कम हो गया और कई लोगों ने संकल्पित व्रत-प्रतिमा आदि को छोड़ना प्रारम्भ कर दिया।

संस्मरण—आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने जब गोम्मटसार ग्रन्थ के साथ समयसार ग्रन्थ पढ़ाया तो अनेक व्यक्तियों ने प्रतिमाएँ ग्रहण की थीं, किन्तु वहाँ से जब उन्होंने विहार किया और चार वर्ष बाद पुनः वहाँ पहुँचे तो देखने में आया कि लोगों ने प्रतिमा रूप व्रतों को छोड़ दिया। पूछा गया ऐसा क्यों किया ? तो लोगों ने बताया कि हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि शुभोपयोग से बन्ध होता है, इसलिए हमने व्रत छोड़ दिए। इस प्रकार गुरु महाराज के समय नुकसान हुआ था। अब ऐसा नुकसान न हो इसलिए कारण-कार्य व्यवस्था को अच्छी तरह समझकर दिमाग में बिठा लो।

सम्बोधन—आप ज्ञायक बनकर **पश्यन्नपि न पश्यति** वाली बात चरितार्थ करो, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखो। श्रमण की कुशलता इसी में है वह जब कभी इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करे तो उसमें रागद्वेष न करे। इन्द्रियरूपी खिड़की मात्र को बन्द करने से कुछ नहीं, मन को भी संयमित करना होगा। केवली के ज्ञान में तीन लोक के त्रिकालवर्ती पदार्थ ज्ञेय रूप में आते हैं, फिर भी कुछ नहीं बिगड़ता,

क्योंकि उनके रागद्वेष नहीं होता। श्रमण भी बुद्धिपूर्वक रागद्वेष न करने की आत्मसाधना रूप पुरुषार्थ करता है। तो असंख्यातगुणी निर्जरा कर लेता है। **अण्णाणमोहिदमदी** वाला मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध नहीं रख सकता, क्योंकि उसके रागद्वेष परिणाम होते हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म ये सभी आत्मा के साथ संयोग को प्राप्त हुए हैं, लेकिन ये मैं नहीं और ये मेरे नहीं, यह भाव बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इन्हीं ज्ञान भावों से युक्त परिणामों के द्वारा रत्नत्रय के साथ संवर-निर्जरा होती है, इसके लिए जितेन्द्रिय बनना आवश्यक है। ऐसे ही जितेन्द्रिय स्तुत्य होते हैं। इस प्रकार जितेन्द्रिय रूप गुणों की स्तुति प्रथम निश्चयस्तुति है। इस विषय को स्पष्ट किया।

उत्थानिका—आगे उसी निश्चयस्तुति को दूसरे प्रकार से भाव्य (संसारीजीव) भावक (मोहकर्म) इन दोनों में जो संकर दोष है, उसका परिहार करने अथवा उपशमश्रेणी की अपेक्षा आत्मजित मोह है, ऐसा कथन करते हैं—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३७॥

अन्वयार्थ—**(जो तु)** और जो मुनि **(मोहं जिणित्ता)** मोह को जीतकर **(णाणसहावाधियं)** ज्ञान स्वभाव से अन्यद्रव्य से अधिक **(आदं मुणदि)** आत्मा को जानता है **(तं साहुं)** उस मुनि को **(परमट्ठवियाणया)** परमार्थ के जानने वाले **(जिदमोहं)** जितमोह **(विंति)** कहते हैं।

अर्थ—जो मोह को दबाकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करता है, परमार्थ के जानने वाले उस साधु को मोह का जीतने वाला अर्थात् जिन कहते हैं।

संमोह को शमित भी जिनने किया है,
आधार ज्ञान गुण का मुनि हो लिया है।
वे वीतराग जित मोह सुधी कहाते,
विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥३७॥

व्याख्या—जो पुरुष उदयगत मोह को निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर शुद्ध ज्ञान गुण के द्वारा ज्ञानस्वभावमय आत्मतत्त्व को जानता है, उसका संवेदन करता है वह जितमोही साधु होता है। वह साधु स्तुत्य होता है, यह द्वितीय निश्चयस्तुति है। **द्रव्यसंग्रह** में कहा है—**मा मुज्झह मा रज्झह** अर्थात् राग मत करो, द्वेष मत करो। क्यों ? **थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए** अर्थात् यदि विचित्र प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिए अपने चित्त को स्थिर रखना चाहते हो तो रागद्वेष मत करो। लोग आकर कहते हैं कि महाराज जी! मन को स्थिर करने के लिए कोई उपाय बता दीजिए ? **आचार्य नेमिचन्द्र** जी ने स्वयं इसका समाधान देते हुए कहा है कि मन को स्थिर करने के लिए इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में रागद्वेष मत करो। मन को स्थिर क्या करना, भगवान् को देखो, तो स्थिरता आ जायेगी। जानने के लिए तीन लोक और आत्मतत्त्व तथा छोड़ने योग्य है रागद्वेष और मोह। इसलिए

सबसे पहले इन्द्रियों को जीतने को कहा है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने **युक्त्यनुशासन** में कहा है–

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं इस कारिका में दया को पहले रखा। महाव्रती बनो, प्राणी संयम पहले रखो, इन्द्रियसंयम अपने आप हो जायेगा। दया का अर्थ अहिंसा महाव्रत अंगीकार करने को कहा है। दम का अर्थ इन्द्रियदमन करना। त्याग का अर्थ विषयों का त्याग और समाधि का अर्थात् मोह को जीतना। **समयसार** ग्रन्थ में जो तीन गाथाओं में वर्णन किया गया उसको **आचार्य समन्तभद्रस्वामी** ने एक कारिका के द्वारा कर दिया। **आचार्य विद्यानन्दजी** ने टीका में कहा कि–दया दमन के लिए कारण है, दमन त्याग का कारण है और त्याग समाधि के लिए कारण है इत्यादि।

दया, दया सब कोई कहे, दया न जानै कोय।
दया धर्म जानै बिना, दया कहाँ तै होय॥

प्रायः करके अध्यात्मग्रन्थों में यह विषय आता है कि निर्विकल्पसमाधि का अर्थ क्या है? किसी वस्तु को उपयोग का विषय बनाकर उसी में एकाग्र हो जाना। पंचेन्द्रिय के विषयों का विकल्प नहीं होना। वस्तु के प्रति अच्छा या बुरा अथवा मेरा-तेरा का भाव नहीं होना। जैसे–पेंसिल है, यह पुरानी है, पीली है, इसमें वस्तु के स्वरूप सम्बन्धी ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है अतः यहाँ तक तो ठीक है लेकिन यह अच्छी या बुरी है अथवा मेरी है यह मोह भाव आ गया तो ज्ञेय-ज्ञायक नहीं रहा। छद्मस्थ अवस्था में गहल भाव होने पर वस्तु अच्छी है तो उसे लेने का भाव हो जाता है, उसमें प्रीतिभाव जागृत हो जाता है, यह राग हो गया। तथा उसे प्राप्त करने में यदि कोई बाधक होता है तो उससे अप्रीतिरूप द्वेष भाव हो जाता है। मोह रूप गहल भाव दर्शनमोह एवं चारित्रमोह दोनों के साथ होता है। लेकिन दोनों में अन्तर होता है। वस्तु स्वभाव के प्रति विपरीतता एवं मोह होना दर्शनमोह का परिणाम है तथा वस्तु में रागद्वेष रूप भाव चारित्रमोह का परिणाम है। अध्यात्म में उक्त दोनों मोह का भेद न करते हुए मोह मात्र को ही नष्ट करने को कहा है, क्योंकि दोनों प्रकार के मोह निर्विकल्प ज्ञान में बाधक होते हैं। देखो, एक **बाहुबली** का मोह और दूसरा भरत का मोह। तीनों युद्ध में हार गए तो भरत जी का मोह और अधिक बढ़ गया, **बाहुबली** को वैराग्य हो गया। हालाँकि **भरत जी घर में वैरागी थे। वैरागी शब्द का अर्थ है–वै अर्थात् निश्चय से रागी अर्थात् राग वाला यह शब्दार्थ होता है।** इसका अर्थ यूँ भी निकाला जा सकता है कि निश्चय से रागी बनो अर्थात् निर्विकल्प शुद्धात्मतत्त्व रूप निश्चय में रागी बनो लेकिन निश्चय से परवस्तुओं में रागी मत बनो।

वस्तु के प्रति मोह के कारण इष्ट-अनिष्ट का भाव होता है। रागद्वेष की जड़ मोह है। मोह के उदय में गाफिल हों यह जरूरी नहीं है, लेकिन गाफिल होना मोह का परिणाम निश्चित है। मान लीजिए आपके पास धन कम है और कभी ज्यादा मिल जाये तो आप फूल जायेंगे किन्तु मुनिराज के समीप आ जाए तो वे फूलेंगे नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टि में सोने की गिट्टी और मिट्टी समान है, किन्तु आपकी

दृष्टि में सोने की गिट्टी बहुमूल्य है और मिट्टी अल्पमूल्य है। यह मोहनीय कर्म का प्रभाव है।

अप्रत्याख्यानकषाय के उदय में लड़ाई हो सकती है, प्रत्याख्यान के उदय में भी लड़ाई हो सकती है, किन्तु संज्वलन के उदय में लड़ाई नहीं हो सकती। वस्तु के प्रति अच्छा-बुरा भाव भी नहीं होता। बहुमूल्य अल्पमूल्य का विकल्प भी नहीं होता। अतः मोह पर विजय प्राप्त करने के लिए कहा है। **बाहुबली ने भरत को हाथ में उठाकर दिन में तारे गिना दिये। इतने पर भी शान्ति नहीं मिली, तो भरत ने मोह के अतिरेक में चक्र चला दिया, किन्तु बाहुबली के अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का अभाव हो गया, कर्म का उदय ढीला पड़ गया तो वे भवन से वन की ओर चले गए।** इस प्रसंग में आप विचार कीजिए, कि कर्म का प्रभाव है या नहीं। कर्म के प्रभाव को कम कैसे किया ? नीति से या संयम से ? **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** में कहा है कि जो अनुभाग उदय में आता है वह हमेशा एक समान ही नहीं आता। औदयिकभाव हमेशा अपना कार्य करता है तो उसका अनुभव भी होना चाहिए उस पर ध्यान भी देना चाहिए और उसे नियन्त्रित करने का प्रयास भी करना चाहिए। **मोह के आवेग में मर्यादा, शर्म लोकलाज सब भूल जाते हैं। जैसे छोटा भाई सिगरेट पीता है और सामने बड़ा भाई आ जाए तो उसे छुपा लेता है या फेंक देता है, यह भी एक मर्यादा का रूप है।**

कर्मोदय होते हुए भी आत्मपुरुषार्थ के द्वारा उसे नियन्त्रित अथवा परिवर्तित किया जा सकता है, यहाँ यह बताया जा रहा है। काल के द्वारा काम नहीं होता, किन्तु काल की उपस्थिति में कार्य अवश्य होता है। यह नियति है। **काल में पुरुषार्थ होता है काल के द्वारा नहीं। पुरुषार्थ काल पर टिका नहीं रहता।** काल के द्वारा भोजन नहीं पकता, किन्तु काल की उपस्थिति में अग्नि के द्वारा भोजन पकता है।

दृष्टान्त—जैसे तेल के द्वारा लैम्प जलता है ऐसा लोग कहते हैं किन्तु यह एकान्त नहीं है, क्योंकि लैम्प या चिमनी में तेल तो भरा हो परन्तु उसमें हवा आने-जाने के लिए छेद न हों तो नहीं जलता। वस्तु स्थिति यह है कि हवा के साथ तेल मिल जाए तो लैम्प जलता है मात्र हवा या तेल से नहीं जलता। हाँ लैम्प के जलने में तेल मुख्य है, अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन साथ में सहयोगी तत्त्व भी अनिवार्य होते हैं। कार्य जब भी होगा बाह्य और आभ्यन्तर कारण मिलने पर होगा। गौण और मुख्यता होना अलग है। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** ने स्वयं **बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र** में लिखा है कि–

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।

अर्थात् कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों की समग्रता द्रव्यगत स्वभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों की उपस्थिति के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह द्रव्यगत स्वभाव है, इस सिद्धान्त को कोई टाल नहीं सकता। काल सहित उक्त कारणों की उपस्थिति से कार्य होता है। काल में पुरुषार्थ होने पर कार्य होता है। स्वकाल अर्थात् स्वयं उपादान अभ्यन्तरकारण तथा बाह्य काल सहित अन्य सहायक वस्तुएँ बाह्य कारण निमित्त रूप होती है। काल

तो हमेशा उपस्थित रहता है। लंगड़े होने पर पर्वत को देख तो सकते हैं किन्तु चढ़ नहीं सकते। पर्वत पर चढ़ने के लिए सुयोग्य निमित्त की आवश्यकता होती ही है।

कोई कहे कि मैं जानता हूँ कि रागद्वेष हेय हैं, कर्मबन्ध के कारण हैं, लेकिन इतना जानने मात्र से काम नहीं होता, किन्तु जो छोड़ने योग्य है उसे तो छोड़ने से ही कार्य होगा। पूर्णरूपेण रागद्वेष छोड़ने पर ही भगवान् बनने का प्रमाण पत्र पा सकोगे मात्र मानने से नहीं। **कालानियमाच्च निर्जरा** ऐसा **आचार्य अकलंकस्वामी** ने **तत्त्वार्थराजवार्तिक** के प्रथम अध्याय में कहा है कि–निर्जरा काल पर निर्भर नहीं है। काल कोई नियामक वस्तु नहीं किन्तु उपस्थिति वाली वस्तु है, क्योंकि कोई भव्य संख्यात समय में कोई असंख्यात समय में निर्जरा करते हैं और कोई भव्य अनन्त काल में निर्जरा करते हैं। **वर्तमान में आचार्य अकलंक स्वामी जैसा व्यक्तित्व आना चाहिए जिससे यह माहौल शान्त हो जाये।** कोशकारों ने काल को यम कहा है। अरहन्त भगवान् को तो याद करते नहीं, काल को याद करते हो। मात्र काल को याद करने से क्या होगा ? समय को देखते रहने से कुछ भी कार्य नहीं होता। काल एक है, उसी काल में कोई नरक जा रहा है, कोई स्वर्ग जा रहा है, कोई मुक्त हो रहा है। यह मात्र काल के द्वारा नहीं किन्तु यथायोग्य पुरुषार्थ का प्रभाव है।

दृष्टान्त–जैसे ५ बजे गाड़ी आना अनिवार्य है, तो यात्री को १५ मिनट पहले स्टेशन पर पहुँचने का पुरुषार्थ करना भी अनिवार्य है क्योंकि १५ मिनट पहले पहुँचकर टिकट खरीदना अनिवार्य है, गाड़ी कहाँ आकर रुकेगी, मेरा नम्बर किस डिब्बे में है उस बोगी के पास अपना सामान लेकर खड़े रहना अनिवार्य होता है। १५ मिनट पहले वहाँ जाकर मात्र बैठने से भी कुछ नहीं होगा, बिना टिकट के गाड़ी में बैठ नहीं पायेंगे, यदि बैठ भी गए तो टी० टी० आई० के द्वारा बीच में ही उतार दिया जा सकता है। ऐसा होने पर अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच पाओगे। इससे यह स्पष्ट है कि **योग्य समय की उपस्थिति होने पर योग्य पुरुषार्थ के द्वारा लक्ष्यभूत कार्य सम्पन्न होता है अन्यथा नहीं।**

कर्मों का उदय होना हमेशा की प्रक्रिया है लेकिन सभी कर्म अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार फल देते हैं। सभी कर्म स्वमुख से ही उदय में आयेंगे यह एकान्त नहीं है किन्तु स्तिबुक संक्रमण या अन्य संक्रमण के द्वारा भी कर्म संक्रमित होकर उदय में आते हैं। यदि समस्त कर्म स्वमुख से ही उदय में आयेंगे तो फिर तीन काल में मुक्ति सम्भव नहीं होगी। जैसे–प्रशस्त कर्म का उत्कृष्ट अनुभाग उदय में आ रहा है लेकिन यदि व्यक्ति शान्त उदासीन भाव से बैठा रहे तो वह कर्म भी उदासीन होकर निकल जाता है। उसी प्रकार यदि किसी का उत्कृष्ट पाप का उदय चल रहा है और वह समवसरण में या समवसरण के आस–पास भी हो तो उसे पाप के उत्कृष्ट अनुभाग का अनुभव नहीं करेगा।

दृष्टान्त–जैसे किसी को १२ बजे भूख लगती है तो १२ बजे के पहले या बाद में भोजन करेगा तो उसे आनन्द नहीं आयेगा, क्योंकि पहले करता है तो भूख नहीं खुलेगी और बाद में करता है तो भूख मर जायेगी। यदि बेटा भोजन तैयार होने के समय से पहले आता है तो माँ कहती है–बेटा ! पहले थोड़ा

घूमकर आ जा, तब तक बन जायेगा। जब वह वापस आया तब तक सबका भोजन हो चुका। माँ फिर कहती है–बेटा ! अब थोड़ी देर और बैठ जाओ। सभी ने भोजन कर लिया है। तुझे मैं गरम-गरम भोजन तैयार कर देती हूँ। बेटे को भूख के कारण परेशानी हो रही थी, इसलिए कहता है कि–माँ! जो कुछ भी हो वही दे दो, मुझे बहुत भूख लग रही है। अब भोजन किए बिना बैठा नहीं जा रहा है। तब माँ उसे रोटी देती है तो उसे दाल-सब्जी आने के पहले ही खा लेता है। जब दाल-सब्जी आती है तो पुनः रोटी आने का इन्तजार किए बिना ही दाल-सब्जी खा लेता है। यह पक्की भूख कहलाती है। भावों के बिना कर्मफल का अनुभव नहीं होता।

निर्जरा मोह को जीतने से–मोक्षमार्ग में कारणभूत संवर और निर्जरा ये दोनों प्रधानभूत तत्त्व हैं। निर्जरा दो प्रकार की होती है–१. सविपाक निर्जरा और २. अविपाक निर्जरा। मोक्षमार्ग में अविपाक निर्जरा कारणभूत होती है, कार्यकारी होती है। काल के अनुसार जो निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा है तथा तप, ध्यान आदि विशिष्ट अनुष्ठान पूर्वक समय से पूर्व जो निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है। इसी से मुक्ति होती है। उदयागत मोह को जीतने वाले, तपस्या, ज्ञान, ध्यान आदि के द्वारा कर्मस्थिति से पूर्व सत्तागत कर्म की विशेष निर्जरा को करते हैं। उपयोग में आये हुए मोह पर विजय नहीं करने के कारण आज तक मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। भगवान् के समान मोह को नहीं जीत पा रहे हो तो महाराज के समान जीतने का प्रयास करो।

दृष्टान्त–दुकान में ग्राहक वस्तु को खरीदना तो नहीं चाहता किन्तु बार-बार दाम पूछता रहता है, तो दुकानदार का माथा दर्द करने लगता है, उसी प्रकार यदि साधक निर्जरा करना नहीं चाहे किन्तु उसकी मात्र चर्चा बार-बार करता है तो यहाँ भी माथा दर्द करने लगता है। ग्राहक यदि वस्तु खरीदता है तो दुकानदार को खुशी होती है वैसे ही साधक यदि निर्जरा के साधनों को अपनाता है और कर्म निर्जरा करता है तभी आनन्द आता है। निर्जरा की मात्र चर्चा करने में आनन्द नहीं आता। साधक जैसे-जैसे मोह को जीतता चला जाता है वैसे-वैसे अधिक-अधिक निर्जरा भी करता जाता है। पाँच इन्द्रियों के विषय बाहर में दिखाई देते हैं अतः उन पर विजय प्राप्त करना सुगम है किन्तु मोह इन्द्रियों का विषय नहीं है उसे आँखों से नहीं देखा जा सकता। उसे मन से जाना जा सकता है, मन से ही अनुभूत किया जाता है इसलिए मोह के जीतने के लिए मन पर विजय प्राप्त करना अति आवश्यक है। जित मोह का अर्थ ही है कि–बाह्य पदार्थों से मन प्रभावित न हो। मन सम्यग्ज्ञान के द्वारा जब समझदार हो जाता है तो मोह कर्म रूपी राजा पर विजय प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

दृष्टान्त–जैसे धूप में बैठना भी हो और धूप से बचना भी हो तो यह कैसे सम्भव है ? आप लोग बहुत होशियार हैं। या तो आप आँखें बन्द कर लेते हैं या धूप की तरफ पीठ करके बैठ जाते हैं। तो धूप को बहुत कुछ सहन कर लेते हैं। इसी प्रकार मन को इन्द्रियविषयों की ओर पीठ करके बिठा दो, मोह की ओर जाने वाले मन को परिवर्तित कर दो अथवा आँख बन्द करके ध्यान में बैठ जाओ,

तो मोह को जीतना आसान हो जायेगा। लोग कहते हैं कि महाराज ! हम आँख बन्द कर लेते हैं तो भी बहुत सी चीजें दिखती ही रहती हैं। कोई बात नहीं, यदि आँख बन्द कर लेने पर भी दिखता है तो वर्धमान तालाब ही क्यों दिखता है, बड़े बाबा की मूर्ति क्यों नहीं दिखती। ज्ञान में जिस पदार्थ के ज्ञेयाकार की झलकन होगी वही पदार्थ दिखने में आयेगा। आप बड़े बाबा की मूर्ति को बार-बार ज्ञान में ज्ञेयाकार बनाओगे तो भगवान् की मूर्ति जरूर दिखेगी। ज्ञान में ज्ञेय प्रविष्ट नहीं होता किन्तु ज्ञेयाकार मात्र निर्मित होता है। ज्ञेयाकार की एक अवधि होती है तभी तक टिकता है उसके बाद नहीं। मन के माध्यम से इन्द्रियों को जीता जाता है न कि इन्द्रियों के द्वारा, क्योंकि मन ही इन्द्रियविषयों की ओर दौड़ लगाता है। अतः मोह पर विजय प्राप्त करने के लिए मन पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है।

इस प्रकार निश्चयस्तुति सम्बन्धी यह द्वितीय गाथा पूर्ण हुई। भाव्य-भावक रूप जो मोह से प्रभावित नहीं होने रूप निश्चयस्तुति है वह पहले की अपेक्षा अधिक निखार को प्राप्त है। आत्मा में मोह में रंजायमान होने की क्षमता है। अनादिकाल से आत्मा मोह के रंग में रंगता आया है। यदि इससे बचना चाहे तो बच सकता है।

दृष्टान्त—जैसे होली के दिनों में सभी लोग रंग में रँगते हैं। रंग से खेलते हैं, किन्तु कुछ लोग रंग में खेलना पसन्द नहीं करते, तो अपने घर की खिड़की और दरवाजों को बन्द कर लेते हैं। इस तरह रंगने से बच जाते हैं। फिर भी कोई-कोई खिड़की खोल-खोलकर देखता है। यह उसकी चंचलता है, इसके कारण कभी-कभी रंग के छींटे आ सकते हैं। इसी प्रकार आत्मा अपनी इन्द्रिय रूपी खिड़कियों और मन के दरवाजे को खोलकर रखता है तो मोह के रंग में रंगता जाता है, किन्तु जो मोह के रंग से बचना चाहता है वह साधक जितमोही बनने के लिए अपनी इन्द्रिय और मन की खिड़की एवं दरवाजों को बन्द करके आत्मा को मोह के रंग से बचाने का प्रयास करते रहते हैं। फिर भी कोई-कोई साधक अपनी चंचलता के कारण इन्द्रियरूपी खिड़कियों को खोलकर बाहर झाँकते हैं तो उन पर मोह रूपी रंग के छींटे पड़ते रहते हैं। उनकी यह चंचलता उनकी साधना में बाधक होती है। मोहकर्म के उदय में यदि आत्मा रंजायमान होता ही रहेगा तो आत्मपुरुषार्थ सफल नहीं हो पायेगा। गाड़ी चलती है तो हमेशा चलती ही रहे, ऐसा नहीं होता। उसमें पेट्रोल डालना आवश्यक होता है। गाड़ी को चलाना या नहीं चलाना, चलाने वाले के हाथ में है। धीमी गति से चलाना या तीव्र गति से यह भी ड्राइवर के हाथ में है। इसी प्रकार मोह करना, नहीं करना, ज्यादा करना या कम करना, सब कुछ हमारे हाथ में है। चाहें तो करें, अन्यथा नहीं।

विशेष सम्बोधन—जो व्यवहारस्तुति से ऊपर उठकर निश्चयस्तुति में लीन रहते हैं उनकी साधना अनूठी होती है। जो इन्द्रिय और मोह को जीत चुकते हैं, वे वीतरागी होते हैं। कहा भी है— **वीतरागात् भवेत् योगी** अर्थात् जो रागद्वेष नहीं करते, मोह के गहल भाव में नहीं पड़ते वे वीतरागी योगी होते हैं। क्रोध, मान आदि कषायरूप असंख्यात लोकप्रमाण विभाव परिणाम हैं। **थोड़ा-सा भी**

राग हो तो बुद्धिपूर्वक उतनी ही शक्ति लगाकर उसे समाप्त करने का प्रयास करो। राग के बीज को छोटा मत समझो। जब वह बड़ा घना वृक्ष हो जायेगा तो उसे उखाड़ नहीं सकोगे। इसलिए छोटा या थोड़ा राग है यह कहकर छोड़ो मत अर्थात् ऐसा कहकर राग को पुष्ट मत करो।

आगे क्षपकश्रेणी की अपेक्षा निश्चयस्तुति का वर्णन करते हैं। इन्द्रिय विजयी, मोह को उपशम करने वाला भी निश्चयस्तुति का अधिकारी होता है, किन्तु उत्कृष्टता से मोह को क्षय करने वाला ही निश्चयस्तुति का अधिकारी होता है। यह वर्तमान में सम्भव नहीं है, क्योंकि वर्तमान में शुक्लध्यान नहीं है। धर्मध्यान करना चाहते हो तो शुक्लध्यानी का स्मरण करो। शुक्लध्यानी का स्मरण करोगे तो धर्मध्यान अच्छे से हो सकता है। आगे-आगे की कक्षा के कोर्स के बारे में जिज्ञासा और भावना रहनी ही चाहिए तभी आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा फेल हो जायेंगे। आगे-आगे की कक्षा के विषय की जिज्ञासा होने पर ही विकासोन्मुखी जीवन हो सकता है।

निश्चयस्तुति का सूत्रपात रूप इन्द्रियविजय तथा मोह के उपशम रूप भाव्य-भावकपरिहार रूप से कथन पूर्ण हुआ। अब आगे मोह के पूर्णतया क्षय करने वाले के क्षीणमोह रूप निश्चयस्तुति का कथन प्रारम्भ करते हैं। उपशम एवं क्षपणविधान में जो कार्य होते हैं उसका फल ११ वें एवं १२ वें गुणस्थान में प्राप्त होता है। श्रेणी के ८ वें, ९ वें एवं १० वें गुणस्थान में क्रम से प्रकृतियों का उपशम या क्षय होता है, एक साथ उपशम या क्षय रूप कार्य नहीं होता। इतना अवश्य है कि उपशम कार्य पूर्ण होने पर उपशान्त मोह वाले ११ वें गुणस्थान की अपेक्षा क्षपणाविधि प्रारम्भ करने वाले ८ वें गुणस्थान वाले के अनन्तगुणी विशुद्धि अधिक होने के कारण असंख्यातगुणी अधिक निर्जरा होती है। उपशान्त मोह के यथाख्यात चारित्र है, जबकि क्षपक के ८ वें गुणस्थान में सामायिक छेदोपस्थापना चारित्र है, तो भी क्षपक के असंख्यातगुणी निर्जरा अधिक होती है।

इस प्रकार इस गाथा में जितमोह उपशम भाव्य-भावक दोष के परिहार के साथ द्वितीयस्तुति का कथन किया गया।

जिज्ञासा—यहाँ कोई पूछता है कि आपने पातनिका में बतलाया था कि भाव्य-भावक में परस्पर जो संकरदोष है उसका निराकरण करने से द्वितीयस्तुति होती है सो वह बात यहाँ कैसे घटित होती है, उसे स्पष्ट कीजिए ?

समाधान—आचार्य कहते हैं कि भाव्य तो रागादि रूप में परिणत आत्मा और भावक राग रूप करने वाला उदय में आया हुआ मोहकर्म, इन दोनों भाव्य-भावक का जो शुद्ध जीव के साथ संकर अर्थात् संयोग सम्बन्ध है वही हुआ दोष उसको जो साधु स्वसंवेदन ज्ञान के बल से परास्त कर देते हैं वे जिन हैं। वे ही निश्चयस्तुति करने के योग्य होते हैं। यह द्वितीयस्तुति हुई। इसी प्रकार यहाँ मोह पद से राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पाँच इन्द्रिय सूत्र के द्वारा पृथक्-पृथक् लेकर व्याख्यान करना

चाहिए और इसी प्रकार और भी असंख्यात लोकप्रमाण विभाव परिणाम हैं उनको भी प्रासंगिक रूप से समझ लेना चाहिए।

उत्थानिका—अब आगे भाव्य-भावक भाव के अभाव रूप तृतीय निश्चयस्तुति का कथन किया जाता है अथवा यूँ कहो कि क्षपकश्रेणी की अपेक्षा क्षीणमोह रूप से कथन किया जाता है–

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३८॥

अन्वयार्थ—(जिदमोहस्स) जिसने मोह को जीत लिया **(दु साहुस्स)** ऐसे साधु के **(जइया)** जब **(खीणो मोहो)** मोह क्षीण होकर (सत्ता में से नष्ट) **(हविज्ज)** होता है **(तइया)** उस समय **(णिच्छयविदूहिं)** निश्चय के जानने वाले **(हु सो)** निश्चय से उस साधु को **(खीणमोहो)** 'क्षीणमोह' **(भण्णदि)** कहते हैं।

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार जो मोह को परास्त करता हुआ आ रहा है, उस साधु का जब मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है उस समय उसे निश्चय के ज्ञाता गणधरादिक क्षीणमोह जिन कहते हैं।

जीता विमोह मुनि ने, जिससे अभागा,
कोई पता नहिं कहाँ, कब मोह भागा।
वो ही नितान्त मुनिपुंगव क्षीणमोही,
ऐसा जिनेश कहते, तज मोह मोही ॥३८॥

टीकार्थ—पूर्व गाथा में कथित क्रम से जिसने मोह को परास्त कर दिया है ऐसे शुद्धात्मा की अनुभूति करने वाले साधु के निर्विकल्प समाधि में जब मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है उस समय तीन गुप्ति रूप समाधिकाल में वह साधु क्षीणमोह जिन होता है, ऐसा परमार्थ के जानने वाले गणधरादिक देव कहते हैं। इस प्रकार तीसरी निश्चयस्तुति हुई।

व्याख्या—कोई भी विषय प्रारम्भ होता है तो धीरे-धीरे अभ्यास करने से प्रौढ़ता आती चली जाती है। विद्यार्थी आगे-आगे की कक्षा में प्रौढ़ता प्राप्त करता चला जाता है। विद्यार्थी, स्नातक बन जाता है, पी-एच० डी० भी करता है, कक्षा पार करके डॉ० की उपाधि से विभूषित हो जाता है। आगे-आगे उस विद्यार्थी की उस विषय में प्रौढ़ता बढ़ती जाती है। विषय वही रहता है फिर भी उसमें अन्तर आता जाता है। **मूलाचार** और **जयधवल** ग्रन्थ में लिखा है कि णमोकार मन्त्र में द्वादशांग समाहित है। **पंचपरमेष्ठी के ध्यान रूप णमोकार मन्त्र का स्मरण करने से पाप कर्म की असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।** ओम् शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई ? अ (अरिहन्त), अ (अकाय, अशरीरी, सिद्ध), आ (आचार्य), उ (उपाध्याय), म् (मुनि) इस प्रकार ॐ में पाँचों परमेष्ठी गर्भित हैं। संक्षेप में ओम् में पाँचों परमेष्ठी का ध्यान हो जाता है। **ज्ञानार्णव** ग्रन्थ में कहा है कि–ज्ञानध्यान रूप पंच परमेष्ठी का ध्यान करना असंख्यातगुणी निर्जरा का कारण है। गुप्ति रूप ध्यान शुद्धोपयोग रूप समाधि काल में होता है

उसके द्वारा जीव क्षीण मोही हो जाता है। भक्ति और भुक्ति रूप प्रवृत्ति के काल में शुद्धोपयोग नहीं होता अतः क्षीणमोही भी नहीं होता। साधु के लिए भुक्ति एक बार और श्रावक-गृहस्थ के लिए दो बार बतलाई है।

जिज्ञासा—क्षीणमोही के साथ जिन संज्ञा क्यों लगाई है ?

समाधान—चूँकि क्षीणमोही जितेन्द्रिय होते हैं वे रागद्वेष को जीतते हैं। न राग करते हैं, न द्वेष करते हैं, मोह को भी जीतने वाले होते हैं, इसलिए वे जिन संज्ञा से संयुक्त होते हैं। वे अप्रमत्त होते हैं, सामने विषय होते हुए भी उनसे प्रभावित नहीं होते। वे नीला, पीला, काला, नया, पुराना रूप विषय को जानते हैं फिर भी अप्रमत्त रहते हैं। क्षीणमोही होने के कारण समवसरण में उपस्थित पुष्पवृष्टि, सिंहासन, देवदुन्दुभि आदि भोग-उपभोग की सामग्री भगवान् के उपयोग में ग्रहण नहीं होती। मोह ग्रहण करने का चुनाव करता है। जैसे-भूख असाता कर्म के उदय में होती है। लेकिन उपस्थित व्यंजनों का चुनाव मोह करता है। जो जितमोही और क्षीणमोही हो जाते हैं उनके उपयोग में मोह के अभाव में वस्तुओं के ग्रहण का चुनाव नहीं होता। क्षीणमोही बनने के लिए शुक्लध्यान आवश्यक होता है। प्रथम शुक्लध्यान के द्वारा जितमोही बनते हैं और द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा क्षीणमोही। दोनों शुक्लध्यान की शक्ति पृथक्-पृथक् होती हैं।

उदाहरण—जिस प्रकार स्कूटर, गाड़ी, प्लेन आदि में पेट्रोल डलता है, तब ये वाहन चलते हैं, किन्तु इन सभी में जो पेट्रोल डलता है वह अलग-अलग क्वालिटी का होता है। उसी प्रकार प्रथम शुक्लध्यान और द्वितीय शुक्लध्यान दोनों के विशुद्धिरूपी पेट्रोल में बहुत अन्तर होता है। प्रथम शुक्लध्यान का स्वामी जीव उपशान्त कषाय जितमोही भी होता है तथा द्वितीय शुक्लध्यान का स्वामी क्षीणमोही होता है। जिस प्रकार गाड़ी को ऊँचाई पर चढ़ाने में शक्ति लगानी पड़ती है उसी प्रकार द्वितीय शुक्लध्यान की चढ़ाई में साधक को पूरी शक्ति लगानी पड़ती है। तब मोह जड़ से समाप्त होता है। आचार्यों ने मोह को उपशमित और क्षय करने के लिए पुरुषार्थ करने को कहा है क्योंकि मोहनीय के क्षय होने पर ही तीन घातिया कर्मों का सत्त्व समाप्त होता है। दसवें गुणस्थान तक मोह को उपशम और क्षय करने का पुरुषार्थ होता है। मोह क्षय के पूर्व किसी भी कर्म के क्षय का पुरुषार्थ नहीं होता। मोह सबसे ज्यादा बलशाली होता है। मोह के क्षय होने पर अन्य तीन कर्म तो शेष घातिकर्म अन्तर्मुहूर्त में नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र स्वामी जी ने ध्यान का वर्णन बारह भावनाओं से प्रारम्भ किया है। राजा-राणा कहो और छत्रपति बनने की भावना भीतर रखो तो बारह भावनाओं का चिन्तन सार्थक नहीं होता। **आचार्य उमास्वामी** महाराज ने **स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः** इस सूत्र में कहा है कि चारित्र की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम परीषहजय और परीषहजय के लिए अनुप्रेक्षा, अनुप्रेक्षा के लिए धर्म (दशधर्म), धर्म के लिए समिति, इसके पश्चात् गुप्ति। इस प्रकार ये एक दूसरे

के कारण और कार्य होते हैं। जो इन्द्रियों को जीते बिना ऐसा कहता है कि–**मैं ध्यान कर रहा हूँ** वह आकाश के फूल तोड़ने के समान कार्य कर रहा है। क्यों तोड़ रहा है ? तो वह कहता है कि–**वन्ध्या के सुत (पुत्र) की शादी हो रही है उसके मुकुट बनाने के लिए आकाश से फूल तोड़ रहा हूँ।** कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धान रूप ध्यान तो सभी अवस्थाओं में होता है, लेकिन अनुभूति रूप ध्यान गुप्ति रूप अवस्था में होता है, क्योंकि यह ध्यान निर्विकल्प दशा में ही संभव होता है। **ध्यान केन्द्र खोलना और ध्यान केन्द्रीभूत करना अर्थात् केन्द्रित ध्यान से बात करना इसमें बहुत अन्तर है।** श्रद्धान रूप ध्यान तो विग्रहगति में भी रहता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन का निष्ठापन तो अपर्याप्त अवस्था में भी हो सकता है। चूँकि क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ धर्मध्यान भी रहता है अतः अपर्याप्तक अवस्था में भी धर्मध्यान का अस्तित्व सिद्ध होता है। **ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र स्वामी** का कहना है कि **वास्तव में महाव्रती बने बिना, इन्द्रियविजयी बने बिना ध्यान सम्भव नहीं है। हमारे तीर्थंकरों ने, योगियों ने आतापन, वृक्षमूल, अभ्रावकाश आदि योग रूप ध्यान किया है। आज तो एयरकण्डीशन में ध्यान करना चाहते हैं।** आचार्य कहते हैं कि **विकल्प जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं उन कारणों को फेंक दो अर्थात् उन कारणों से दूर हो जाओ तो विकल्प अपने आप समाप्त हो जायेंगे।**

विशेष सम्बोधन—लकड़हारा लकड़ी काटता है तो जहाँ गाँठ है वहाँ नहीं काटता है, क्योंकि गाँठ को नहीं काटा जा सकता। यह ग्रन्थि टूटती नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग में विषय कषायों की ग्रन्थि को तोड़ना आवश्यक है। इन ग्रन्थियों को तोड़े बिना मोक्षमार्ग में विकास नहीं हो सकता। अतः विषयों का समर्थन नहीं करना चाहिए। कषायों का समर्थन नहीं करना चाहिए। विषय कषायों के समर्थन से मोक्षमार्ग की अप्रभावना होती है। **मार्ग की अप्रभावना न हो यही प्रभावना है, इसका हमेशा ध्यान रखना चाहिए। अर्थात् अप्रभावना से हमेशा बचना चाहिए।** संसारी प्राणी को आर्त-रौद्र ध्यान का इतना अधिक अभ्यास है कि कितने भी उपसर्ग आ जायें परन्तु उससे एक अंश भी नहीं डिगते। बच्चों को पैसा दो और कहो जेब में रख लो तो वह पैसे को हाथ में ही लिए रहता है कि कहीं कोई न ले। इसी प्रकार ध्यान के अनन्तकालीन संस्कार हैं। तन्दुल (मत्स्य) मच्छ के पास भी वही रौद्रध्यान होता है जिसके द्वारा वह सप्तम नरक का द्वार खोल लेता है। धर्म से विपरीत ध्यान करने से संसारी प्राणी अधोगति को प्राप्त होता है इसलिए हे भव्य प्राणियो! ध्यान की प्रक्रिया बदल दो। जहाँ पर ग्रन्थि रहती है वहीं पर संसारी प्राणी का मन लगता है और उसे कोई ले न ले इसलिए उसी ओर ध्यान रहता है। अर्थात् विषय संरक्षणानन्द में मग्न रहता है। देव, गुरु, शास्त्र की आज्ञा को मानना भी धर्मध्यान है इस ध्यान पर भी ध्यान दो। मन की धारणा तोड़ना, मन को समझाना अत्यन्त कठिन है यह निश्चित बात है फिर भी जो इन्द्रियों को जीत लेता है अर्थात् इन्द्रियविजयी हो जाता है तो उसे जितमोही और क्षीणमोही बनने में समय नहीं लगता। इस प्रकार क्षीणमोह जिन सम्बन्धी तृतीय निश्चयस्तुति का

कथन पूर्ण हुआ।

जिज्ञासा—यह स्तवन भाव्य-भावक भाव के अभावरूप से कैसे हुआ ?

समाधान—आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि भाव्य तो रागादि परिणत आत्मा और भावक राग उत्पन्न करने वाला उदय में आया हुआ मोहकर्म है। इन दोनों भाव्य-भावकों का जो सद्भाव अर्थात् स्वरूप उसका अभाव विनाश या क्षय है वही तीसरी निश्चयस्तुति हुई। यहाँ पर भी उपर्युक्त गाथा में कथित रागद्वेषादि रूप जो दण्डक हैं, उन सबको यहाँ भी लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ—यहाँ पर आचार्य महाराज ने जिन शब्द की तीन प्रकार से निरुक्ति की है–१. जो समस्त परद्रव्यों से दूर हुआ इन्द्रियों को पूर्ण रूप से जीतता है, अतएव अपनी आत्मा में निमग्न है वह जिन है। २. जो मोह को सर्वथा उपशम कर आत्मानुभव में मग्न है वह जिन है। ३. जिसने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया वह साधु जिन है। इस प्रकार आचार्य देव ने जिन शब्द का अर्थ साधु अवस्था से ही प्रारम्भ किया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इनको गृहस्थ अवस्था में जिन गणना अभीष्ट नहीं है। (समयसार, पृ० ३९ आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा लिखित।)

ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, इसका अर्थ ज्ञान का प्रत्याख्यान नहीं किन्तु अज्ञान का, रागद्वेष रूप विकल्प का प्रत्याख्यान (त्याग) करना। विकल्पातीत ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। इसी विषय को आगे की गाथा से स्पष्ट किया जायेगा। प्रत्याख्यान (त्याग) करने पर संयम के साथ ऋद्धि-सिद्धि होती है। देवों में चूँकि प्रत्याख्यान नहीं होता इसलिए वहाँ संयम की गन्ध भी नहीं होती। देवगण ऋद्धिधारी संयमी मुनि के समीप आते हैं, उनकी परिक्रमा करते हैं, आगे-पीछे घूमते हैं, उनकी पूजा अर्चना विनय करते हैं। ज्ञान गुण आत्मा से अभिन्न है। ज्ञान दो प्रकार के होते हैं १. क्षायिकज्ञान, २. क्षायोपशमिक ज्ञान। क्षायोपशमिकज्ञान १२ वें गुणस्थान तक होता है। क्षायिकज्ञान १३ व १४ वें गुणस्थान में होता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** की दृष्टि से पर पदार्थों को ज्ञेय बनाने से ज्ञान में अस्थिरता आती है। अस्थिर ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति में कारण नहीं होता। ज्ञान की स्थिरता के लिए अन्य समस्त पर पदार्थों को हटाकर स्व आत्मतत्त्व को ज्ञेय बनाना आवश्यक है। आगे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, इस बात को युक्तिपूर्वक बताते हैं।

ज्ञान की स्थिरता को समझने के लिए दृष्टान्त—

दृष्टान्त—बिना लाइन के कोरे कागज पर लिखना ही वास्तव में लिखने की योग्यता का परिचायक है। लाइन पर तो लिखना सहज सरल है। लाइन वाले कागज पर लिखने से हाथ में लाइन है या नहीं, यह विदित नहीं हो पाता। बिना लाइन वाले कोरे कागज पर लिखने से पता चलता है कि इसके हाथ में लाइन है या नहीं। यदि हाथ में लाइन नहीं होगी तो लिखाई टेढ़ी-मेढ़ी होगी और यदि हाथ में लाइन है तो टेढ़ी-मेढ़ी लिखाई नहीं होगी। लाइन वाले कागज पर तो कोई भी सीधा-सीधा लिख सकता है। उसी प्रकार पर पदार्थों को ज्ञेय बनाना तो सहज और सरल है लेकिन आत्मा को वह भी

स्वशुद्ध आत्मा को विषय बनाना अत्यन्त दुर्लभतम कार्य है। पर पदार्थों को विषय बनाने पर ज्ञान उतना स्थिर नहीं होता जितना स्व को विषय बनाने पर होता है। स्व को विषय बनाने पर ज्ञान की स्थिरता का पता चलता है। पर द्रव्य को तो कोई भी विषय बना सकता है। पर द्रव्य को विषय बनाना लाइन वाले कागज पर लिखने के समान है, किन्तु स्व को विषय बनाना बिना लाइन के कोरे कागज पर लिखने के समान है। इससे ज्ञान की स्थिरता का पता चलता है। इस प्रकार इस प्रकरण की प्रथम गाथा में देह और आत्मा को एक मानने रूप पूर्वपक्ष किया। फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहारनय का समर्थन करते हुए उसका उत्तर दिया। फिर तीन गाथाओं से निश्चयस्तुति के कथन से उसी का विशेष समाधान किया। इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसके परिहार रूप आठ गाथाओं का छठा अधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञान है, वही है लक्षण जिसका ऐसे प्रत्याख्यान के वर्णन से चार गाथायें कही जाती हैं। तिनमें स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान ऐसा कथन करते हुए पहली गाथा है, फिर प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्त रूप दूसरी गाथा है। फिर मोह के त्याग रूप से पहली गाथा है और ज्ञेय पदार्थ के त्याग रूप से दूसरी गाथा है, ऐसी दो गाथायें हैं। इस प्रकार सातवें स्थल की चार गाथाओं में समुदायपातनिका हुई।

यहाँ यदि जीव और देह को एक नहीं माना जायेगा तो ''तीर्थंकर व आचार्य की जो स्तुति की गई है वह व्यर्थ होती है'' इस प्रकार पूर्वपक्ष के बल से जीव और देह में एकपना मानना ठीक नहीं है, ऐसा जानकर प्रतिबुद्ध होता हुआ शिष्य पूछता है कि–हे भगवन्! रागादिकों का प्रत्याख्यान किस प्रकार किया जाये ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥३९॥

अन्वयार्थ–(णाणं) ज्ञान को (से) **(सव्वे भावे)** सभी पदार्थ **(परेत्ति)** पर है ऐसा **(णादूण)** जानकर **(पच्चक्खाई)** त्यागता है **(तम्हा)** इस कारण से **(णाणं)** ज्ञान को **(णियमा)** नियम से **(पच्चक्खाणं)** प्रत्याख्यान **(मुणेदव्वं)** जानना चाहिए।

अर्थ—यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है, तब उन्हें उसी समय छोड़ देता है, अतः वास्तव में ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

मिथ्यात्व रागमय भाव विभाव सारे,
यों जान, ज्ञान इनको जड़ से निकारे।
हो प्रत्याख्यान फलतः निज ज्ञान प्यारा,
मेरा उसे नमन हो शत कोटि बारा ॥३९॥

व्याख्या—''जानाति इति ज्ञानं'' यह ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है। अतः स्वसंवेदन ज्ञान ही

आत्मा नाम से कहा जाता है। वह ज्ञान जब मिथ्यात्व, रागादि भावों को ये परस्वरूप हैं, ऐसा जान लेता है तब उन्हें छोड़ देता है। इसलिए निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है ऐसा मानना चाहिए।

जो ज्ञान पर पदार्थ को पर के रूप में जानकर प्रत्याख्यान कर देता है वास्तव में उस ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा जाता है। ज्ञान को प्रत्याख्यान से भिन्न नहीं समझना चाहिए। आप **सोचो, विचार करो, ग्रहण भी ज्ञान के द्वारा होता है और त्याग भी ज्ञान के द्वारा ही होता है।** ''यह मेरा नहीं है'' ऐसा जानकर भी जो ज्ञान पर पदार्थ को ग्रहण करता है वह प्रत्याख्यान रूप नहीं कहलायेगा। जिसका ज्ञान प्रत्याख्यान रूप होता है उसे परिग्रह के ढेर में भी बिठा दें तो चूँकि वह उसे ग्रहण नहीं करता इसलिए उसके प्रत्याख्यान का प्रत्याख्यान नहीं कहलायेगा अर्थात् उसका ज्ञान प्रत्याख्यान रूप से सुरक्षित रहता है। समीचीन ज्ञान वस्तु को वस्तु के रूप में जानता है। ज्ञान जागृत रहता है तो वह विजयी होता है अन्यथा हार होती है। कोई व्यक्ति अरबपति है यदि वह पागल हो गया तो उस समय उसके घर के लोग तो सभी अरबपतित्व का अनुभव करेंगे किन्तु वह वैसा नहीं करता अतः उस समय वह अरबपति नहीं किन्तु पागल है। उसका ज्ञान पागलपन से युक्त है। ''पर पदार्थ मेरा है'' ऐसा विकल्प मत करो तो आपका प्रत्याख्यान हमेशा सुरक्षित रहेगा।

प्रत्याख्यान करने के उपरान्त यदि कुछ ग्रहण का भाव जागृत होता है, कुछ गलत होता है तो पश्चाताप होता है, प्रायश्चित लेना आवश्यक होता है। प्रत्याख्यान के बाद ग्रहण का भाव यह तीर्थंकरों को भी नहीं छोड़ता, उनको भी आहारचर्या करने जाना पड़ता है। छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान उनका भी चलता है। उपात्त-अनुपात्त चलता रहता है। काय के प्रति ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग है यह भी प्रत्याख्यान है।

प्रतिभासम्पन्न बालक को यदि एक नम्बर भी कम आता है तो उसे धक्का लगता है और हम लोगों के ९९ नम्बर भी नहीं आते तो भी धक्का नहीं लगता। पर पदार्थ के प्रत्याख्यान में मात्र बाह्य वस्तुओं का त्याग ही विवक्षित नहीं है, किन्तु 'पर' ऐसा कहने से मिथ्यात्व-रागादि विकारी विचार भी 'पर' हैं, ऐसा समझना आवश्यक है। रागद्वेष की उत्पत्ति भी हिंसा है, रागद्वेष अभ्यन्तर परिग्रह भी हैं। यहाँ रागद्वेष रूप निश्चय परिग्रह के त्याग की बात भी प्रासंगिक है। रागद्वेष नहीं करने रूप उपयोग की प्रणाली का नाम ही यहाँ स्वसंवेदन या शुद्धात्मा का अनुभव कहा है। परम समाधि के काल में बुद्धिपूर्वक अन्तरंग एवं बाह्य परिग्रह के त्याग को यहाँ स्वसंवेदन ज्ञान, निर्विकल्प ज्ञान कहा है। उसी का नाम निश्चयप्रत्याख्यान है। निर्विकल्प ज्ञानी शुद्धोपयोगी साधक जब कभी कोई उपसर्ग आता है तो उसके दूर होने तक निश्चयप्रत्याख्यान कर लेते हैं और निश्चयप्रत्याख्यान होने के बाद वे बाहर प्रवृत्ति में आना नहीं चाहते। आत्मा में जो प्रवृत्ति रूप विचार होते हैं उनको निवृत्त करते हैं। यह निवृत्ति निर्विकल्प ज्ञानात्मक होती है।

दृष्टान्त—जैसे १५ अगस्त को भारतदेश स्वतन्त्र हो जायेगा, जब ऐसा कहा गया तो वह स्वतन्त्रता ज्ञान में आ गई, अनुभव में नहीं, किन्तु जब स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी तभी स्वतन्त्रता अनुभूत हुई। उसी प्रकार जब निश्चय प्रत्याख्यान करने का भाव होता है तब उसका ज्ञान में विचार तो आ जाता है, किन्तु अनुभव में नहीं, किन्तु जब छोड़ने के विचार को साकार कर लेते हैं अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर विकल्पों का प्रत्याख्यान कर लेते हैं तभी साधक को सही प्रत्याख्यान का अनुभव होता है। लेकिन **चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए** यह स्थिति रहेगी तो सही प्रत्याख्यान नहीं माना जायेगा, क्योंकि आगम कहता है जैसे बुद्धिपूर्वक बाह्य वस्तुओं को ग्रहण किया था, वैसे ही बुद्धिपूर्वक त्याग भी अनिवार्य है, तभी गुणस्थान परिवर्तित होता है। प्रत्याख्यान का ज्ञान होने के बाद भी यदि कोई कहता है कि जब दृढ़ता आयेगी तब छोड़ेंगे, तो उसका यह कहना वस्तु के प्रति भीतरी लगाव एवं गहल भाव का द्योतक होता है। छोड़ने और जोड़ने के विचार मात्र करने में समय नहीं लगता किन्तु बुद्धिपूर्वक वास्तव में उन वस्तुओं को छोड़ना बहुत कठिन होता है। कोई-कोई चोर इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि लकड़ी टूट जाए परन्तु मार सहते-सहते उनकी पीठ पर कोई फर्क नहीं पड़ता। ठुक-ठुककर पीठ अभ्यस्त हो गई। उसी प्रकार यह रागद्वेष की प्रणाली से संसारी प्राणी इतना अभ्यस्त हो गया है कि उससे दुःखी होने के बाद भी उसे छोड़ नहीं पाता। छोड़ने का भाव होने के बाद भी नहीं छोड़ पाता। प्रत्याख्यान करना अत्यन्त दुर्लभ है।

ज्ञान को प्रत्याख्यान कहने का तात्पर्य ज्ञान का त्याग नहीं किन्तु चूँकि ज्ञान में ही प्रत्याख्यान करने का भाव होता है इसलिए ज्ञान को प्रत्याख्यान कहा है। ज्ञान में वस्तु का ग्रहण नहीं होता किन्तु ग्रहण का भाव तो होता है। मोहनीय कर्म के उदय में पर वस्तु को ग्रहण करने का भाव होता है, उस भाव के त्याग को प्रत्याख्यान कहा है। **राग-पत्र में ग्रहण किया जाता है और त्याग-पत्र में छोड़ दिया जाता है।** राग-पत्र में यदि कोई बाधा आती है तो जिस बुद्धि से ग्रहण किया जाता है उसी बुद्धि से त्याग-पत्र दे दिया जाता है। यहाँ ग्रहण और त्याग में बुद्धि विवक्षित है। अर्थात् बुद्धि में जो वस्तु स्वीकृत है उसे छोड़ने के लिए बुद्धि ही तैयार हो जाती है।

प्रत्याख्यान का अर्थ चारित्र भी होता है। प्रारम्भ की अनन्तानुबन्धी आदि तीन चौकड़ी (अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ) सर्वघाति हैं और संज्वलन की चार तथा नव नोकषाय देशघाति हैं। प्रत्याख्यानावरण कषाय का जब तक उदय रहता है तब तक संयम ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह कषाय संयम का पूर्ण रूप से घात करती है। चूँकि संज्वलन कषाय देशघाति है इसलिए इसके उदय रहते हुए भी संयम प्रकाशित रहता है। संयमी मुनि उपकरण, पिच्छिका, कमण्डलु, शास्त्र को उपकरण के रूप में ग्रहण करते हैं, अन्य वस्तुओं की तरह और असंयमी की तरह ग्रहण नहीं करते। अतः उन्हें परिग्रह की कोटि में नहीं रखा जाता। उन्हें उपकरण कहा गया है। ज्ञान के द्वारा संसारी प्राणी आत्मा के स्वरूप को जानते हुए भी मोह के कारण अपने आपको

परिग्रह (परद्रव्यों) का स्वामी स्वीकार करता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव कहता है कि–तिलतुष मात्र भी मेरा नहीं है। ग्रन्थ की ओर दृष्टि न जाकर यदि मूल्य की ओर दृष्टि गई तो वह परिग्रह सम्बन्धी विकल्प कहलायेगा। यदि स्वाध्याय को मूल्य माना तो वह परिग्रह नहीं माना जायेगा।

ज्ञान को प्रत्याख्यान कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान में जो पर वस्तु के स्वामित्व को स्वीकार किया जाता है उसका त्याग करना। मुनिराज के समक्ष कितनी भी सम्पदा रख दो तो भी वे प्रत्याख्यान होने के कारण उसे ग्रहण नहीं करते। संसारी प्राणी मोह के कारण परद्रव्य के स्वामीपन को स्वीकार करता है, वह जिसका स्वामी होता है, उसे सर्वाधिकार सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। उसकी वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना कोई छू नहीं सकता। यहाँ तक कि शास्त्रों, पुस्तकों को भी स्वयं का समझता है, जबकि शब्द-शब्द मिलकर पद बनते हैं, पद मिलकर वाक्य बनते हैं और वाक्य मिलकर शास्त्र का रूप धारण करते हैं। इसमें अपना है ही क्या ? किन्तु मोह के कारण यह सब होता है। एक तरफ सर्वाधिकार सुरक्षित कहते हैं और फिर जिनवाणी भी कहते हैं, ऐसी स्थिति में जिनवाणी कहना भी औपचारिक है। **प्रत्याख्यान का व्याख्यान तो बहुत सरल है, किन्तु प्रत्याख्यान करना बहुत कठिन है। व्याख्यान से प्रत्याख्यान करना अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।** ज्ञान में ग्रहण करने का संकल्प होता है तो त्याग का भी संकल्प होता है।

दृष्टान्त—जैसे कोई भी ट्यूब है उसे बाहर से दबायेंगे तो उसमें अन्दर की दवाई या मलहम आदि बाहर आ जाती है। यदि बाहर से उस दवाई को अन्दर करेंगे तो वह पुनः भीतर नहीं जाती, क्योंकि मार्ग नहीं है। साईकिल के ट्यूब-टायर में से यदि हवा निकाली जाती है तो वह पुनः भीतर नहीं जाती। उसमें पुनः हवा भरने की एक प्रक्रिया होती है। उसी तरह प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय में जीव जिस वस्तु को स्वीकार कर लेता है उसे कोई त्याग नहीं करा सकता और जिस समय त्याग स्वयं करने का संकल्प कर ले तो उसे कोई रोक नहीं सकता।

जिज्ञासा—ज्ञान का फल क्या है ?

समाधान—हानोपादानोपेक्षास्तत् फलं अज्ञाननिवृत्तिर्वा ज्ञान का फल हान (त्याग) उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा है। अज्ञान की निवृत्ति भी ज्ञान का फल है। हेय का त्याग, उपादेय का उपादान (ग्रहण) और रागद्वेष नहीं करने रूप उपेक्षा भाव यह सब ज्ञान में ही होते हैं। यह ज्ञान का ही परिणमन है। हेय का ग्रहण अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान के उदय में होता है। कर्म सिद्धान्त में कोई औपचारिकता नहीं होती। समीचीन ज्ञान, संयम सहित ज्ञान कभी हेय का ग्रहण नहीं करता। औपचारिक रूप से ग्रहण और त्याग नहीं होता है, किन्तु वास्तविक रूप से बुद्धिपूर्वक हेय का त्याग करता हुआ श्रमण आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार ज्ञान के फल के रूप में ज्ञान की चार परिणतियाँ होती हैं–१. हान, २. आदान, ३. उपेक्षा और ४. अज्ञाननिवृत्ति। ज्ञान ही प्रत्याख्यान है यह अत्यन्त गूढ़ तत्त्व है, इसे समझने

का और गूढ़ चिन्तन करके अपने ज्ञान को प्रत्याख्यान स्वरूप बनाने का प्रयास करना चाहिए। किसी भी वस्तु को पर अथवा हानिकारक जानते हुए भी यदि उसे छोड़ने का प्रयास नहीं किया जाता तो समझो कि उसके जानने में कमी है अर्थात् वह अज्ञानी है।

उत्थानिका—आगे प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्त देते हुए स्पष्टीकरण करते हैं–

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णादूण विमुंचदे णाणी ॥४०॥

अन्वयार्थ—**(जह णाम)** जैसे **(कोवि पुरिसो)** कोई भी पुरुष **(परदव्वमिणंति)** परद्रव्य को **(जाणिदुं)** जानकर **(चयदि)** त्यागता है **(तह णाणी)** उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष **(सव्वे परभावे)** समस्त पर द्रव्यों के भावों को **(णादूण)** (यह पर है ऐसा) जानकर **(विमुंचदे)** छोड़ता है।

अर्थ—जैसे कोई भी पुरुष यह जानकर कि ''यह परद्रव्य है'' उसे वह छोड़ देता है। उसी प्रकार जो आत्मा से अतिरिक्त पदार्थों को अपने से भिन्न जान लेता है तो उन्हें छोड़ ही देता है, वह ज्ञानी कहलाता है।

मेरी न वस्तु यह है जब जान लेता,
जैसा कि सज्जन उसे झट त्याग देता।
रागादि भाव पर हैं, पर से न नाता,
ऐसा पिछान मुनि भी उनको हटाता ॥४०॥

व्याख्या—जैसे कोई भ्रम से दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर धोबी के घर से उसे ले आया और पहन कर सो गया। पश्चात् उसे उस वस्त्र का स्वामी आकर अपना बताता है, उस वस्त्र को पकड़कर खींचता है और उतारना चाहता है तो उस वस्त्र के विशेष चिह्न को देखकर जब उसे दूसरे का समझ लेता है तब उसे उतार देता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा यह सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नहीं हैं, तू एक शुद्धात्मा मात्र ही है, ऐसा समझाया जाने पर उनको पर जानकर छोड़ देता है और शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है, वही ज्ञानी है।

यह 'पर' वस्तु है, ऐसी जानकारी होने के बाद भी यदि कोई उसे नहीं छोड़ता है तो जानकारी का क्या महत्त्व ? ''यह पर है, यह ज्ञान है फिर भी उसी में तत्पर है'' तो उस ज्ञान का क्या महत्त्व? **छहढाला** में कहा है कि **सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ़ चारित्र लीजै** अर्थात् अपना पराया का ज्ञान हो गया कि अपना क्या है ? और पर क्या है ? फिर विचार कीजिए कि–''जो अपना है उसका न ग्रहण होता है न त्याग'' किन्तु जो पराया है अर्थात् परवस्तुयें हैं उन्हीं का ग्रहण और त्याग होता है। गुण अपने होते हैं, दोष पर के निमित्त से आते हैं उन्हें त्यागा जा सकता है। गुणों को प्रकट किया जाता है। **गुण ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जाये** दूसरों के गुणों पर दृष्टि रखो, उन्हें अपने में प्रकट करो तथा अपने दोषों पर दृष्टि डालो और उन्हें निकाल दो।

दृष्टान्त—जैसे–आप कहीं बैठे हैं और आपसे द्वेष रखने वाला कोई सामने आ जाता है तो आपकी सहज प्रकृति में अन्तर आ जाता है अर्थात् ललाट पर झुर्रियाँ आ जाती हैं। ज्यों ही वह चला जाता है त्यों ही आपकी सहज प्रकृति हो जाती है। उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण यहाँ तक कि संज्वलन के तीव्र उदय होने पर ज्ञान रूपी सरोवर में कर्मोदय रूपी हवा के कारण खलबली मच जाती है। ज्ञान रूपी सरोवर में विकल्प रूपी तरंगें उठती हैं। उन्हें हाथ से (यूँ) नहीं मिटाया जा सकता। वे सरोवर में ही समाहित हो जाती है। विकल्प रूपी तरंगों के आने पर ज्ञान में खलबली होती है। कर्म का उदय शान्त हो जाता है तो ज्ञान सहज प्रकृति में आ जाता है। विकल्प की तरंगें शान्त हो जाती हैं। उसी प्रकार ज्ञानी परद्रव्य को पर समझकर उसे छोड़ देता है। बाह्य परद्रव्य नोकर्म और भीतरी परद्रव्य, द्रव्य व भावकर्म हैं। इन समस्त परद्रव्यों को पर समझकर ज्ञानी जीव उनसे दूर बहुत दूर हो जाता है। ज्ञानी जीव का यही समीचीन ज्ञान प्रत्याख्यान कहलाता है।

दृष्टान्त—जैसे–मान लीजिए आपने एक घण्टे का पूर्ण रूप से मौन का संकल्प लिया है जिसमें लिखकर भी बात नहीं करेंगे, हाँ, हूँ भी नहीं करेंगे। थोड़ी देर बाद उसी समय यदि आपका कोई खास मित्र आ गया। कई महीनों के बाद मिलने आया है। वह आकर बैठता है, आपसे कुछ बात करता है, लेकिन जब आप उससे न कुछ बोलते हो, न हूँ, हाँ करते हो और न ही कोई इशारा करते हो तब मित्र आपसे पूछता है कि–क्यों मित्र! क्या हो गया ? नाराज हो क्या ? क्यों नहीं बोल रहे हो ? वह बहुत कम समय लेकर आया है। एक घण्टे में उसे वापस जाना है। वह मित्र बैठा–बैठा विकल्प करता जाता है। यदि आपमें दृढ़ता नहीं होगी तो आप भी भीतर–भीतर विकल्प कर सकते हैं। प्रत्याख्यान करने के उपरान्त बार–बार विकल्प आते हैं, यह बड़ा भूत है, उचित नहीं है। एक बार दो ब्रह्मचारी ने संकल्प लिया कि–ये उठेंगे तो मैं उठूँगा। किसी को संकेत कर नहीं सकते। दो घण्टे हो गये। कोई नहीं उठा और उठे तो दोनों एक साथ उठ गये। प्रत्याख्यान करने के बाद परीक्षा होती है कि आप कितने दृढ़ हैं ? दो में से एक को उठना ही पड़ा, हार मानना ही पड़ी। बहुत कठिन है त्याग का संकल्प। बहुत महत्त्वपूर्ण है प्रत्याख्यान। वे दोनों एक दूसरे पर डिपेण्ड थे, वैसे ही, जैसे कि दो व्यक्ति घर से बाहर जाते हैं तो दरवाजा बन्द किया और ताला लगा दिया। वापस आये तो ताला खोलना चाहा, परन्तु चाबी अन्दर थी। अब क्या करें ? चाबी मिले तो ताला खुले और ताला खुले तो चाबी मिले। यह अन्योन्याश्रय है। ताला दबाने वाला था। खींचकर खोल दिया। अन्दर चले गये। चाबी भी मिल गई। कार्य हो गया।

समीचीन रूपेण ज्वलिति इति संज्वलन—

अर्थात् जिसके उदय रहते हुए भी संयम का प्रकाश फैला रहता है या संयम का दीपक जलता रहता है उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। इसके असंख्यातलोक प्रमाण भेद होते हैं। संज्वलन के देशघाती स्पर्धकों के उदय के तारतम्य से उसके भेद होते हैं। श्रावकों में भी कोई एक प्रतिमा, कोई २, कोई ३,

४, ५ कोई ग्यारह प्रतिमा वाला श्रावक है। इस देशसंयम में भी स्पर्धकों के तारतम्य से अनेक भेद होते हैं। जैसे–सम्यक् प्रकृति के उदय के कारण सम्यग्दर्शन में दोष लगते हैं, उसी प्रकार सकल संयम लेने के बाद भी संज्वलन के स्पर्धकों के उदय की तारतम्यता होती है। जैसे–दीपक का प्रकाश आ रहा है तो उसमें थोड़ा-बहुत धुँआ होता ही है। रत्नदीपक हो तो धुँआ नहीं होता। उसी प्रकार संज्वलन के उदय में भी धुँआ रूप विभाव परिणतियाँ होती हैं। प्रत्याख्यान कषाय के उदय में संयम का अभाव होता है। संयम तथा संयमासंयम के साथ संज्वलन की चौकड़ी रहती है। संज्वलन का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है। यह कषाय संयम में बाधक नहीं किन्तु यथाख्यात संयम में बाधक होती है। इसके उदय रहने पर यथाख्यात संयम प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यक् प्रकृति के उदय रहने पर कोई **महावीर भगवान्** को, कोई **आदिनाथ भगवान्** को, कोई पार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ को विशेष महत्त्व देता है। कई व्यक्ति इसे मिथ्यात्व कह देते हैं लेकिन उन्हें यह धारणा छोड़ देना चाहिए। ऐसा मानना उचित नहीं है। सम्यक् प्रकृति के उदय में चल, मलिन, अगाढ़ दोष लगते हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन बना रहता है। यह मिथ्यात्व की देन नहीं किन्तु मिथ्यात्व के वंश में पलने वाली सम्यक्प्रकृति की देन है।

दृष्टान्त–जैसे–धतूरे के बीज में जहर है, यह निश्चित है। यदि धतूरे के बीज को साक्षात् खायेंगे तो विष का कार्य देखने में आयेगा। लेकिन उसे यदि पानी में फुलाकर रसायनपद्धति से उसकी शक्ति को कम करके लिया जाता है तो वही धतूरा ज्वर नाशक हो जाता है। औषधि के रूप में रोगनाशक हो जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी धतूरे के बीज का सेवन करने से ज्ञान विपरीत (विष) का कार्य देखा जाता है लेकिन उसी को सम्यग्दर्शन रूप विशुद्धि के यन्त्र से विष की शक्ति क्षीणकर दी जाती है तब वह सम्यक्प्रकृति अपना विष (मिथ्यात्व) रूप कार्य नहीं करती, किन्तु सम्यग्दर्शन में चल, मलिन, अगाढ़ दोष को पैदा करती है। जिससे क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि की मान्यता इस प्रकार होती है कि **श्री शान्तिनाथ** भगवान् शान्ति के कर्ता हैं, श्री पार्श्वनाथ भगवान् संकट के हर्ता हैं। जबकि **भगवान् महावीर, शान्तिनाथ** या **पार्श्वनाथ** के अन्तरंग अनन्त चतुष्टय में कोई अन्तर नहीं होता। फिर भी उनको भिन्न-भिन्न विशेषता युक्त स्वीकार करता है, उनके प्रति पृथक्-पृथक् श्रद्धा रखता है।

दृष्टान्त–गेहूँ तो गेहूँ है। जिस भाव का लेंगे, वैसी ही क्वालिटी का मिलेगा। चार रुपये किलो वाला गेहूँ का आटा खरीदोगे तो उसमें आटा कम चापर ज्यादा होगा। पैसे बचाने का लगाव होने के कारण ऐसे आटे को खरीदा जाता है। इसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चापर सहित (दोष सहित) आटे के समान है। उपशम व क्षायिक सम्यग्दर्शन विशुद्ध, दोष रहित, निर्मल होते हैं। देव, गुरु, शास्त्र के प्रति श्रद्धान होते हुए भी सम्यक् प्रकृति के उदय में किसी का विधान में, किसी का स्वाध्याय में, किसी का भक्ति में, किसी का ध्यान में मन लगता है।

समयसार का स्वाध्याय करने वाला कहता है कि–देखो, कर्मनिर्जरा किसके द्वारा होती है, यह ये लोग जानते नहीं हैं ? विधानादि करना मिथ्यात्व है, बन्ध का कारण है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा

कहने वाला आगम का अन्यथा प्ररूपण करने वाला घोर मिथ्यात्व का बन्ध करता है। कोई भी श्रावक भक्ति कर रहा है, वैय्यावृत्ति कर रहा है, या विधान कर रहा है तो यह नहीं कहा जा सकता कि ये गलत कर रहा है, क्योंकि भक्ति, विधान आदि करने से पुण्य का बन्ध होता है, यह ठीक है। लेकिन पापकर्म का संवर एवं असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा भी होती है। आधार एक है निमित्त पृथक्-पृथक् हैं। किसी ने भगवान् को, किसी ने शास्त्र को, किसी ने गुरु को निमित्त बनाया है। तात्पर्य यह है कि भीतर जो विभाव परिणति चल रही है उसे 'ये मेरे स्वभाव नहीं हैं' यह जानकर छोड़ना आवश्यक है। इसके लिए ही प्राथमिक अवस्था में विधान, दान, पूजा, स्वाध्याय, वैय्यावृत्ति आदि का आलम्बन लिया जाता है। जैसे-देवदत्त वस्त्र को 'दूसरे का है' ऐसा निश्चय कर छोड़ देता है उसी प्रकार गुरु महाराज कहते हैं कि-''तुम तो शुद्धात्मा हो, भव्य हो, ज्ञानी हो, इत्यादि'' ऐसा निश्चित करके साधक अपने विभाव भावों को छोड़ने का प्रयास करते हैं। तभी वे सच्चे ज्ञानी कहलाते हैं, अन्यथा नहीं। मात्र ''मैं शुद्धात्मा हूँ'' ऐसा शाब्दिक ज्ञान होने पर अपने को सम्यग्दृष्टि मानना, यह उचित नहीं है, किन्तु ज्ञान के साथ शुद्धात्मा की अभिव्यक्ति और रागद्वेषादि विभाव परिणति से दूर भी होना चाहिए। मात्र शाब्दिक ज्ञान से मोक्षमार्ग में सफलता प्राप्त नहीं होती। तथा जो वास्तव में सम्यग्दृष्टि होता है उसे यदि कोई कहे कि-तुम सम्यग्दृष्टि नहीं हो या इस सम्यग्दर्शन से क्या लाभ है ? इत्यादि वचनों से वह सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं होता। सम्यग्दर्शन मोम का है क्या ? आचार्यों ने कहा है कि **सम्यग्दर्शन वज्र से भी कठोर होता है। यदि कोई मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि के पास जाता है तो उसे अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ रखते हुए उसकी दृष्टि को बदलने का प्रयास करना चाहिए।** आज सम्यग्दर्शन की बातें ही बातें यानि चर्चा बहुत करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि को देखना ही नहीं चाहते। जबकि मिथ्यादृष्टि को उपदेश देकर उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की प्रेरणा देना चाहिए। सम्यग्दृष्टि की देशना रूपी किरण अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है। **मिथ्यादृष्टियों की दृष्टि सुधारने के लिए सम्यग्दृष्टि की दृष्टि होती है। दोष को दोष समझना ही गुणों का आदर है। दोषी के पास जाना किन्तु दोषी के दोषों से चिपकना नहीं अर्थात् दोषों को ग्रहण नहीं करना।** इसी ग्रन्थ में आगे उदाहरण आयेगा कि-श्वेतपना कभी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि कभी अपने स्वभाव को छोड़कर अध्यवसान भाव नहीं करता। मिथ्यादृष्टि के पास जाने से कोई उसके भाव अपने में नहीं आ जाते हैं। यह विभाव भाव विकार है, इसे छोड़ना होगा।

दृष्टान्त—जैसे माँ बेटे से कहती है कि बेटा-तू तो सयाना है ना ? हाँ, माँ। माँ पुनः कहती है-बेटा जब तू सयाना है तो घर की हालत क्यों बिगाड़ दी ? बेटा कहता है-लो मेरे द्वारा यदि घर की हालत बिगड़ रही है तो मैं घर से चला जाता हूँ। तब माँ कहती है-नहीं बेटा, ऐसा नहीं करना। घर छोड़ दो इसलिए थोड़ी कहा है मैंने। धीरे-धीरे उसे समझाती है, तो बेटे को समझ में आ जाता है। उसी प्रकार हमें आचार्य महाराज समझा रहे हैं कि हे भव्य प्राणी तुम तो शुद्धात्मा हो, अपनी आत्मा के घर को

क्रोधादि विकृत परिणामों से विकृत क्यों करते हो ? उनके परिणाम स्वरूप चतुर्गति भ्रमण क्यों करते हो ? आओ, अपने स्वभाव का ध्यान करो और विकृत परिणामों से दूर रहो। भव्य प्राणी को समझ में आ जाता है तो शुद्धात्मा के ध्यान में मग्न हो जाता है। अपने घर में रहने का प्रयास करता है। इसे दूसरे दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है।

दृष्टान्त—जैसे किसी को फोड़े के कारण घाव हो गया तो उसे साफ करके औषधि वगैरह लगाकर, उस पर रुई रखकर पट्टी से बाँध देते हैं। कुछ दिनों तक उसकी ड्रेसिंग करना आवश्यक होता है। दूसरे दिन जब ड्रेसिंग करते हैं तो दर्द के कारण वह किसी को छूने नहीं देता। वह कहता है—मैं अपने हिसाब से कर लूँगा, वह धीरे-धीरे पट्टी रुई वगैरह को निकालता है, अन्दर दवाई के साथ एक पट्टी और लगाते हैं जो घाव से चिपक जाती है उसे निकालने में अत्यधिक दर्द होता है, उसे डर लगता है तो डॉ॰ कहता है लाओ, मैं निकाल देता हूँ। उसको कह देते हैं कि—तुम यहाँ मत देखना, अपना मुँह उस तरफ फेर लो। यूँ कहते-कहते फट से निकाल देता है। डॉ॰ हमेशा घाव की कच्ची चमड़ी को निकालने के लिए मना करते हैं, क्योंकि वह भीतरी घाव के भाग से तादात्म्य को लिए हुए रहती है। वह घाव सूखने पर स्वतः ही निकल जाती है। घाव की यह चमड़ी अबुद्धिपूर्वक अपने आप निकलती है जबकि रुई वगैरह को बुद्धिपूर्वक निकालना आवश्यक होता है। घाव के सामने ज्ञाता-दृष्टा बनना बहुत कठिन होता है। घाव जब मिटने को होता है तो उसमें खुजली आती है। इस समय घाव पर हाथ सहज ही पहुँच जाता है। उसका मात्र ज्ञातादृष्टा भाव से अवलोकन अत्यन्त दुर्लभतम है। आज तो ऐसा हो रहा है कि—

ज्ञाता-दृष्टा आतमराम मैं घर (जग) का करता सब काम।

जिस प्रकार घाव में चिपकी रुई आदि नहीं निकालेंगे तो घाव सड़ जायेगा उसी प्रकार बुद्धिपूर्वक जिन वस्तुओं को ग्रहण किया है यदि उनका त्याग नहीं करेंगे, बल्कि उनमें रागद्वेष करेंगे तो ज्ञान दूषित हो जायेगा। इनका त्याग किए बिना साधक निर्विकल्प समाधि में लीन नहीं हो सकता। जब निर्विकल्पसमाधि में लीन हो जाता है, तब शेष विकल्प अबुद्धिपूर्वक अपने आप समाप्त हो जाते हैं। सर्वप्रथम घाव की जगह में मांस भरता है तब ऊपर की पपड़ी आती है। घाव भरने की यह प्रक्रिया है। घाव की पस (पीव) निकालने मात्र से वह ठीक नहीं होता। उसी प्रकार मिथ्यात्व मात्र को निकालने से सब कुछ प्राप्त नहीं होता, किन्तु सर्वप्रथम धन-धान्यादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग आवश्यक है। बाद में बुद्धिपूर्वक कषायात्मक विकल्प का त्याग अनिवार्य है। इतना होने पर अबुद्धिपूर्वक होने वाले कषायभाव अपने आप घाव की पपड़ी के समान समाप्त हो जाते हैं।

दृष्टान्त—रोटी बनाते समय कभी-कभी रोटी की ऊपर की पपड़ी जल जाती है। भोजन के समय उस रोटी की जली हुई पपड़ी अलग करके खा लेते हैं, तो उसमें असली स्वाद नहीं आता क्योंकि रोटी के जलने का प्रभाव रहता है। उसी प्रकार संज्वलन के उदय के कारण संयम रूपी रोटी पर कषाय रूपी

अग्नि का प्रभाव रहता है। अतः संयम का स्वाद (अनुभव) आता तो है, किन्तु शुद्ध संयम का स्वाद नहीं आता अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का कषाय भाव रहित स्वाद नहीं आ पाता।

घाव अपने समय पर ही भरता है, समय पर ही घाव के ऊपर पपड़ी आती है। उसी प्रकार संज्वलन के कुछ भावों का अबुद्धिपूर्वक त्याग समय पर होता है। फिर भी अभी तो मिथ्यात्व राग, द्वेष, स्वामीपना आदि छोड़ना तो प्रारम्भ कर दो। ये सभी बातें बार-बार साधक के लिए कही जा रही हैं। कोर्स की पुस्तकों को न पढ़कर इधर-उधर की पुस्तकें पढ़ने वाला पेपर देता है तो फेल हो जाता है। पिता उससे पूछता है कि-इधर-उधर की पुस्तकें क्यों पढ़ते हो ? वह कहता है-मेरे दोस्त भी पढ़ते थे। इसलिए हम भी पढ़ने लगे। उसका ऐसा कहना और ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि वह तो शोध का छात्र था। तुम्हें तो अभी बोध ही नहीं है। अतः कोर्स का ही पढ़ो। इसी तरह आचार्य कहते हैं अभी तुमने जिस-जिस को बुद्धिपूर्वक अपनाया था उसका त्याग करो। अबुद्धिपूर्वक होने वाले भावों का त्याग होना आगे का कोर्स है। इस गाथा का यही तात्पर्य है।

आचार्यदेव के कथन का सार यह है कि ज्ञानी जीव परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा यह सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नहीं हैं, तू एक शुद्धात्मा ही है, ऐसा समझाया जाने पर, उनको पर जान छोड़ देता है और शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है, वही ज्ञानी है। इस प्रकार दो गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे शुद्धात्मा की अनुभूति का अनुभव किस प्रकार होता है ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव मोहादिक के परित्याग का प्रकार बतलाते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥४१॥

अन्वयार्थ—(मोहो) मोह **(मम को वि)** मेरा कोई भी **(णत्थि)** नहीं है **(इक्को उवओग एव अहम्)** एक उपयोग ही मैं हूँ ऐसा **(बुज्झदि)** जानता है **(तं)** उसको **(समयस्स)** सिद्धान्त अथवा स्वपर स्वरूप के **(वियाणया)** जानने वाले **(मोहणिम्ममत्तं)** मोह से निर्ममत्व **(विंति)** कहते हैं।

अर्थ—मोह अर्थात् पर को अपनाना, जिससे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, जिससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं तो केवल एक उपयोग स्वरूप हूँ, इस प्रकार के जानने को सिद्धान्त के जानकार लोग निर्मोहपना कहते हैं।

मेरा न मोह पर से उपयोग मेरा,
ऐसा सदा समझता बस मैं अकेला।
साधू उसे परम निर्मम हैं बताते,
शास्त्रानुसार निज जीवन हैं बिताते ॥४१॥

व्याख्या—पूर्व गाथा में आचार्य देव ने स्वसंवेदनज्ञान को ही प्रत्याख्यान बतलाया था उसी का

यह निर्मोह रूप से विशेष व्याख्यान है। हमें जो प्राप्त करना है या हमें जिस ओर जाना है उसी ओर ही आगे बढ़ेंगे, उसी ओर प्रयास करेंगे। उसी के योग्य साधन सामग्री एकत्रित करेंगे तो बीच में व्यवधान या अवरोध कम आयेंगे। अथवा नहीं ही आयेंगे। **विद्यां वांछति स विद्यार्थी** अर्थात् जो विद्या को चाहता है वह विद्यार्थी है। **नीतिवाक्य** में कहा गया है–**विद्यार्थी चेत् कुतो सुखं, सुखार्थी चेत् कुतो विद्या** अर्थात् यदि विद्यार्थी है तो सुख की इच्छा नहीं होना चाहिए और यदि सुखार्थी है तो वहाँ विद्या की आवश्यकता नहीं है। **विद्या प्राप्ति का प्रमुख साधन अपना परिश्रम माना जाता है।** कार्य की उत्पत्ति में साधक कारण का सद्भाव होने पर भी यदि बाधक कारण का अभाव नहीं किया तो कभी भी कार्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। स्व को देह के रूप में विपरीत मानना मोह का परिणाम है। अपने को देहातीत सत्ता रूप मानना, उस पर श्रद्धान करना मोह के अभाव का परिणाम है। आत्मतत्त्व का सच्चा श्रद्धान होने पर, देह के संयोग-वियोग होने पर भी हर्ष-विषाद या मोह का परिणाम नहीं होता। बाधक कारणों के साथ जानने वाला अपने स्वभाव को नहीं जान सकता। मैं केवल उपयोगमयी आत्मा हूँ, योगमय नहीं। उपयोग का उपयोग बहुत दुर्लभ होता है। उपयोग का दुरुपयोग बहुत सुलभ होता है। जो मोह से कोई मतलब नहीं रखता वह निर्मोही है। मोहरहित ज्ञान ही सही ज्ञान माना जाता है। जिसके पीछे मोह लगा हुआ है या मोह के पीछे-पीछे जो लगा हुआ है, जो मोह के संकेत के अनुसार चलता है वह ध्रुव स्वभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। बाह्य प्रशिक्षण के द्वारा भीतरी तत्त्व का अनुभव नहीं हो सकता। फिर भी संकेतों के माध्यम से भीतरी तत्त्व की अनुभूति में उतर सकते हैं किन्तु बाधक तत्त्व उपस्थित नहीं होना चाहिए। बाधक कारणों को हटा देने पर स्वभावनिष्ठ हो सकते हैं। अपने आप में प्रविष्ट होने के लिए अपना मेजरमेंट देख लीजिए। मेजरमेंट क्या है ? **अहमिक्को खलु सुद्धो** मैं अकेला हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन, ज्ञान उपयोगमय हूँ। इस विचारधारा में मोह नहीं होता। फिर भी मोही प्राणी अपने हिसाब से अर्थ निकालकर कहते हैं कि हम सब एक ही तो हैं। एक ही परिवार के तो हैं। आहार देना है तो कहते हैं कि हम इसी चौके के तो हैं। भले चौके वाले बाहर रह जायें। शब्द तो शब्द हैं, अर्थ निकालने वाले अनेक अर्थ निकाल सकते हैं। प्रसंग में तो ''मैं अकेला हूँ'' यह मेजरमेंट है और किसी से मोह नहीं रखना यह भी मेजरमेंट है। विश्व में जितनी वस्तुयें हैं उतने प्रकार के मोहभाव हैं। अपने घर में जाने के लिए अन्य समस्त वस्तुओं को त्यागकर अकेला होना आवश्यक है क्योंकि अकेले होने पर ही निज (आत्म) घर में प्रवेश सम्भव है। इतना अकेलापन होना चाहिए कि आस-पास की कोई वस्तु की ओर देखे नहीं, गन्ध भी न आये, कुछ सुनाई भी न दे, इत्यादि। देखने में टेंशन होता है, दिखने में नहीं। वस्तु को देखने में श्रम होता है, दिखने में नहीं। उस समय उपयोग शान्त रहता है। व्यक्ति कहीं भी देखता है तो उसके साथ कोई न कोई उद्देश्य या इरादा अवश्य होता है। कुछ बोलता है तो भी इरादा होता है। बिना बोले चल सकता है क्या ? इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिए। यदि बोलना आवश्यक ही हो तो कितना बोलना आवश्यक

है इस पर विचार करना चाहिए। फोन पर बोलते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि कितना बोलें ? कम से कम बोलें तो अच्छा रहेगा, क्योंकि पैसे लगते हैं। दुनिया में ऐसे भी लोग होते हैं जो एक पैसा भी नहीं रखते, वे बोलते ही नहीं, देखते भी नहीं किन्तु एकाग्रचित्त होकर ध्यानरूप हो जाते हैं।

उदाहरण—विद्यार्थी जब कक्षा में अध्ययन करते हैं तो आजू-बाजू के छात्र बैठे दिखते हैं किन्तु वे छात्र एक दूसरे से बातचीत नहीं करते। यदि बातचीत करेंगे, अपने मन को चंचल करेंगे तो अध्ययन अच्छी तरह नहीं हो सकता। अध्ययन अच्छा हो इसके लिए एकाग्रता की आवश्यकता होती है। परीक्षा के समय विद्यार्थियों, परीक्षार्थियों को एक-एक, दो-दो हाथ का फासला देकर बिठाया जाता है, जिससे उन्हें डिस्टर्ब न हो। किसी की आवाज न हो। इसलिए वातावरण को शान्त रखा जाता है, क्योंकि तीन सौ पैंसठ दिन की मेहनत का फल मिलना है। समय की कीमत है। अत्यन्त एकाग्रता की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वर्षों की साधना का फल ध्यान में मिलता है। **मैं अकेला हूँ** ऐसी अनुभूति होनी चाहिए। ऐसी अनुभूति होने पर फिर ध्यान लगाना नहीं पड़ता अपने आप लग जाता है।

जिज्ञासा—ध्यान उचटता क्यों है ?

समाधान—आचार्य कहते हैं कि ध्यान के बाधक कारण पाल रखे हैं, वे सामने आते हैं तो ध्यान उचट जाता है। वीरसेन स्वामी ने कहा है कि-११ वें गुणस्थान से गिरने का हेतु क्या है ? इसका समाधान यह है कि उत्तमसंहनन होने पर भी अपने विशुद्ध उपादान द्वारा जिसने एक अन्तर्मुहूर्त के लिए मोह का उपशम कर दिया, समय पूर्ण होने पर उसके मोह का उदय आ जाने के कारण नीचे गिरता है। उसी प्रकार ध्यान की साधना करने वाले ध्याता ने यदि समयावधि के लिए मन को नियन्त्रित किया है तो समय पूर्ण होने पर टेंशन अर्थात् मानसिक तनाव होने पर ध्यान से मन विचलित हो जाता है।

दृष्टान्त—एक मित्र जहाँ पर काम करता था, वहीं अपने दूसरे मित्र को भी काम दिलवा देता है। दोनों का वेतन समान है, फिर भी सन्तुष्टि नहीं है, क्योंकि अभी नौकरी पक्की नहीं है। मित्र पूछता है-क्यों खुश तो हो ? वह कहता है-खुश तो हूँ, परन्तु खुश्की है, क्योंकि नौकरी परमानेंट अर्थात् स्थायी नहीं है। कभी भी छूट सकती है। इसी प्रकार ११ वें गुणस्थानवर्ती जीव की स्थिति होती है। उपशम श्रेणी चढ़ते समय भी उसकी क्षणकश्रेणी की अपेक्षा निर्जरा कम होती है, क्योंकि सत्तागत मोह उसे बाधक है। तथा श्रेणी आरोहण के बाद पतन भी होता ही है। वैसे ही प्राथमिक अवस्था में ध्यान एकाग्र एवं स्थायी नहीं होता है तो ध्यान से मन उचट जाता है।

जिज्ञासा—११ वें गुणस्थानवर्ती उपशान्त मोही से क्षपक श्रेणी में ८ वें गुणस्थान वाले की निर्जरा अधिक क्यों होती है ?

समाधान—इसका समाधान एक दृष्टान्त द्वारा दिया जा रहा है उससे समझ में आ जायेगा। जैसे दो छात्र हैं, एक एम॰ ए॰ का दूसरा बी॰ ए॰ का है। बी॰ ए॰ का छात्र अधिक पढ़ाई के फलस्वरूप पूरे

कॉलेज में प्रथम श्रेणी में पास होता है, तो कुलपति महोदय ने उसका प्रखर योग्यता व प्रतिभा के कारण सम्मान किया। पूरे कॉलेज के छात्रों के समक्ष उसके गले में माला पहनाई गयी। उसी प्रकार ११ वें गुणस्थान वाले जीव की अपेक्षा ८ वें गुणस्थानवर्ती क्षपक की विशुद्धि अधिक होने से उसकी कर्मनिर्जरा अधिक होती है। यह सिद्धान्त है। उसकी योग्यता प्रखर होती है। इसे दूसरे दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे–अग्नि जल को गरम करती है और स्वर्ण को भी गरम करके उसे पिघलाती है। तो क्या दोनों अग्नि समान हैं। नहीं, भिन्न–भिन्न कार्य दिख रहा है तो कारण भी भिन्न–भिन्न होगा। उपादान भी भिन्न हैं। इसी प्रकार क्षपक श्रेणी और उपशमश्रेणी में निर्जरा भिन्न–भिन्न हो रही है तो निर्जरा की कारणभूत विशुद्धि भी भिन्न–भिन्न होती ही है।

एकत्व भावना और अन्यत्व भावना की बार–बार भावना करने से साधक की उन्नति होती है। **अहमिक्को खलु सुद्धो** की भावना भी जितनी अधिक दृढ़ता से की जाती है उतनी ही अच्छी तरह कर्मों पर निशाना लग सकता है। **अर्जुन** और **दुर्योधन** ने तीर से निशाना लगाया किन्तु लक्ष्य पर **अर्जुन** ही पहुँचा।

दृष्टान्त—मोह के कारण आप दुकान चलाते हैं। आपका ग्राहक कितना भी विश्वस्त क्यों न हो, सौदा होने पर उससे रुपये तो गिनकर ही लेते हैं और गिनकर ही देते हैं, किन्तु इनकम टैक्स वाला ऑफीसर आ जाये तो उसके समक्ष रुपयों को गिन सकते हैं क्या ? नहीं, उनके सामने तो बिना गिने ही सरका देते हैं और वे भी नहीं गिनते। आप इसलिए सरका देते हैं कि यदि नहीं देंगे तो ये और भी अधिक छापा डाल देंगे। कितना दिया यह किसी को बताते भी नहीं। वह क्यों आये थे ? क्या ले गये, यह कुछ भी नहीं बताते। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रसंग में पैसों से मोह कैसे कम हो गया? उसमें एक ही कारण है कि कहीं और अधिक छापा न पड़ जाये। निर्लोभी, निर्मोही, निर्मानी व्यक्ति के सामने क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों की कोई कीमत नहीं होती। उस पर भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उसे एक ही बात ख्याल में रहती है कि क्रोध आदि के द्वारा हमारी ज्ञाननिधि पर छापा न पड़ जाये। वह जितना अधिक निर्लोभी, निर्मोही बनता जाता है, तीन लोक की सम्पत्ति उसके चरणों में आती जाती है। सामान्य से आप दरवाजे पर बैठकर दुनिया की सम्पत्ति की कितनी भी प्रतीक्षा करो तो वह कभी भी मिलना सम्भव नहीं है। जैसे–जिसके यहाँ छापा पड़ता है तो उसे सम्पत्ति का लोभ और मोह छोड़ना ही पड़ता है तभी छापे से बच सकते हैं, उसी प्रकार साधक को शरीर से मोह ममत्व एवं कषाय आदि का त्याग करना आवश्यक होता है तभी ज्ञाननिधि के छापे से बचा जा सकता है।

अनन्त सिद्धपरमेष्ठियों ने अनन्तकाल के लिए अपने विभाव भावों को अलग कर दिया। अब वे उन्हें बुलाते नहीं, निमन्त्रण नहीं देते, क्योंकि निमन्त्रण की वजह से ही तो मेहमान आते हैं। आपके

यहाँ मेहमान आते हैं तो कितने दिन अच्छा लगता है बताओ ? एक, दो या तीन दिन तक। इसलिए आचार्य कहते हैं कि पराया, पराया ही है, ऐसा ज्ञान होने पर **अहमिक्को** मैं एक हूँ, यह ज्ञान भी पुष्ट होता चला जाता है। निश्चय मोक्षमार्गी हमेशा अकेला ही रहता है। व्यवहार में भले ही सम्बन्ध स्वीकृत हैं फिर भी व्यवहारमोक्षमार्गी उन सम्बन्धों के बीच सावधान रहता है। वह उन्हें पूर्णतः त्याग करने का पुरुषार्थ करता है।

मोह से कोई मोह नहीं करता, क्रोध पर कोई क्रोध नहीं करता क्योंकि वह दिखता नहीं है, किन्तु दूसरे व्यक्ति से मोह एवं क्रोध करता है। कभी-कभी क्रोध का कोई निमित्त नहीं बनता तो जड़ वस्तुओं या बच्चों पर क्रोधी क्रोध करता है। क्रोध में घर की सामग्री को ही लात मारना प्रारम्भ कर देता है। कुत्ता आदमी को काटता है तो वह आदमी जीवित भी रहता है, लेकिन एक बार पड़ा था कि–**मनुष्य ने कुत्ते को काटा तो कुत्ता मर गया। मनुष्य के क्रोध का जहर चढ़ने से वह मर गया। अर्थात् मनुष्य के पास जहर नहीं है, ऐसा सोचना गलत है।**

शुद्धात्मा को जानने वाला, अनुभव करने वाला क्रोध रहित निर्लोभी, निर्ममत्व ही होता है। किसी भी पदार्थ से उसका राग लपेट नहीं होता है। वास्तव में यही प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान अर्थात् विभाव परिणामों का त्याग। इस त्याग के होने पर ही स्वसंवेदन होता है। क्रोधादि नहीं करना यह बहुत हिम्मत का काम है। स्वार्थ होने पर व्यक्ति बच्चे को भी दद्दा कहता है। इस प्रकार कषायों के प्रवाह में जीव अनादि काल से बहता चला आ रहा है। इस बहाव में बहना तैरना नहीं कहलाता है। मनुष्यगति में सबसे ज्यादा कषायों का बहाव है और यहीं पर तैर भी सकता है। लौकिकदृष्टि से रोना अच्छा नहीं माना जाता, हँसना अच्छा मानते हैं, जबकि सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों अच्छे नहीं माने जाते, क्योंकि हँसना भी एक कषाय है। हमें समझना चाहिए कि **कषाय तो कषाय है, विभाव तो विभाव है। स्वभाव में एकता है विभाव में अनेकता होती है।** इसलिए श्रामण्य वही है जो **लिंगो ण परावेक्खो** पर के आश्रित न हो। तभी एकत्व का अनुभव हो सकता है। छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान की सबसे बड़ी कमजोरी क्या है? आचार्य कहते हैं कि **ज्ञान की सबसे बड़ी कमजोरी है ख्याति चाहना। यह ख्याति खाई है। प्राकृत में ख्याति का खाई शब्द बनता है। शब्द से भी स्पष्ट है ख्याति वह खाई है जिसमें साधक के ज्ञान का पतन होता है।** बिना आधार के नहीं जान पाना यह भी ज्ञान की कमजोरी है। कुछ लोग कहते हैं–मैं जान तो सकता हूँ, मेरे पास जानने की क्षमता है लेकिन जानने योग्य पदार्थ हों तब जान सकता हूँ। कुछ लोग ऐसे हैं जो अकेले नहीं रह पाते। अकेले हों तो बीमार हो जाते हैं। रिटायर अर्थात् कार्यभार से मुक्त होने पर भी शान्ति से नहीं बैठते हैं। कुछ न कुछ काम निकाल लेते हैं।

एक बार हमने कहा था कि–कौन सी क्रिया कहाँ तक होती है ? प्रथम गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक करोति क्रिया होती है। ज्ञानी पर का कर्त्ता नहीं होता। जो अपने आपको पर का कर्त्ता

मानता है वह ज्ञानी नहीं होता, क्योंकि ज्ञानी पर का कार्य करते हुए वेत्ता नहीं हो सकता। ज्ञानी कुछ नहीं करता मात्र जानता देखता है। शान्ति से बैठता है।

दृष्टान्त—जैसे पहलवान ५० वर्ष तक दण्ड-बैठक लगाता रहता है। आदत बन जाने से ऐसा करता रहता है। बाद में उसे भी शान्त होकर बैठना पड़ता है। उसी प्रकार अज्ञानी की दशा है कि वह पूर्व संस्कार से पर का कर्त्ता बना रहता है किन्तु जब समझ में आ जाता है कि मैं पर का कर्त्ता हो ही नहीं सकता, व्यर्थ ही पर के कर्तृत्व का दम्भ भर रहा हूँ। ऐसा समझकर पर के कर्तृत्व को छोड़कर शान्त होकर बैठ जाता है। गामा पहलवान का नाम सुना होगा, वह पहलवानी में प्रसिद्ध था। वह एक बार बहुत बीमार हो गया, इतना अधिक दुर्बल हो गया कि शरीर पर मक्खी बैठ जाये तो उसको उड़ाने की भी शक्ति नहीं बची थी। ज्ञानी की दशा इससे विपरीत होती है। ज्ञानी बीमार पड़ जाये तो मानसिक तौर पर वह स्वस्थ रहता है इसलिए मस्त होता जाता है उसमें किसी प्रकार की तब्दीली नहीं आती।

सातवें गुणस्थान से नौवें गुणस्थान तक भवति क्रिया होती है। यहाँ पर जीव बन्ध करता नहीं किन्तु बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान में अस्ति क्रिया होती है। ग्यारहवें गुणस्थान में सत्त्व क्रिया होती है, क्योंकि वहाँ मोह का सत्त्व मात्र होता है। १२ वें गुणस्थान में मुक्ति क्रिया होती है, क्योंकि वहाँ जीव मोह से मुक्त हो चुका होता है। यह क्रम है—

१ से ६ वें गुणस्थान तक	करोति क्रिया
७ से ९ वें गुणस्थान तक	भवति क्रिया
१० वें गुणस्थान में	अस्ति क्रिया
११ वें गुणस्थान में	सत्त्व क्रिया
१२ वें गुणस्थान में	मुक्ति क्रिया
१३ वें गुणस्थान में	आत्मिक क्रिया
सिद्ध अवस्था में	स्वस्थ क्रिया।

कोई व्यक्ति दुनिया भर के काम करे और कहे कि ''हमें मोह नहीं है, हम किसी से मोह नहीं करते'' यह ठीक नहीं है। ऐसा हो नहीं सकता कि मोह न हो और सांसारिक कार्य बड़े लगाव से करे। मोह करने वाला कभी भी मुक्ति क्रिया नहीं कर सकता। अतः मुक्ति व स्वस्थ क्रिया करना चाहते हो तो पहले जितना बन सके उतना मोह को कम करते जाओ। आगे की क्रियायें अपने आप सफल होती जायेंगी। सिद्धावस्था में स्वस्थक्रिया होती है। उन्हें स्वास्थ्य का पूर्ण लाभ होता है। जिसका आपने बुद्धिपूर्वक त्याग नहीं किया तत्सम्बन्धी दोष तो लगेगा ही। मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का क्षय होने के बाद भी करोति क्रिया होती है। इन पाँच प्रकृतियों के चले जाने पर होश-हवास तो आ जाता है, लेकिन आचरण के क्षेत्र में एक कदम भी चल नहीं पाता। जीवन में खिसकना आवश्यक है। बच्चों को पहले खिसकाया जाता है फिर चलाया जाता है। उसी प्रकार पहले श्रद्धान के माध्यम से खिसकाया

है, बाद में चलना भी आवश्यक होता है। बच्चा चलने लगता है तो अच्छा लगता है, उसी प्रकार जिस पर श्रद्धान किया है, उस ओर कदम उठें तो अच्छा लगता है। आठ वर्ष का बालक और अस्सी वर्ष का वृद्ध दोनों के पैर न उठें तो अच्छा नहीं।

जिज्ञासा—शुद्धात्मानुभूति के समय क्या-क्या होता है, क्या-क्या नहीं ?

समाधान—शुद्धात्मानुभूति के समय मिथ्यात्व तथा रागद्वेषादि भावों का निषेध होता है। वहाँ बुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि भाव नहीं होते, किन्तु मोहनीय कर्म के उदय में होते हैं। ये पर्यायों के कारण ही हुआ करते हैं, द्रव्य से नहीं। द्रव्य में रागद्वेषादि भाव होते हुए भी द्रव्य के कारण नहीं होते। शुद्धात्मानुभूति के समय उक्त विभाव भावों का अनुभव नहीं होता किन्तु आत्मानुभव होता है।

जिज्ञासा—शुद्धात्मानुभूति के समय आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है, ऐसा क्यों ?

समाधान—अनुभूति स्व की ही होती है, पर की नहीं। पर का ज्ञान अवश्य हो सकता है। लेकिन अनुभव नहीं हो सकता। अतः शुद्धात्मानुभूति के समय आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। रागादि भाव आत्मा में होते हैं, परन्तु नैमित्तिक होते हैं। शुद्ध आत्मतत्त्व का संवेदन करना चाहते हो तो हेयभूत जो रागद्वेषादि अध्यवसाय परिणाम हैं उन्हें छोड़ना आवश्यक होता है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य कभी अशुद्ध नहीं होते। ये हमेशा शुद्ध रहते हैं। जहाँ हैं वहीं रहते हैं। धर्म, अधर्म सर्व लोकाकाश में व्याप्त हैं। काल द्रव्य घूमता है क्या ? काल घूमता नहीं, घुमाता है अर्थात् स्थान से स्थानान्तर नहीं होता किन्तु प्रत्येक वस्तु के परिणमन में सहायक होता है। काल का अर्थ आयु नहीं समझना चाहिए, क्योंकि काल कर्म नहीं है जबकि आयु तो एक कर्म है। जैसे—थर्मामीटर में पारा भरा जाता है वैसे आयु कर्म को नहीं भरा जा सकता। जीव का सम्बन्ध काल से नहीं कर्म से है। २३ प्रकार की वर्गणाओं से जीव का सम्बन्ध है, काल से नहीं। अतः आयुकर्म सो कालद्रव्य नहीं। काल तो स्वयं पृथक् एक द्रव्य है।

दृष्टान्त—थर्मामीटर में ज्वर नहीं रहता किन्तु ज्वर नापा जाता है। (यूँ) झटका लगाते ही थर्मामीटर का ज्वर निकल जाता है। यह ज्वर नापने का ज्ञापक यन्त्र है, मापक यन्त्र भी है। निमित्त-नैमित्तिक, ज्ञाप्य-ज्ञापक और उत्पाद-उत्पाद्य आदि सम्बन्ध होते हैं। जिस प्रकार थर्मामीटर ज्वर का ज्ञान कराता है। उसी प्रकार काल के द्वारा जीव पुद्‌गलादि की परिणमन शीलता का ज्ञान होता है।

जिज्ञासा—कालद्रव्य क्या है ?

समाधान—काल एक शुद्ध द्रव्य है, लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में सहयोगी होता है। काल द्रव्य नित्य है, अवस्थित है, अरूपी है। आज तक कालद्रव्य शुद्ध रहा है, आगे भी शुद्ध रहेगा। जैसे—सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध, शुद्ध होने के बाद कभी अशुद्ध नहीं होते वैसे ही कालद्रव्य पहले से ही शुद्ध है और शुद्ध ही रहेगा, कभी अशुद्ध नहीं होता। अशुद्धद्रव्य के परिणमन में कारण होने के बाद भी वह अशुद्ध नहीं होता।

वर्तमान में हमारा उपयोग इतना कमजोर है कि ज्ञेय स्वयं हमारे ज्ञान में झलक नहीं पाता किन्तु हमारा ज्ञान स्वयं ज्ञेय की ओर ढुलकता है। जबकि केवली भगवान् के ज्ञान में ज्ञेय स्वयं झलकता है। ध्यान में शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव तो होता है पर सिद्धपरमेष्ठी का नहीं। छद्मस्थ ज्ञान में सिद्ध परमेष्ठी एवं शुद्ध परमाणु को भी साक्षात् विषय नहीं बनाया जा सकता। उनके बारे में आगम में पढ़ा है, उपदेश में सुना भी है, पर अनुभव कभी नहीं हुआ। आगम की गाथाओं को बहुत बार सुना है पर अनुभव में कितने बार आई हैं। इसका विचार तो करो। शुद्ध परमाणु को विषय बनाने पर रागद्वेष नहीं होते।

जिज्ञासा—विग्रहगति में रागद्वेष होते हैं क्या ?

समाधान—विग्रहगति में नोकर्म का सहारा नहीं होता है, इसलिए वहाँ जीव रागद्वेष करते नहीं, फिर भी रागद्वेष होते तो हैं।

हमें सिद्धपरमेष्ठी का अनुभव क्यों नहीं होता ? क्योंकि वे हमारे लिए आगम और अनुमानगम्य ही हैं, अनुभवगम्य नहीं हैं। धर्मास्तिकाय शुद्ध द्रव्य है उसे भी अपने ज्ञान का विषय बनाने में हमारा ज्ञान आकुल हो जाता है। उसे अपने उपयोग का विषय बनाने पर कुछ न कुछ हलचल तो होती है। अभिप्राय पूर्वक उसे विषय बनाने पर ज्ञान निराकुल नहीं रह सकता। पदार्थ की ओर जाना ही ज्ञान की आकुलता है। विषय-विषयी का सन्निपात होने पर ज्ञान पदार्थ की ओर जाने पर ही जानता है। पर को जानना ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान ज्ञेय की ओर जाकर जाने यह भी ज्ञान का स्वभाव नहीं है। जो ज्ञान में आए उसे जानना स्वभाव है। ज्ञान में पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। दर्पण के समान ज्ञान का स्वभाव है। जैसा कि **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** में **आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी** ने मंगलाचरण में लिखा है–

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

अर्थ—वह केवलज्ञान स्वरूपी परम ज्योति जयवन्त हो, जिसमें सकल पदार्थ अनन्त पर्यायों के साथ दर्पण के समान एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञान में दर्पण के समान पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना यह ज्ञान का स्वभाव है। दुनिया के पदार्थों को अभिप्रायपूर्वक जानने का प्रयास करोगे तो अशान्ति होगी, आर्त्तध्यान होगा, आकुलता होगी। एक हाइकू है कि–

इन्टेंशन
यदि खराब हो तो
टेंशन होता

अभिप्राय यदि खराब होता है तो मानसिक तनाव बढ़ता है, आकुलता बढ़ती है। अभिप्राय खराब न हो तो जानने मात्र से तनाव या आकुलता नहीं होती। कहते हैं–महाराज ने चिन्तन करने को कहा था, लेकिन क्यों कहा था ? चिन्ता न हो इसलिए चिन्तन करने को कहा था। जिस चिन्तन से

चिन्ता हो तो वह चिन्तन नहीं करना चाहिए। आकुलता नहीं होती है, इसलिए चिन्तन करते रहें यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि चिन्तन करना भी स्वभाव नहीं है। ज्ञेय के अभाव में ज्ञान को बहुत आकुलता रहती है। माइण्ड में कुछ न कुछ अवश्य चाहिए। माइण्ड में अगर कुछ चिन्तन नहीं आता है तो भी आकुलता होती है और कुछ आता है तो भी आकुलता होती है। अभिप्राय के साथ चिन्तन करने में श्रम होता है। स्वतः सहज चिन्तन में श्रम नहीं होता तो तकलीफ भी नहीं होती, थकावट भी नहीं आती। कोई भी ज्ञेय ज्ञान में स्वतः आये और चला जाये इससे तकलीफ तो नहीं होती परन्तु इससे स्वभाव की प्राप्ति भी नहीं होती। जैसे धर्मास्तिकाय ज्ञेय है परन्तु इसे ज्ञेय बनाने से स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। स्वात्मा को ज्ञेय बनाने पर स्वभाव की प्राप्ति हो सकती है।

दृष्टान्त—यदि फिल्म देखना चाहते हो तो कैसे दिखेगी ? उसे सूर्य प्रकाश में नहीं देखा जा सकता। फिल्म को बिना प्रकाश के स्थान में बैठकर उपयोग को एकाग्र करके ही देखा जा सकता है। उसी प्रकार आत्मतत्त्व को देखने के लिए ध्यानस्थ होकर उपयोग को एकाग्र करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार हेयतत्त्व को छोड़ दिया अब ज्ञेय तत्त्व भी मेरा स्वरूप नहीं है। इस विषय को आगे की गाथा में स्पष्ट करते हैं। इस गाथा में मोह पद लगाया है **णत्थि मम को वि मोहो** उसी के स्थान पर **णत्थि मम को वि रागो** राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह सूत्र क्रम से लगाकर व्याख्यान करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी असंख्यातलोकप्रमाण जो विभाव भाव हैं, उन्हें भी समझना चाहिए।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भी मेरी आत्मा का स्वरूप नहीं हैं–

णत्थि मम धम्म आदि बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥४२॥

अन्वयार्थ—(धम्मआदी) ये धर्मादि द्रव्य **(मम णत्थि)** मेरे नहीं हैं **(इक्को उवओग एव अहं)** एक उपयोग ही मैं हूँ **(बुज्झदि)** ऐसा जानता है **(तं)** उसको **(समयस्स वियाणया)** सिद्धान्त या स्वपर के जानने वाले **(धम्मणिम्ममत्तं)** धर्मद्रव्य के प्रति निर्ममत्व **(विंति)** कहते हैं।

अर्थ—मैं तो केवल एक उपयोग स्वभाव हूँ, धर्मादि (अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और इतर जीवद्रव्य) द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं। इस प्रकार जो जानता है, उसे सिद्धान्त के जानने वाले पुरुष धर्मादि परद्रव्यों से निर्ममत्व हुआ ऐसा कहते हैं।

धर्मादि द्रव्य मम ना, उपयोग मेरा,
जो जानता स्वयं को नित मैं अकेला।
वो धर्म आदि सब ज्ञेयन का सुत्यागी,
ऐसा कहें समयविज्ञ सुधी विरागी ॥४२॥

व्याख्या—धर्म द्रव्यादि ज्ञेय रूप भी मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जानने वाला उसके प्रति निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता है। चूँकि इनके प्रति मात्र जानने की इच्छा भी मोह की परिणति है। जिज्ञासा का अर्थ है–**ज्ञातुं इच्छा जिज्ञासा** जानने की इच्छा भी आकुलता है। आकुलता रहित अवस्था के बारे में **छहढाला** में लिखा है कि–

आतम को हित, है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिवमाहिं न तातैं शिवमग लाग्यो चहिए॥

परद्रव्य को जानने की जिज्ञासा होती है, जबकि स्व का अनुभव होता है। स्वानुभव में तृप्ति होती है। स्वतत्त्व में संगोष्ठी नहीं होती है। संवेदना में जिज्ञासा नहीं होती है। छद्मस्थ अवस्था में मति-श्रुतज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान के माध्यम से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के द्वारा सुन सुनकर शान्ति का अनुभव नहीं करता, किन्तु देखकर शान्ति का अनुभव होता है। मोक्षमार्ग में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के द्वारा तृप्ति नहीं होती। ऐसा श्रद्धान होने पर साधक इन्द्रिय व्यापार को छोड़ देता है, क्योंकि इन्द्रियव्यापार से परोक्ष सुख या इन्द्रिय सुख ही होता है। संसारी प्राणी हमेशा पाँच इन्द्रिय और मन की खिड़की से इन्द्रिय व्यापार में लगा रहता है। जिज्ञासा होना यह भी एक खिड़की है।

जिज्ञासा—एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि महाराज ! जानने की ऐसी लगन लगती है कि बार-बार शास्त्रों को पढ़ता रहूँ, ऐसा क्यों होता है ?

समाधान—तृप्ति के अभाव में ऐसा होता है। तृप्ति अनुभूति में होती है। जिज्ञासा एक सहारा है। अन्त में उसकी हार होती है। अतः साधक जब अनुभूति में पहुँचता है तो जिज्ञासा को भी छोड़ देता है। जिज्ञासा से ऊपर उठने पर तृप्ति होती है।

दृष्टान्त—कोई सामान्य व्यक्ति जब दीवाल के सहारे टिककर बैठता है तो उससे कहते हैं कि क्यों बूढ़ा हो गया क्या, जो टिककर बैठा है। वह कहता है–नहीं, मैं वृद्ध नहीं हूँ, परन्तु टिकने की जरूरत होती है। टिकना भी एक बीमारी है। वृद्धजन उससे कहते हैं–तुम जवान हो, बिना सहारे के बैठो। इसी प्रकार छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि भी बूढ़ा है वह ज्ञेय पदार्थों की जिज्ञासा रूपी सहारे के बिना टिक-बैठ नहीं सकता, बिना सहारे के बैठने में चक्कर आते हैं। वृषभनाथ भगवान् को भी सहारा छोड़ने में एक हजार वर्ष लगे। जो तृप्ति, अनुभूति में डुबकी लगाते हैं उन्हें बाहर का कुछ नहीं दिखता। अतः आचार्य कहते हैं–**जिज्ञासा भी एक आकुलता है।** स्वाध्याय करने की वस्तु को जानने की, देखने की जिज्ञासा आकुलता के साथ होती है। ज्ञानी उपयोग का विषय अपने आत्मतत्त्व को ही बनाता है, क्योंकि धर्मास्तिकाय आदि भी ''मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं'' ऐसा ज्ञान होने पर उनके प्रति निर्ममत्व भाव जागता है। यही निर्विकल्पसमाधि का लक्षण है। धर्मास्तिकाय आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह तो आत्मा में मात्र ज्ञेय रूप में उतर कर आता है। निर्विकल्प समाधि के अभाव में सहारे की आवश्यकता होती है। परद्रव्य को जानना फिर भी ठीक है, किन्तु उन्हें अपनाना, उन्हें अपना मानना यह उचित नहीं है। पर

को अपनाने के साधन इन्द्रिय और मन हैं, जबकि निर्विकल्प अवस्था में इन्द्रिय व मन का व्यापार रुक जाता है। वस्तुतः दही और मिश्री भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी श्रीखण्ड दोनों के मिश्रण रूप अवस्था है। उसी प्रकार आत्मतत्त्व और धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं फिर भी ये ज्ञान में ज्ञेयाकार रूप में आते हैं। आत्मा और धर्मास्तिकाय की इस ज्ञान-ज्ञेय अवस्था में शुद्धात्मानुभूति नहीं हो सकती। आत्मा का स्वरूप धर्म, अधर्म आदि द्रव्य से पृथक् है। पर को जाना जाता है स्व का अनुभव होता है।

आहारक समुद्घात वाला **मूलसरीरमछंडिय** होते हुए भी औदारिक वर्गणाओं को ग्रहण करता है। उसी प्रकार पर को जानने वाला स्व स्वरूप को नहीं छोड़कर भी इन्द्रिय और मन के द्वारा पर को जानने का प्रयास करता है तो मोह के कारण कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता रहता है। आत्मा को जानने वाला मोह, इन्द्रियव्यापार आदि से विराम ले लेता है। **परमयोगी के लिए शुद्धात्मानुभूति के क्षण अत्यन्त दुर्लभ होते हैं। अत्यन्त अद्भुत होते हैं। अत्यन्त अभूतपूर्व होते हैं।** आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि **जिसके द्वारा मुक्ति सामने आकर खड़ी होती है वह शुद्धोपयोग स्वसंवेद्य होता है। शुद्धोपयोग की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, कठिन है।** जो बाहर में इन्द्रिय व्यापार से विराम लेकर शान्त होकर अकेले में, अपने स्वभाव में लीन हो जाते हैं वे ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। किसी ने कहा-यह शुद्धोपयोग तो बहुत कठिन है? आचार्य कहते हैं, किसने कहा कि यह आसान है।

दृष्टान्त—जैसे आप सभा में बैठे हैं। रात्रि का समय है। लाइट बन्द हो गई या चली गई। कुछ भी नहीं दिख रहा है, उस समय आपको डर लगता है जो कि औदयिक भाव है। उस समय आपको विचार करना चाहिए कि-''डरना मेरा स्वभाव नहीं है। यह भी एक आकुलता है, आकुलता मेरा स्वभाव नहीं है।'' ऐसा विचार करने से आप उस अवस्था में भी शान्ति से बैठ सकते हैं। १७ दिन का जब आपातकाल लगा था, उस समय जेल में लाइट नहीं जला सकते, फोन नहीं कर सकते, किसी से मिल नहीं सकते थे। मात्र भोजन के लिए थाली खिसका दी जाती थी। कहने का मतलब मजबूरी में भी इस स्थिति में वो ही व्यक्ति शान्ति से रह सकते हैं जो निर्विकल्प होकर रहने का प्रयास करते हैं। निर्विकल्प होने पर ही शान्ति से बैठ सकते हैं। यह भी अत्यन्त कठिनतम है। उसी प्रकार वास्तव में बुद्धिपूर्वक बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर अपने स्वरूप में स्थिर होकर निर्विकल्प होना अत्यन्त कठिनतम है।

आत्मा का उपयोग एक समय में एक को ही विषय बनाता है। जब धर्मादि ज्ञेय पदार्थों में उपयोग है तब स्वसंवेदन में नहीं रह सकता। यहाँ तक कि पाँच इन्द्रियों में भी एक समय में एक इन्द्रिय के विषय में ही रहेगा। **काकाक्षवत्** रहता है। अर्थात् कौए की आँख के समान। कौआ जिधर देखता है उसकी आँख उधर ही घूम जाती है। उसी प्रकार एक साथ पाँच इन्द्रियों के विषय उपस्थित होने पर भी उपयोग एक समय में एक में ही उपयुक्त होता है, अन्य इन्द्रियविषयों में **अणुवजुत्तो** अर्थात्

अनुपयुक्त कहा जाता है। एक ही व्यक्ति को डॉक्टर, वकील आदि की उपाधि हो सकती है। लेकिन जब डॉक्टर है, उस समय वकील नहीं और जब वकील है उस समय डॉक्टर नहीं। इसी तरह जब धर्मादि द्रव्य में उपयोग है उस समय स्वसंवेदन में नहीं और जिस समय स्वसंवेदन में है उस समय अन्य ज्ञेय पदार्थों में नहीं क्योंकि एक समय में एक ही तरफ उपयोग रहता है। दुनिया में कोई कुछ भी कहे **ज्ञानी हाथी की तरह मस्त चाल से चलता है उसे उसी में आनन्द आता है। पर द्रव्यों के प्रति निर्ममत्व होने से वह स्वशुद्धात्मानुभूति में ही गोते लगाता रहता है।**

पर को जानना,

यह ज्ञान की पीड़ा है,

क्रीड़ा नहीं।

इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, इस कथन को करने वाली दो गाथायें पूर्ण हुईं। एवं समुदाय रूप से चार गाथाओं द्वारा सातवाँ स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान तो सम्यक्त्व, उसी शुद्धात्मा में स्वसंवेदन रूप ज्ञान सम्यग्ज्ञान और उसी आत्मा में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान को स्थिर करना सो सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय में परिणत जीव का कैसा स्वरूप है, यह बताते हुए आचार्यदेव जीवाधिकार का उपसंहार करते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तं पि ॥४३॥

अन्वयार्थ—(खलु अहं इक्को) निश्चय से मैं एक हूँ **(सुद्धो)** शुद्ध हूँ **(दंसणणाणमइओ)** दर्शन-ज्ञानमय हूँ **(सदारूवी)** सदा अरूपी हूँ **(किं चि वि अण्णं परमाणुमित्तंपि)** किंचित् परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य **(मज्झ णवि अत्थि)** मेरा नहीं है।

अर्थ—ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं एकाकी हूँ, शुद्ध हूँ, अर्थात् परद्रव्य के सम्बन्ध से सर्वथा रहित हूँ, दर्शन ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ, अतः इन सब बाह्य परद्रव्यों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है।

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग बोधमयी सुधा से,
मैं एक हूँ पृथक् हूँ सबसे सदा से।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी,
मेरा नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥४३॥

व्याख्या—व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा प्राप्त निश्चय रत्नत्रय में परिणत जीव का स्वरूप कैसा है? इस विषय को स्पष्ट करने के लिए जीवाधिकार के उपसंहार में अन्तिम गाथा का व्याख्यान किया जा

रहा है। निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमयी निराकार हूँ। सिद्ध परमेष्ठी ज्ञान की अपेक्षा साकार होते हुए भी निराकार हैं। हमारे देखने में नहीं आते इसलिए निराकार हैं। शरीर, संस्थान आदि से मुक्त हो गये हैं इसलिए भी निराकार हैं। वे छद्मस्थ ज्ञान के साक्षात् विषय नहीं हैं इसलिए भी निराकार हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के भी विषय नहीं हैं, क्योंकि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जीव रूपी पदार्थों को जानता है। इनके द्वारा जीव जानने में तो आता है किन्तु शुद्ध जीव जानने में नहीं आता, इसलिए उन दोनों ज्ञान के द्वारा सिद्ध परमेष्ठी को नहीं जाना जा सकता। छद्मस्थ अवस्था में जीव कर्मबन्ध के साथ एकत्व होने के कारण कथंचित् मूर्तिक होता है। बन्ध अवस्था में भी आप एकान्त से अमूर्त का संवेदन करना चाहें तो नहीं हो सकता। रूपी होना मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए मैं किसी छद्मस्थ ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। मैं किसी के द्वारा देखा नहीं जा सकता। तो फिर मैं अपना प्रदर्शन क्यों करूँ ? जब यह बात सिद्ध है कि मुझे कोई देख ही नहीं सकता, जान भी नहीं सकता, मेरी पहचान किसी के द्वारा हो ही नहीं सकती तो फिर आप अपना परिचय, एड्रेस आदि क्यों बताते हैं ? ड्रेस के बिना एड्रेस नहीं हो सकता और आत्मा के पास कोई ड्रेस नहीं है। फिर एड्रेस कैसे दिया जा सकता है। जो व्यक्ति अपना एड्रेस खोना चाहता है वही निर्विकल्प समाधि में जाना चाह सकता है। यदि आप दुनिया में गायब होना चाहते हो और दुनिया को देखना नहीं चाहते तो बिना एड्रेस के ही रहना होगा।

दूसरी बात दुनिया में जो कुछ भी है उसमें परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है। जीव मात्र लेने-देने के भाव करता है। एक पायी भी ले नहीं सकता, दे नहीं सकता। यहाँ तक कि निश्चय में तो लेने-देने के भाव भी संभव नहीं हैं। अतः गुरु महाराज के प्रसाद से जो अपना स्वरूप सुना है उसका अभ्यास करने का प्रयास करना चाहिए। देह को भुलाने का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। बाहर के समस्त सम्बन्ध व रागद्वेषादि परिणाम, ज्ञानावरणादि कर्म मुझसे पृथक् हैं। ऐसा गुरुप्रसाद से हमने जाना है, यह हमारा परम सौभाग्य है।

मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ। भिन्न-भिन्न पदार्थों को जानना यह एक प्रकार की उलझन है, इसमें स्थिरता नहीं होती। एकत्वस्वरूप आत्मतत्त्व का चिन्तन करने से 'मैं' तो मात्र जानने वाला हूँ, ऐसा विचार करने से आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार के चिन्तन से निराकार तत्त्व की ओर यात्रा प्रारम्भ होने लगती है। छद्मस्थ अवस्था में ज्ञायक स्वभाव का बार-बार चिन्तन करने से अनुभूति की ओर कदम बढ़ते हैं। ध्यान में स्थिरता होती है। एक ही विषय में उपयोग अपना कार्य करता है। संस्थान विचय आदि धर्मध्यान के बाद शुक्लध्यान होता है। यात्रा में ठहराव नहीं होता। ज्ञान की यात्रा में भी ठहराव नहीं होता फिर भी ध्यान में एकाग्र होना होता है। एक विषय पर ठहरना होता है।

रात-दिन विकल्पों की भागदौड़ में कुछ नहीं मिलता और आगे मिलने वाला भी नहीं है। प्रत्यभिज्ञान यह प्रत्यक्ष और स्मृति का जोड़ रूप ज्ञान होता है। जैसे-दो व्यक्ति अचानक मिलते हैं,

तो एक कहता है–मैंने आपको पहले कभी देखा है, आप अमुक व्यक्ति हैं न ! दूसरा भी कहता है कि मैंने भी आपको पहचान लिया। दोनों एक दूसरे को पहचान रहे हैं लेकिन अपने आपको नहीं पहचानते। आचार्य कहते हैं कि दुनिया में सब एक दूसरे को पहचानने में लगे हैं, अपने आपको पहचानने का ख्याल ही नहीं है। खेद है कि खुद को पहचानने की शक्ति होने पर भी खुद को नहीं पहचाना।

सोचो, विचार करो, कोई बहरा है, अन्धा है, गूंगा है, वह अपना परिचय क्या देगा ? दूसरों को परिचय नहीं दे सकता फिर भी अपने में मस्त रहता है कि 'मैं हूँ'। उसी प्रकार शुद्धात्मा का अनुभव करने वाला दूसरों को अपना परिचय नहीं देता किन्तु अपने आत्मानुभव में मस्त रहता है। व्यवहार में सहारा लिया जाता है। बुढ़ापे में उठते-बैठते, चलते समय सहारे की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान सहारे के साथ काम करता है। बोलने की हिम्मत नहीं है और भीतर बोलने की इच्छा है, उसकी क्या हालत होती है ? यह सब जानते हैं। सपने में कभी-कभी बोल नहीं पाते तो घबरा जाते हैं। उसी प्रकार आत्मतत्त्व का चिन्तन करने पर संसार, शरीर, भोगों से घबराहट हो सकती है, होना ही चाहिए। तभी आत्मा की ओर यात्रा हो सकती है। इस यात्रा में उठना-बैठना, हँसना-रोना आदि क्रियायें रुक जाती हैं।

विज्ञान कहता है कि रोना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है, किन्तु ज्यादा हँसना और रोना ठीक नहीं है। समय पर हँसना और समय पर रोना फिर भी ठीक है, वह भी व्यवहार की भूमिका में। निश्चय में हँसना, रोना आदि कुछ नहीं किया जाता, मात्र जाना व देखा जाता है। इससे आगे कुछ नहीं क्योंकि हँसना-रोना आदि मेरा स्वभाव नहीं है। जानने-देखने के आगे और कुछ नहीं है।

यह गाथा बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमेशा चिन्तन करने योग्य है। स्वभाव की ओर यात्रा करना है तो स्वभाव का वास्तविक चिन्तन भी आवश्यक होता है अतः बार-बार स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार परद्रव्यों में से मेरे पास एक परमाणु मात्र भी नहीं है जो कि एकत्वरूप से रंजायमान करने वाला होकर या ज्ञेय रूप होकर मेरी आत्मा में मोह उत्पन्न कर सके, क्योंकि मैं तो परम विशुद्ध ज्ञान रूप में परिणत हो रहा हूँ, अर्थात् परमसमाधि में तत्पर होकर अपने आपमें लीन हो रहा हूँ।

अनादिकाल से देह और आत्मा की एक मान्यता रूप भ्रमात्मक अज्ञान भाव से जो पहले अप्रतिबुद्ध (सही बात को नहीं समझने वाला) था किन्तु जिस प्रकार हाथ में रखे हुए सोने को भूल जाता है या निद्रा में मग्न होकर सो जाता है, फिर निद्रा के दूर होने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाने से प्रसन्न हो जाता है। वैसे ही मैं भी परम गुरु के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर अब शुद्धात्मा में लीन हो रहा हूँ।

इस प्रकार **श्रीजयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई गई शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी

तात्पर्यवृत्ति नामक **समयसार** की व्याख्या में सात स्थलों से **जो पस्सदि अप्पाणं** इत्यादि २७ गाथाएँ व उसके पीछे एक उपसंहार गाथा इस प्रकार २८ गाथाओं से प्रथम **जीवाधिकार** समाप्त हुआ।

इस प्रकार प्रथम रंग समाप्त हुआ।

अजीवाधिकारः

अब इसके आगे शृंगार किए हुए नाटक पात्र के समान जीव और अजीव दोनों एक रूप होकर आते हैं। यहाँ तीन स्थलों से तीस गाथाओं पर्यन्त अजीवाधिकार कहा जाता है। उनमें प्रथम स्थल में **अप्पाणमयाणंतो** इत्यादि दस गाथाओं पर्यन्त तो मुख्यता से यह बतलाते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से देह और रागादि परद्रव्य जीव के स्वरूप नहीं हो सकते। उन दस गाथाओं में भी परद्रव्य को आत्मा मानने रूप पूर्वपक्ष की मुख्यता से प्रथम पाँच गाथायें हैं, तत्पश्चात् एक गाथा से उसका निराकरण है। उसके आगे आठ प्रकार के कर्म भी पुद्‌गल द्रव्य हैं, ऐसा एक गाथा से कथन किया गया है फिर व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथायें कही हैं। इस प्रकार समुदायपातनिका हुई।

उत्थानिका—अब देह व रागादि जो परद्रव्य हैं, वह नियम से जीव हैं ऐसा पूर्वपक्ष करते हुए कहते हैं–

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥४४॥
अवरे अज्झवसाणे सु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४५॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४६॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४७॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ॥४८॥

अन्वयार्थ—(अप्पाणमयाणंता) आत्मा को नहीं जानते हुए **(परप्पवादिणो)** पर को आत्मा कहने वाले **(केई मूढा दू)** कोई मोही, अज्ञानी **(जीवं अज्झवसाणं)** जीव के अध्यवसान [रागादि]को **(तहा च)** और कोई **(कम्मं)** कर्म को (आत्मा) **(परूविंति)** कहते हैं।

(अवरे) अन्य कोई **(अज्झवसाणेसु)** अध्यवसानों में **(जीवं तिव्वमंदाणुभावगं)** मन्दानुभाग को जीव **(मण्णंति)** मानते हैं **(तहा अवरे)** और दूसरे कोई **(णोकम्मं चावि)** नोकर्म को अर्थात् चलते फिरते शरीर को भी **(जीवोत्ति)** जीव है, ऐसा मानते हैं।

(अवरे) जो अन्य कोई **(जीवं कम्मस्सुदयं)** जीव के कर्म के उदय को, **(कम्माणुभागं)** कर्म के अनुभाग को तथा कोई **(तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं)** तीव्र मंदतारूप गुणों से सहित कर्म के फल को **(सो जो जीवो हवदि)** वह जीव है, ऐसा **(इच्छंति)** मानते हैं।

(अवरे) अन्य **(केवि)** कोई **(जीवो कम्मं)** जीव और कर्म **(दोण्णिवि उहयं जीवं)** दोनों मिले हुए को जीव **(खलु इच्छंति)** ही मानते हैं **(दु अवरे)** और अन्य कोई **(कम्माणं संजोगेण)** कर्मों के संयोग से ही **(जीवं इच्छंति)** जीव को मानते हैं।

(एवं-विहा) इस प्रकार तथा **(बहुबिहा)** अन्य भी बहुत प्रकार **(दुम्मेहा)** दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि **(परं अप्पाणं)** पर को आत्मा **(वदंति)** कहते हैं; **(णिच्छयवादीहिं)** निश्चयवादियों ने **(ते)** उन्हें **(परप्पवादी)** परमार्थवादी **(ण दु णिद्दिट्ठा)** नहीं कहा हैं।

अर्थ—आत्मा को नहीं जानने वाले मूढ़ पुरुष परद्रव्य को ही आत्मा मानते हैं। उनमें से कितने ही अध्यवसान (रागादि) को और कोई कर्म को ही जीव कहते हैं तथा कोई अध्यवसानों में भी तीव्रता, मन्दता को लिए हुए जो अनुभाग होता है उसे जीव मानते हैं। अन्य कोई नोकर्म को (चलते-फिरते शरीर को) ही जीव मानते हैं। कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं। कोई कर्म के फल को जो तीव्र-मन्द रूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है वह जीव है, ऐसा इष्ट करते हैं। कोई जीव और कर्म दोनों के मिले हुए को जीव मानते हैं। अन्य कोई लोग कर्मों के परस्पर संयोग से पैदा हुआ जीव को मानते हैं। इस प्रकार और भी अनेक प्रकार की आत्मा के विषय में अज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न कल्पनायें करते हैं, वे वस्तुस्थिति के जानने वाले नहीं किन्तु मन्दबुद्धि हैं, ऐसा यथार्थ जानने वाले सर्वज्ञदेव तथा गणधरादि ऋषियों ने कहा है ॥४४-४८॥

सम्मोह से भ्रमित हैं जड़ मूर्ख नामी,
कर्त्तव्य-मूढ कुछ हैं कुमतानुगामी।
वे राग-रोषमय भाव विभाव को ही,
स्वीकार जीव तजते निज भाव को ही ॥४४॥
लो तीव्र मन्द अनुभाग निबन्धनों को,
है जीवरूप कहते कुछ हैं तनो को।
सम्मोह का यह विपाक यथार्थ में है,
जो हो रहा भ्रम निजीय पदार्थ में है ॥४५॥
कोई कहे कि उदयागत कर्म को ही,
विज्ञान धारक सचेतन जीव सो ही।
तो तीव्र मन्द विधि के फल को निजात्मा,
हैं अन्य लोग कहते बनते दुरात्मा ॥४६॥

रे! आठ काठ मिल खाट बनी यथा है,
पा कर्म योग यह जीव बना तथा है,
या कर्म और उदयागत कर्म दो वे,
है जीव मूढ़ इस भाँति सदैव रोवे ॥४७॥
मन्दातिमन्द मति बाल अनात्म को ही,
माने निजातम सदा तज तत्त्व बोधि।
ये सर्व मात्र भव-कानन पंथ-पंथी,
ऐसा कहे मुनि सुधी, तज ग्रन्थ-ग्रन्थी ॥४८॥

व्याख्या—जीवाधिकार पूर्ण हुआ। अब अजीवाधिकार का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। जैसे कोई भी नाटक आदि होता है तो शृंगारादि करके पात्र मंच पर आते हैं, उसी प्रकार यहाँ रङ्ग मंच पर जीव–अजीव दोनों एक रूप होकर आते हैं। जो जीव देह और जीव को भिन्न नहीं मानता है, वह देहादि को ही जीव मानता है। यह निश्चित है कि जब दो पदार्थ संयुक्त हों, पृथक् न दिखते हों, एक ही दिखते हों तब उसे ज्ञात नहीं हो पाता कि ये पृथक्–पृथक् हैं। जैसे–दूध और पानी मिले हुए रहते हैं तो उन्हें पृथक्–पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता। हाँ, लक्षण की अपेक्षा भेद माना जा सकता है। दूध में घी दिखाई नहीं देता लेकिन जो दूध में घी के अस्तित्व का विश्वास करता है वही कह सकता है दूध में घी है, किन्तु जिसे दूध में घी का विश्वास नहीं है उसे हम घी दिखा नहीं सकते। जैसे–

तिलमध्ये यथातैलं दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
काष्ठमध्ये यथा वह्निः देहमध्ये तथा शिवः॥

अर्थात् जैसे–तिल में तेल, दूध में घी, काष्ठ में अग्नि, पाषाण में स्वर्ण शक्तिरूप से रहता है वैसे ही शरीर में आत्मा का अस्तित्व रहता है।

विज्ञान ने आज बहुत से आविष्कार किए हैं किन्तु वैज्ञानिक शरीर में आत्मतत्त्व का पता नहीं कर पाये। शरीर में आत्मा है इसका ज्ञान तो है उन्हें, लेकिन वे आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाये। जैसे–यह नवनीत है, यह छाछ है आदि स्पष्ट दिखाया जा रहा है। वैसे ही शरीर में आत्मा को नहीं दिखा पा रहे हैं।

वैज्ञानिक प्रयोग—एक व्यक्ति मरणासन्न था, उसे पेटी के अन्दर बन्द कर दिया। पेटी में बन्द करने के पूर्व उसका वजन ले लिया था। जब वह मर गया तो पुनः एक बार वजन लिया लेकिन कोई अन्तर समझ में नहीं आया। अनुमान लगाया लेकिन आत्मा तो अभेद्य है, अछेद्य है, नित्य है, सनातन है, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है, अरूपी है इसका कोई भार नहीं होता फिर यन्त्रों से या अन्य किसी भी प्रयोग से उसका वजन नहीं मापा जा सका। आत्मा में वजन नहीं होता, यह श्रद्धान का विषय है। शरीर में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होते हैं, सड़न–गलन आदि क्रिया भी होती है, लेकिन आत्मा में यह

सब नहीं होता। आत्मा के स्वरूप के बारे में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने **समाधितन्त्र** ग्रन्थ में लिखा है–

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥

अर्थात् दृश्य पदार्थ अचेतन रूप हैं किन्तु चेतन आत्मा अदृश्य स्वरूप है। अतः किससे रुष्ट होऊँ ? किससे संतुष्ट होऊँ ? इसलिए मैं तो मध्यस्थ होता हूँ। पंचेन्द्रिय के द्वारा आत्मतत्त्व छूने में, सूंघने में, चखने में, देखने में नहीं आता, फिर भी उसे देखना चाहते हैं, छूना चाहते हैं, यह सब कैसे सम्भव हो सकेगा ? यदि आत्मा आँखों से देखने में आ जाता तो देखने के उपरान्त विश्वास की आवश्यकता ही नहीं होती। आज आँखों के द्वारा आत्मतत्त्व का निरीक्षण एवं परीक्षण सम्भव नहीं है। यह तो संवेदन का विषय है। इसका संवेदन किया जा सकता है। आचार्यों ने कहा है कि–आत्मा स्वसंवेद्य है।

कोई व्यक्ति दुःख से पीड़ित है, उसको देखकर सहानुभूति दे सकते हैं, किन्तु उसके दुःख का अनुभव नहीं कर सकते। उसका प्रतिकार भी नहीं कर सकते। प्रयास तो किया जा सकता है लेकिन प्रतिकार हो ही जाए यह निश्चित नहीं होता। यदि किसी के द्वारा किसी के दुःख का प्रतिकार होता तो परम करुणावान केवली भगवान् के द्वारा सभी जीव सुखी हो जाते, लेकिन परम कृपालु केवलज्ञानी के द्वारा भी सुखी क्यों नहीं हुए ? भगवान् के द्वारा रास्ता दिखाया जा सकता है, रास्ता बताया जा सकता है। यह प्रभु की, गुरु की कृपा मानना चाहिए कि उन्होंने रास्ता बता दिया। ज्ञानी के द्वारा, अज्ञानी रास्ता जान सकता है, समझ सकता है, जिसके फलस्वरूप उसका सोया हुआ ज्ञान जागृत हो सकता है। जैसे–दही मन्थन से ही नवनीत या घृत की प्राप्ति होती है, पानी या रेत के मन्थन से नहीं, उसी प्रकार रागद्वेष में आत्मा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि रागादि आत्मा का स्वभाव नहीं है। राग के बिना जीव रह सकता है, लेकिन जीव के बिना राग का अस्तित्व नहीं रह सकता। जैसे–सरोवर के बिना लहर नहीं रह सकती किन्तु लहर के बिना सरोवर तो रह सकता है। आचार्य कहते हैं कि रागद्वेषादि लहरों का अभाव होने पर आत्म-सरोवर शान्त रह सकता है।

इस **अजीवाधिकार** में सर्वप्रथम जीव के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएँ क्या हैं ? मिथ्यादृष्टि जीव की, दुर्बुद्धि जीव की परिकल्पना क्या है ? इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

आत्मा को नहीं जानने वाला अज्ञानी जीव मूढ़ पुरुष रागादि अध्यवसान भाव को, मिथ्यात्वादि वैभाविक भावों को जीव मानता है। कर्मसिद्धान्त में अभव्य जीव को अनादि अनन्त माना जाता है। नोकर्म कर्म को फलने में सहयोग देता है। जैसे–अभी आप शब्दों को सुन रहे हैं, बोलने वाला दूर है फिर भी आपके पास तक ये शब्द पहुँच रहे हैं, इसमें माइक करण्ट आदि सहयोगी हैं। नोकर्म के बिना कर्म अपना फल नहीं दे पाता। **अवरे कम्माणुभागमिच्छंति** कई लोग कर्मों का अनुभाग जो उदय में

आता है उसे ही जीव मान लेते हैं।

दृष्टान्त—स्याही की टिकिया में जितना पानी डालने योग्य है उतना ही डालने पर स्याही सही तरीके से काम करती है अर्थात् पेन सही तरीके से चलता है। कम या अधिक पानी डालने पर स्याही में गाढ़ापन या पतलापन होता है। उसी प्रकार कर्मों के अनुभाग उदय में भी तीव्रता या मन्दता होती है उसका उपयोग पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है। लता, दारु, अस्थि और पाषाणादि रूप कर्मों का फल तीव्र-मन्द होता है। कई एकान्ती जन कर्मों के फल को ही जीव मानते हैं।

चेतन द्रव्य चर्म चक्षुओं से देखने में नहीं आता, अतः **क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि** अर्थात् ''कहाँ रुष्ट होऊँ और कहाँ तुष्ट होऊँ'' इस अध्यात्म का विचार करके **मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः** मैं मध्यस्थ होता हूँ, इसकी साधना करना चाहिए। **अवरे णोकम्मं जीवो त्ति** कुछ एकान्ती जन नोकर्म को जीव मानते हैं। चार्वाक आदि जो कर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध परमात्मा के भेदविज्ञान से शून्य हैं वे शरीरादिक नोकर्म को ही जीव मानते हैं। आज व्यवहार में किसी से कुछ अपराध होने पर दण्ड किसे दिया जाता है ? शरीरवान् को दण्ड दिया जाता है, क्योंकि मात्र शरीर अपराध नहीं करता किन्तु अपराध का भाव तो जीव को आता है। व्यवहार से जेल में किसे रखा जाता है ? मनुष्य को। लेकिन निश्चय से मनुष्य जीव को, जीव के परिणाम को सुधारने के लिए दण्ड दिया जाता है। मरने के उपरान्त शव को दण्ड नहीं दिया जाता किन्तु जीव को स्वयं अगली गति में दण्ड प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि जब तक शरीर में आत्मतत्त्व रहता है तब तक दण्डित किया जाता है। मात्र शरीर को भी दण्डित नहीं किया जाता और मात्र आत्मा को भी दण्डित नहीं किया जाता। शरीर के माध्यम में जीव अपराध करता, अतः जीव सहित शरीर को दण्ड दिया जाता है।

शरीर के माध्यम से ही आमोद-प्रमोद करता है, सुख-दुःख को प्राप्त होता है। गलत कार्य करने से सुख प्राप्ति में व्यवधान होता है। गलत कार्य करने से व्यक्ति को जेल का दुःख भी भोगना पड़ सकता है।

जेल के दुःख—जेल में पहुँचने पर अपराधी कैदी बन जाता है। उस समय वह कहता है कि मेरा घर छूट गया, मेरा परिवार छूट गया, मकान छूट गया, दुकान छूट गई, खेती-बाड़ी छूट गई, मित्र आदि भी छूट गए। मैं अकेला रह गया। वहाँ उसे भूख लगती है, तो खाने को दो रोटी मिल जाती हैं। सोने की इच्छा होती है किन्तु उसे काम करने में लगा दिया जाता है। जब कभी रात्रि में सोता भी है तो सोने को एक पतली सी दरी मिलती है। सोने को इतना थोड़ा-सा स्थान मिलता है कि आराम से सो भी नहीं सकता, करवट भी नहीं बदल पाता। घर जैसे सोने को पलंग व गद्दा-पल्ली नहीं मिलता। बार-बार खा-पी नहीं सकता। जब चाहे, मन चाहा नहीं कर सकता। कुछ अपराध ऐसे हो जाते हैं जिनका दण्ड जेल में ही नहीं वरन नरक की जेल में भी भोगना पड़ता है। जेल में थोड़ी बहुत सुविधा मिल भी जाए लेकिन हर पल पराधीनता का दुःख तो सहना ही पड़ता है। नरक में तो थोड़ी भी सुविधा

नहीं मिलती। वहाँ की भूख-प्यास का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता, फिर भी **छहढाला** में **पण्डित दौलतराम जी** ने लिखा है कि-

तीन लोक को नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय।
सिन्धु नीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय॥

कम्मस्सुदयं जीवं कोई कर्मोदय को जीव मानता है।

विशेष चिन्तन—यह किसी अपेक्षा ठीक है। कैसे ? कर्मोदय संसारी जीव के होता है अतः कर्मोदय सहित अवस्था को जीव मानना, किन्तु जो कर्मोदय कर्म सत्ता से रहित हैं वे मुक्त जीव परमात्मा कहलाते हैं, अतः उन्हें संसारी जीव नहीं मानना। आठ कर्मों से रहित परमात्मा यहाँ नहीं रहते।

जिज्ञासा—कर्मोदय रहित व नोकर्म रहित जीव कैसा होता है ?

समाधान—कर्मोदय व नोकर्म रहित जीव निराकार होता है, अशरीरी होता है। शरीर रहित जीव कैसा होता है ? इसे एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे आप कैमरे से फोटो निकलवाते हैं उस समय फोटो यद्यपि नेगेटिव है तो उसमें आप शरीर सहित नहीं दिखते, मात्र आपके शरीर का आकार दिखता है, किन्तु फोटो पॉजीटिव हो तो शरीर सहित चित्र दिखता है। उसी प्रकार संसारी अवस्था में जीव पॉजीटिव जैसा शरीर सहित दिखता है और सिद्धावस्था में जीव का नेगेटिव के समान शरीर रहित आकार मात्र रहता है। एक दूसरा यन्त्र है-एक्स-रे निकालने का। वैद्यादि के द्वारा हृदय, पेट, कमर आदि का दर्द जब नाड़ी से समझ में नहीं आता तो रोगी डॉक्टर की शरण में जाता है। डॉ० उसका एक्स-रे के द्वारा परीक्षण करता है। आप फोटो को १०-१५ रुपये में खरीद लेते हैं। एक्स-रे की कीमत २५०, ५००, १०००, ३००० आदि तक भी हो सकती है। एम० आर० आई० करवाने की कीमत और अधिक होती है। कम कीमत की होने पर भी पॉजीटिव फोटो को आप सुन्दर फ्रेम में लगाकर दीवाल पर टांग देते हैं, लेकिन नेगेटिव और एक्स-रे या एम० आर० आई० के चित्र कभी फ्रेमिंग कराकर दीवाल पर टांगते हैं क्या ? नहीं, जबकि उसमें भी आपका ही हृदय, पेट, कमर आदि है। ऐसा क्यों ? क्योंकि उसमें कुछ नहीं दिख रहा अर्थात् आकार मात्र दिख रहा है, सुन्दर शरीर नहीं दिखता। इसी प्रकार यह जो देह आदि दिखने में आ रहे हैं उसे ही जीव रूप स्वीकार करते हैं, शरीर रहित को जीव स्वीकार नहीं करते, ऐसा मिथ्यादृष्टि एकान्तीजन का मत होता है। शरीर सहित को ही मैं जीव हूँ, ऐसा मानता है, शरीर रहित को जीव नहीं मानता। ऐसे मिथ्या मत वालों को **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने **समाधितन्त्र** ग्रन्थ में कहा है कि-**अचेतनमिदं दृश्यं अदृश्यं चेतनं** अर्थात् जो दिख रहा है वह सब कुछ अचेतन है किन्तु चेतन तो अदृश्य है इसे चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि कुछ मृतक की फोटो या एक्सरे से अनुमान लगाया जाता है कि यह मरा है या नहीं। मरण होने पर स्पेशलिस्ट डॉ० को बुलवाते हैं, परीक्षण करवाते हैं, तो वह कहता है अभी उठाओ मत, अभी मरा नहीं है। हमारा ज्ञान दूसरों पर आधारित है।

उस समय वह नहीं कह पाता कि मैं हूँ और परिवार वाले भी जान नहीं पाते इसलिए मरने के उपरान्त भी उसे थोड़ी देर वैसा ही रखा जाता है। प्राण निकलने के बाद भी वायु का संचार हो रहा है या नहीं यह देखा जाता है। उसमें संवेदन है या नहीं, हम यह नहीं कह सकते। संवेदन तो आत्मा में होता है, शरीर में नहीं। लेकिन आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है अत: उसे पंचेन्द्रियों का विषय नहीं बनाया जा सकता।

शरीर में आत्मा है इसका इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार तो नहीं होता किन्तु अनुमान से जानने में आता है। जैसे–**गूढाङ्गारान्तरौजसम्** अर्थात् राख से ढकी हुई अग्नि का पता थोड़ा-सा धुँआ निकलने पर अनुमान किया जाता है। धुँआ प्रत्यक्ष है, अग्नि परोक्ष है। प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्ष का अनुमान किया जाता है। अनुमान में साध्य साक्षात् देखने में नहीं आता इसलिए कारण (साधन) के द्वारा कार्य (साध्य) का अनुमान किया जाता है। नाड़ी चल रही है, धड़कन चल रही है इससे शरीर में आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है। शरीर का एक्स-रे होता है तो शरीर के अन्दर के अवयवों की जानकारी तो हो जाती है, लेकिन उससे आत्मा देखने में नहीं आता। जीव का एक्स-रे नहीं हो सकता।

मरण के समय शरीर के शिथिल होने पर, जीवित होने पर भी कभी-कभी कोई अपने मुख से यह नहीं कह पाता कि "मैं जीवित हूँ" हाथ-पैर हिलाने की भी क्षमता नहीं होती फिर भी स्व का संवेदन स्वयं तो कर सकता है। **परीक्षामुख** ग्रन्थ में एक सूत्र आया है–**शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्** शब्द का उच्चारण किए बिना भी पदार्थ के समान स्व का अनुभव होता है। कोलाहल से दूर बैठकर एकान्त में अपना अनुभव कर सकते हैं। आँख बन्द करने पर, शरीर शून्य होने पर, आसन स्थिर होने पर रूप, रसादि से रहित अपने आपका अनुभव कर सकते हैं। ये रागादि भावकर्म, द्रव्यकर्म, कर्म के अनुभाग आदि जीव के भीतर तो हैं लेकिन ये जीव के स्वभाव नहीं हैं।

दृष्टान्त–जैसे सरोवर में तरंगें होती हैं लेकिन तरंग सरोवर का स्वभाव नहीं है। तरंगों को देखने पर भीतर सरोवर में क्या है ? यह ज्ञान नहीं हो सकता है। तरंगों के कारण सरोवर का अन्तरंग नहीं दिखता। इसी प्रकार रागद्वेषादि भाव तरंगों के होने पर आत्म सरोवर का अन्तरंग अर्थात् आत्मा का स्वभाव नहीं दिखता। तरंग रहित होने पर सरोवर में झाँकने पर अपना चेहरा दिखता है, उसी प्रकार रागादि तरंग रहित होने पर आत्मस्वभाव रूप अपना चेहरा दिखता है। ज्ञानमय उपयोग को व्यवधान करने वाला अजीव द्रव्य बीच में आयेगा तो स्वयं जीव-स्वभाव का संवेदन नहीं हो सकता। संयोगज भाव का अभाव होने पर ज्ञानधारा अविरल रूप से बहती है। राख से ढँकी हुई अग्नि के समान कर्मावरित होने से आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं हो पा रहा है। अत: रागादि भावों में उलझो नहीं। रागादि भावों की उलझन को दूर करोगे तभी सुलझे हुए तत्त्व का अनुभव हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

कभी साता का उदय होता है तो कहते हैं कि रामराज्य चल रहा है और जब असाता का उदय होता है तो कहते हैं कि रावणराज्य चल रहा है। अनुकूलता को रामराज्य और प्रतिकूलता को रावणराज्य

मान लेते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा मानना ठीक नहीं है। रामराज्य का अर्थ साता ही साता का होना अथवा अनुकूलता का होना। ऐसा मानना हमारी गलती है। आत्मा साता-असाता के बहाव में आ जाता है तो उसे कभी रामराज्य और कभी रावणराज्य दिखता है। वास्तव में तो सही राम के दर्शन होने पर आतम राम के दर्शन हो सकते हैं। इस प्रकार का ज्ञान गुरुओं के माध्यम से प्राप्त होता है। कण्डे से अग्नि भिन्न नहीं है, यह निश्चित बात है परन्तु कण्डे से अग्नि का स्वरूप भिन्न है। इसी तरह देह से आत्मा भिन्न नहीं है, परन्तु देह से आत्मा का स्वरूप भिन्न है। अतः शरीर सो 'मैं हूँ' यह धारणा मिथ्या है। भगवान् बनने की भावना यह सूचित करती है कि मैं भी भगवान् बन सकता हूँ। भगवान् के दर्शन करने से भगवान् बनने की भावना जागृत होती है। विचार आता है कि भगवान् भी आत्मा हैं, मैं भी आत्मा हूँ। अतः जैसे भगवान् की आत्मा भगवान् बन गई वैसे मेरी आत्मा भी भगवान् बन सकती है। भगवान् के दर्शन करने से ऐसी चिन्तनधारा प्रवाहित हो जाती है।

चार्वाक मत वाले कहते हैं **ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्** अर्थात् ऋण करके भी घी पीओ। बौद्धमत वाले दीप निर्वाणवत् आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। कोई हल्का-भारी रूप कर्मों के अनुभाग को जीव का स्वरूप मानते हैं। एक पलंग में आठ खम्भे लगने पर खाट बन जाता है, इसी प्रकार आठ कर्ममय ही जीव है, कोई इस प्रकार मानते हैं। अन्य मतों में कहा जाता है कि-यह माया का संसार है, उसी रूप जीव को स्वीकार कर लेते हैं। जीव और अजीव के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान बिना हेय क्या है ? उपादेय क्या है ? इसका ज्ञान नहीं हो पाता है।

दृष्टान्त—जैसे-जिसको दाल फटकारना नहीं आता वह दाल को ही फटकार देता है। अथवा जिसे दाल का ज्ञान नहीं होता वह दाल को ही फटकार देता है। छिलके-छिलके बच जाते हैं। अथवा दाल या कंकर एक से होने पर दाल को कंकर समझकर सही ज्ञान न होने से फेंक देता है, कंकर बचा लेता है, ऐसा हो जाता है, किन्तु जो सच जानता है वह सही तरीके से कार्य करता है। कहा भी है- **बिन जाने तैं दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये** अर्थात् जब तक दोष और गुण दोनों का सही ज्ञान नहीं होता तब तक दोष को हेय और गुण को उपादेय नहीं समझ सकते, किन्तु जब दोष को दोष और हेय समझ लेता है तो दोष को छोड़ देता है और गुणों को उपादेय जानकर उन्हें ग्रहण करता है। 'मैं कौन हूँ' 'स्व क्या है ?' 'पर क्या है ?' यह जानना ही सम्यग्ज्ञान है। इसका श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

आस्था की धरती पर ही सम्यग्ज्ञान होता है लेकिन अज्ञान का यह तूफान, अन्धकार इतना अधिक व्याप्त है कि ज्ञान रूपी छोटी सी नैय्या समुद्र में टिक नहीं पाती है। अज्ञान अन्धकार में पलने वाले संसारी प्राणी को सम्यग्ज्ञान की आँखों का महत्त्व एवं उसका प्रयोग समझाने पर उनके अज्ञान को दूर किया जा सकता है।

वास्तविक कथन करने वाले सर्वज्ञ भगवान् ने उक्त समस्त मान्यताओं के बारे में ऐसा कहा है कि ये लोग इन देह-रागादि परद्रव्य को ही आत्मा मानने वाले होने से परात्मवादी हैं। इस प्रकार पूर्वपक्ष

का कथन करने वाली पाँच गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—अब आगे उपर्युक्त जो जीव का स्वरूप बतलाया है उसका परिहार करते हैं–

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया किह ते जीवोत्ति वुच्चंति ॥४९॥

अन्वयार्थ—**(एदे सव्वे भावा)** ये पूर्वकथित सभी भाव **(पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा)** पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुये हैं (इस प्रकार) **(केवलिजिणेहिं)** केवली जिनेन्द्रदेव के द्वारा **(भणिया)** कहा गया है **(ते जीवो)** उन्हें जीव **(त्ति किह)** ऐसा कैसे **(वुच्चंति)** कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते हैं?

अर्थ—केवली भगवान् ने बतलाया है कि उपर्युक्त सब अवस्थायें पौद्‌गलिक द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से होने वाली हैं। इसलिए ये सब जीव नहीं कही जा सकतीं।

ये पूर्व के कथित भाव विभाव सारे,
हैं मूर्त से उदित हैं जड़ के पिटारे।
आश्चर्य जीव फिर रे बन जाये कैसे ?
हैं केवली वचन ये गज-मोति जैसे ॥४९॥

व्याख्या—पूर्वकथित गाथाओं में जो भाव हैं वे पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं। पुद्‌गल में उत्पन्न हुए हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए। मोहनीय कर्म का जब तक उदय नहीं होगा तब तक रागादि २८ भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम रूप, रस, गन्धादि के अतिरिक्त कुछ नहीं होते। मोहनीय कर्म के उदय में जीव में वैभाविक शक्ति उत्पन्न होती है जिसके परिणाम स्वरूप यह मोह, राग, द्वेषादि वैभाविक परिणाम करता है। इसलिए **तस्सत्ती भावकम्मं तु** ऐसा कहा है। आत्मा के परिणामों के बिना कर्म नहीं बंधते, यह अकाट्य नियम है, एवं कर्म उदय के बिना जीव में वैभाविक परिणाम उत्पन्न नहीं होते। यदि पुद्‌गल में रागद्वेषादि हो रहे हैं, ऐसा कहेंगे तो बहुत हानि हो जायेगी। फिर तो रागद्वेषादि नहीं होने पर वह वीतरागी सिद्ध होगा, वह शुद्धात्मा कहलायेगा। फिर जीव को कुछ करने की, उपदेश की, पुरुषार्थ की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। जीव स्वयं सारे के सारे कार्य करता जाए और अपने आपको कर्त्ता न माने, तो यह उसकी गलत धारणा मानी जायेगी। जीव के जितने भी भाव हैं वे सभी कर्म सापेक्ष हैं अर्थात् कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना नहीं होते। कर्म का उपशमकरण होता है, लेकिन औपशमिकभाव जीव में होता है। इसलिए **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** कह रहे हैं कि **एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा** अर्थात् ये सभी देह, रागादि रूप कर्म जनित अवस्थायें पुद्‌गल द्रव्यकर्म के उदय रूप परिणाम से उत्पन्न हुई हैं।

जैसे बाजार में स्वर्ण के जो भी आभरण आते हैं वे सभी बट्टा सहित ही आते हैं। बिना बट्टे का

सोना शुद्ध सोना कहलाता है। बिना बट्टे के सोने के आभूषण नहीं बनते। ये आभरण, आवरण सहित होते हैं, उसी प्रकार हम संसारी प्राणी आभरण के समान आवरणदार बने हुए हैं। इसलिए हमें आत्मा का सही स्वरूप पकड़ में नहीं आ रहा है। सौ टंच जीवत्व अभी है ही नहीं। अभी सभी बट्टे सहित हैं।

जैसे–एक किलो नवनीत में एक किलो घी ही हो ऐसा नहीं, किन्तु उसमें थोड़ी बहुत मरी भी निकलती है। उसी प्रकार जीव में रागद्वेषादि रूप मरी है। उसके साथ जीव तत्त्व है, इसलिए पूर्णतया स्वभाव रूप शुद्ध जीवत्व अनुभव में नहीं आता।

जिस प्रकार ईन्धन से अग्नि पृथक् नहीं है उसी प्रकार रागद्वेषादि जीव से पृथक् नहीं हैं। सिद्ध अवस्था में रागद्वेषादि रहित शुद्ध जीव होता है।

जिज्ञासा–शुद्धात्मानुभूति रूप परम समाधि का अनुभव कब होता है ?

समाधान– सुबह से शाम तक खाते-पीते, उठते-बैठते, पढ़ते-लिखते समय परम समाधि का अनुभव नहीं होता। पर वस्तुओं के प्रति मेरा-तेरा भाव जब तक रहता है तब तक समाधि का अनुभव नहीं हो सकता, किन्तु उक्त समस्त प्रवृत्तियों को विराम देने पर एवं पर वस्तुओं के प्रति कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वामित्व बुद्धि के नहीं होने पर, रागद्वेषादि भावों से ऊपर उठने पर ही परम समाधि का अनुभव हो सकता है।

दृष्टान्त–मान लीजिये आप एक लाख रुपये लेकर बैंक में गए, वहाँ पूछा कि इसका कितना ब्याज मिलेगा ? बैंक वाले ने कहा कि १२ प्रतिशत मिलेगा। रुपये जमा करके एक घण्टे तक आप वहीं बैठ गए। एक घण्टे बाद आप कहते हैं कि–लाओ, मुझे ब्याज दीजिये। तब वह कहता है कि–ब्याज ऐसे नहीं मिलता। पहले समर्पित होकर एक लाख रुपये यहाँ रख दो और पाँच साल तक इन्तजार करो तब ब्याज मिलेगा। यदि ऐसे ब्याज देने लग जाऊँगा तो मैं दिवालिया हो जाऊँगा और तुम मालामाल हो जाओगे। ब्याज लेने के पहले सभी नियम समझ लो, उनके अनुसार थोड़ा इन्तजार करो तब मिलेगा। उसी प्रकार निष्परिग्रही हो जाओ, रागद्वेषादि भावों से रहित हो जाओ फिर ध्यान में बैठकर इन्तजार करो, तभी शुद्धात्मानुभूति रूपी परम समाधि का अनुभव हो सकेगा।

''मैं मनुष्य हूँ या तिर्यंच हूँ'' इत्यादि रूप संवेदन पर्याय की ओर देखने से होता है। द्रव्य की ओर दृष्टि हुए बिना स्वसंवेदन संभव नहीं हो सकता। जितने भी संयोगी भाव हो रहे हैं वे सभी पर वस्तुओं के कारण ही हो रहे हैं। परवस्तुओं का संयोग होने पर हर्ष और वियोग होने पर विषाद होता है। यह कार्यक्रम चिरकाल से चल रहा है। वर्तमान में भी सारी उम्र चलता है भले ही तात्कालिक होता है।

आचार्य कहते हैं कि यह सब कर्म पर आधारित है, रागद्वेषादि जीव के साथ होते हुए भी जीव

के स्वभाव नहीं हैं। जीव में रागद्वेषादि रूप किट्टकालिमा लगी हुई है। दीपक में बाती के ऊपर जो होती है वह किट्ट है और गिलास आदि ढकने पर जो होती है वह कालिमा है। रागद्वेष की कालिमा को दूर किया जा सकता है।

दृष्टान्त—जैसे–स्फटिक मणि के सामने गुलाब का फूल रखने पर स्फटिक मणि फूल के रंग रूप में परिवर्तित हो जाती है। लेकिन जब फूल को हटा दिया जाता है तो वह पुनः अपने रूप में आ जाती है। इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के द्वारा रागद्वेषादि किट्ट–कालिमा को दूर कर देने पर आत्मा शुद्ध स्फटिक के समान शुद्ध हो जाता है।

ज्ञान का चिन्तन करना अलग है, ध्यान करना अलग है। दोनों के संवेदन भिन्न हैं। निद्रा आने पर डर नहीं लगता, नींद खुल जाने पर डर लगने लगता है। इसी प्रकार निद्रा स्थानीय अर्थात् निर्विकल्प हो जाता है तो पूर्ण रूप से भय से रहित रहता है। परिग्रह संज्ञा सहित होने से ही भय संज्ञा रहती है। चोर को हमेशा भय रहता है। जब किसी रास्ते से साधु निकलते हैं तो सभी हाथ जोड़ने लगते हैं। आप लोग निकलें तो हो सकता है कि आपसे रास्ते के लोग भयभीत हो जायें, या आप स्वयं भयभीत हो जायें। परिग्रह सहित होने के कारण ऐसा होता है। पशु भी आपको देखकर डर सकते हैं या आप पशु से डर सकते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में आयु बन्ध नहीं होता, मरण भी नहीं होता है। ऐसा क्यों ? क्योंकि उस समय विशुद्ध परिणाम होते हैं। उस समय आयु बन्ध योग्य परिणाम होते ही नहीं। जैसे ही उस सम्यक्त्व का काल समाप्त होता है तो नीचे गुणस्थान में मरण हो सकता है। आयुबन्ध भी हो सकता है। घर में कोई मरण को प्राप्त हो जाये तो थोड़ी देर बाद उसे घर से बाहर निकाल दिया जाता है। वहाँ से सब लोग चले जायें और लाइट जाने से अंधेरा हो जाये तो उस समय यदि कोई मुर्दे के पास रहे तो भयभीत होता है।

भावों का तारतम्य ऐसा रहता है कि आपस में भाव टकराते हैं। यदि वैर के भाव, प्रतिकार के भाव हैं तो सामने वाले में भी वैसे ही भाव होंगे। हम वैर की सामग्री, भय की सामग्री, प्रतिकूलता की सामग्री स्वयं अपने उपयोग के द्वारा ही बिछाते हैं।

निर्विकल्प समाधि की ओर जाने से ऐसी धारणा बन जाती है कि शरीर की ओर उपयोग ही नहीं जाता। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होते हुए भी परिणामों का तादात्म्य है। निश्चय शब्द का प्रयोग तादात्म्य का प्रतीक होता है। शुद्धनिश्चयनय से त्रैकालिक तादात्म्य और अशुद्धनिश्चय नय से तात्कालिक तादात्म्य होता है। लक्षण की अपेक्षा देह और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं। जैसे–जल और अग्नि ये लक्षण की अपेक्षा भिन्न हैं। मोक्षमार्गी लक्षण के कारण लक्ष्य की ओर यात्रा प्रारम्भ कर लेता है। जैसे–किसी का लक्ष्य १०० कि० मी० की यात्रा करने का है तो यात्रा प्रारम्भ करने के उपरान्त बीच में

आने वाले कई स्टेशन होते हैं किन्तु उनकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता। लक्ष्य की ओर दृष्टि होने से उसे यह भय नहीं होता कि मैं कहीं भटक न जाऊँ। देखो, ६ वें ७ वें गुणस्थान में झूलते हुए पूर्वकोटि वर्ष का समय भी बिता दिया जाता है लेकिन लक्ष्य की ओर दृष्टि होने से साधक इससे नीचे गुणस्थान में नहीं आता। धवला में कहा है कि–बन्दर, मुर्गा आदि भी कुछ कम पूर्वकोटि काल तक ५ वें गुणस्थान में रहते हैं। दूसरों की ओर देखो ही नहीं।

दृष्टान्त—जैसे सिलाई करने वाला सिलाई के समय दूसरों की ओर नहीं देखता। अपने कार्य की ओर एकाग्र रहता है। यदि किसी से बोलना भी पड़े तो उसकी ओर देखकर नहीं बोलता, बल्कि सिलाई जहाँ हो रही है वहीं देखते-देखते थोड़ी सी बात कर लेता है। एक ओर सिलाई पूरी हो जाती है तो दूसरी ओर झट से यूँ किनारी को मोड़कर सिलाई करना शुरू कर लेता है। कहने का मतलब है कि वह उस समय अपने लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखता है, अन्यत्र नहीं। उसी प्रकार मुमुक्षु साधक की अपने लक्ष्य पर दृष्टि रहती है। वह एक बार में ही रत्नत्रय को धारण कर, निर्विकल्प समाधि में लीन होकर क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञान, दर्शनादि चतुष्टय से विभूषित होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार देह रागादि कर्मजनित अवस्थाओं को ही जीव मानने के पक्ष का परिहार करने वाली गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—जबकि रागादि अध्यवसानों में चिद्रूप का प्रतिभास होता है तब इनको पुद्गल स्वभाव रूप कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर आगे की गाथा द्वारा दिया जाता है–

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥५०॥

अन्वयार्थ—(अट्ठविहं पि य) आठ प्रकार के **(कम्मं)** कर्म **(सव्वं पुग्गलमयं)** सब पुद्गलमय हैं ऐसा **(जिणा विंति)** जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। **(जस्स विपच्चमाणस्स)** क्योंकि जिसके उदय होने पर **(फलं)** फल **(तं दुक्खं)** प्रसिद्ध दुःख है **(ति वुच्चदि)** ऐसा कहा है।

अर्थ—ये आठ प्रकार के कर्म पुद्गलमयी हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं, क्योंकि उदय में आए हुए सभी कर्मों का फल दुःख स्वरूप होता है।

सर्वज्ञ ये कह रहे जिन चित् स्वरूपी,
है कर्म अष्टविध पुद्गल रूप रूपी।
आता यदा उदय में बस कर्म वैरी,
दे दुःख मात्र फल हो, भव बीच फेरी ॥५०॥

व्याख्या—आठों प्रकार के कर्म पुद्गलमयी हैं, ये सभी आकुलता के उत्पादक हैं, अतः दुःखस्वरूप हैं तथा रागादि भाव भी दुःखस्वरूप हैं क्योंकि ये भी आकुलता के उत्पादक हैं। रागादि

विभाव भावों को पुद्‌गलमयी इसलिए कहा गया है क्योंकि वे सभी पुद्‌गल के संयोग के बिना नहीं होते। शुद्ध अग्नि की राख नहीं होती, किन्तु सामान्य अग्नि या कपूर जलाने पर भी धुँआ उठे बिना नहीं रहता, उसकी राख नहीं मिलती। परन्तु इतना अधिक धुँआ उठता है कि यदि थाली को जलते कपूर के ऊपर रख दें तो थाली काली हो जाती है। कपूर की अग्नि अशुद्ध अग्नि है। इस प्रकार अशुद्ध द्रव्य में कर्म संयोग से ऐसा होता है शुद्ध द्रव्य में ऐसा नहीं होता। अर्ककान्तमणि (सूर्यकान्तमणि) से जो अग्नि उत्पन्न होती है वह शुद्ध अग्नि होती है। अष्टकर्म अत्यन्त सूक्ष्म होने से आत्मा में बद्ध होने पर भी दिखते नहीं हैं। आत्मा में बद्ध होने पर भी ये आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। कर्म जब तक आत्मा में बद्ध रहेंगे तब तक वे उदय में आकर आत्मा को सुख या दु:ख रूप फल देते हैं। कर्मफल में होने वाला सुख या दु:ख जीव का स्वरूप नहीं है। अव्याबाध सुख आत्मा का स्वभाव है, जो सिद्धावस्था में प्राप्त होता है। **छहढाला** में कहा है–

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।

अरहन्त भगवान् के भी चार अघातिया कर्म का फल है। साता–असाता किसी भी वेदनीय कर्म का उदय हो सकता है अत: उन्हें अव्याबाध सुख तो नहीं होता लेकिन उन्हें दु:खी कहना भी दु:ख की बात है। उनके पास आकुलता नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते। बस इतना कहा जा सकता है कि अभी उनके पास भी विपच्यमान कर्म हैं। १४ वें गुणस्थान तक के सभी जीव विद्यार्थी हैं। हम सभी प्राइमरी के विद्यार्थी हैं वे कॉलेज के विद्यार्थी हैं। अरहन्त भगवान् की आकुलता की तुलना हम अपनी आकुलता से तो नहीं कर सकते लेकिन कर्म का उदय होने से आकुलता का अस्तित्व तो मानना पड़ेगा। वैसे केवली भगवान् को अनन्त सुख है फिर भी अव्याबाध सुख नहीं है। आकुलता दो प्रकार की होती है–१. सुख रूप आकुलता और २. दु:ख रूप आकुलता। ''भीड़ की चाह भी आकुलता है और भीड़ से भागना भी आकुलता है।''

प्रत्येक व्यक्ति को बुखार रहता है उसके बिना उठना–बैठना, चलना–फिरना, सोना–खाना आदि कुछ नहीं हो सकता। जितना टेम्प्रेचर होना चाहिए उससे कम हो जाए तो बर्फ जैसे ठण्डे हो सकते हैं। उस समय भी आकुलता होती है। तथा बुखार अधिक होने पर भी हरारत होती है, बड़बड़ाना आदि क्रिया होने पर भी आकुलता होती है। आयुर्वेद के अनुसार एक बार पढ़ा था कि ज्वर (गर्मी) देह का राजा है।

अरहन्त अवस्था में अव्यक्त आकुलता है, किन्तु सिद्धावस्था में आकुलता का पूर्ण अभाव होता है अत: वहाँ अव्याबाध सुख प्रकट होता है। संसार अवस्था में मोहनीय के कारण सिद्धत्व स्वभाव का अनुभव नहीं होता। आठों प्रकार के कर्मों का अभाव होने पर ही सिद्धत्व स्वभाव प्रकट होता है।

निराकुलता परिणाम के प्रतिपक्षी आकुल–व्याकुल परिणाम होते हैं। ये सभी दु:ख स्वरूप होते

हैं। शुद्ध निश्चय नय से रागादि पौद्गलिक हैं क्योंकि पुद्गल के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न हुए रागादि परिणाम जीव के स्वभाव नहीं हैं। ऐसा श्रद्धान होने पर आकुलता में कमी आ सकती है। **वेदनं मात्र वेदना** उदय और उदीरणा को प्राप्त द्रव्य का नाम वेदना है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश इन चारों की अपेक्षा वेदना एक साथ चलती है। चाहे सुख की हो या दुःख की, वेदना तो वेदना है। धन आ गया तो धन संरक्षण की वेदना, धन चला गया तो वेदना। कुछ लोगों के पास धन नहीं है, तो वेदना, कुछ धन पकड़ कर बैठे हैं इसकी वेदना है। एक सिर पकड़ कर बैठा है कि हमारे यहाँ कुछ नहीं है और दूसरा इसलिए सिर पकड़कर बैठा है कि कहीं इनकमटेक्स वाला हमारे घर न आ जाए, छापा न डाल दे। गरीबों के पास पुलिस नहीं जाती, अमीरों के यहाँ ही जाती है। इसी प्रकार सातावेदनीय बड़े लोगों के पास आती है। जेल तो जेल है, एक खुली जेल है, एक बन्द जेल है। खुली जेल में रहने वाला अपने आपको स्वतन्त्र माने यह बात अलग है, लेकिन बन्धन तो बन्धन है और कर्म का बन्धन तो बन्धन ही है। इस प्रकार सुख-दुःख, रागद्वेषादि समस्त विभाव भाव जीव के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि ये सभी कर्मोदय की अवस्थायें हैं। यह कथन पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—उक्त विषय पर कोई प्रश्न करता है कि यदि रागद्वेषादि अध्यवसान भाव पुद्गलमय ही हैं, तो फिर जीव रागी, द्वेषी, मोही आदि होता है, इस प्रकार अन्य ग्रन्थों में इनको जीव स्वरूप क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥५१॥

अन्वयार्थ—(एदे सव्वे) ये सब **(अज्झवसाणादओ भावा)** अध्यवसानादिक भाव हैं **(जीवा)** वे जीव हैं ऐसा **(जिणवरेहिं)** जिनवरदेव के द्वारा **(उवएसो वण्णिदो)** उपदेश दिया गया है, वह **(ववहारस्स दरीसणं)** व्यवहारनय का दर्शाने वाला (मत) है।

अर्थ—ये सब रागादि अध्यवसानमयी भाव जीव रूप हैं, ऐसा जिनवर भगवान् ने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहारनय का मत है।

जो राग रोष मय भाव तुझे दिखाते,
वे जीव मात्र व्यवहारतया कहाते।
ऐसा सदा कह रही यह जैनवाणी,
पी ले तृषा झट बुझा अति शीत पानी ॥५१॥

व्याख्या—सभी अध्यवसानादि भाव परिणाम भी जीव हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहारनय का आलम्बन लेकर कहा है। स्पष्टीकरण यह है कि यद्यपि व्यवहारनय बहिर्द्रव्य का आलम्बन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलम्बन से रहित, विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के आलम्बन सहित परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है, क्योंकि यदि व्यवहारनय

को सर्वथा भुला दिया जाये तो फिर शुद्ध निश्चयनय से तो त्रस-स्थावर जीव हैं ही नहीं, अतः फिर लोग निःशंक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे। ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायेगा। दूसरी बात शुद्ध निश्चयनय से जीव रागादि से रहित पहले से ही है, अतः मुक्त ही है, ऐसा मानकर फिर मोक्ष प्राप्ति के लिए भी कोई अनुष्ठान क्यों करेगा ? ऐसी स्थिति में मोक्ष का ही अभाव हो जायेगा। अतः व्यवहारनय का कथन करना आवश्यक है।

मुनिराज चार हाथ नीचे देखकर चलते हैं, वे जीव को बचाते हुए चलते हैं। यदि नहीं बचाते तो प्रमाद के कारण हिंसा का दोष लगता है। मुक्त जीव तो दिखता नहीं, कर्म-नोकर्म सहित संसारी जीव दिखता है उसी को बचाकर चलने की आज्ञा होती है। यदि व्यवहारनय से कहे जाने वाले जीव को जीव नहीं माना जायेगा तो अहिंसा धर्म का पालन नहीं हो सकता। यदि मुनि अहिंसाधर्म का निर्दोष पालन नहीं करते तो तीन काल में शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मुनि यदि अपने द्वारा किये गये दोष को स्वीकार कर प्रायश्चित और पश्चाताप कर लेते हैं तो वे आगे मोक्षमार्ग में उन्नति की ओर बढ़ सकते हैं। आगे का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अध्यवसान भाव के द्वारा ही दोष उत्पन्न होते हैं। संसार अवस्था में रहने वाले त्रस जीव ही चलते-फिरते दिखते हैं, स्थावर जीव चलते-फिरते नहीं दिखते फिर भी व्यवहारनय से उन्हें जीव स्वीकार किया गया है। व्यवहारनय के माध्यम से ही जीव की पहचान होती है। बाह्य द्रव्य के आलम्बन बिना अध्यवसान भाव नहीं होते अतः बाह्य आलम्बन से व्यवहारनय प्रवृत्त होता है। इसलिए उसे अभूतार्थ कहा गया है। १४ वें गुणस्थान तक सारे के सारे व्यवहार के विषय दूसरे के सम्बन्ध से होने के कारण अभूतार्थ कहे जाते हैं।

यदि मुनिराज हमेशा एकान्त से निश्चयनय का आलम्बन लेकर चलेंगे तो वे प्रवृत्ति के समय त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा नहीं कर सकेंगे। वे निःशंक होकर उनका मर्दन करते हुए चलने लगेंगे। फिर पुण्यरूप धर्म का अभाव हो जायेगा। यदि शुभभाव को धर्म नहीं माना जायेगा, तो २८ मूलगुणों का पालन ही नहीं हो पायेगा। उसके पालन में यदि धर्म नहीं माना जायेगा, तो पानी छानना आदि जड़ की क्रिया समझ कर लोग पानी छानने में धर्म नहीं मानेंगे, पानी छानने में प्रमाद करेंगे। पानी भी जड़ हो जायेगा, छन्ना तो जड़ है ही, ऐसा कथन करने से पानी छानने का ही अभाव हो जायेगा।

शुद्धनय से जीव रागद्वेषादि से रहित है ऐसा मानने पर तो फिर पहले से जीव मुक्त-सिद्ध हो जायेगा। फिर मोक्षमार्ग अपनाओ ऐसा कैसे कह सकेंगे। मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करो, तत्त्वार्थ पर श्रद्धान करो, रत्नत्रय धारण करो ऐसा भी कहना कैसे बन सकेगा ? परिणामस्वरूप मोक्षमार्ग का अभाव होने पर मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए व्यवहारनय का कथन उचित है, समकित है। यहाँ इस गाथा का यही अभिप्राय है।

जैनाचार्यों ने जब कभी भी नयों का कथन किया है वह मुख्य-गौण रूप से ही किया है। व्यवहारनय मुख्य होता है, तो निश्चयनय गौण होता है और निश्चयनय मुख्य होता है तो व्यवहारनय

गौण हो जाता है। यदि हमेशा-हमेशा के लिए व्यवहारनय गौण हो जायेगा तो एकान्त हो जायेगा। दो में से एक का महत्त्व नहीं किन्तु दोनों का महत्त्व है। व्यवहार को मिथ्या रूप स्वीकार करना गलत है। व्यवहार और निश्चय दोनों में आपस में मैत्री रहती है। क्रिया, ज्ञान और श्रद्धा इनमें भी मैत्री रहती है। तीनों में से एक को मानने पर एकान्त हो जाता है। निश्चय व्यवहार दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। आचार्य कहते हैं कि बड़े-बड़े दोषों से बचना चाहते हो तो व्यवहारनय का अच्छे ढंग से व्याख्यान एवं उसका अनुपालन करना चाहिए।

उत्थानिका—जबकि व्यवहारनय का उपदेश आवश्यक है तो वह कैसे प्रवृत्त होता है, उसे दृष्टान्त द्वारा बताते हैं–

राया दु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥५२॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥५३॥

अन्वयार्थ—(राया हु णिग्गदो) यह राजा निकला **(त्तिय एसो)** इस प्रकार जो यह **(बलसमुदयस्स)** सेना के समुदाय को **(आदेसो)** कहा जाता है **(ववहारेण दु उच्चदि)** वह व्यवहार से कहा जाता है कि **(तत्थ)** उस सेना में वास्तव में **(एको)** एक **(राया णिग्गदो)** राजा ही निकला है।

(एमेव य) और इसी प्रकार **(अज्झवसाणादि अण्णभावाणं)** इन राग-द्वेष रूप अध्यवसानादि अन्य भावों को **(सुत्ते)** परमागम में **(जीवो त्ति)** ये जीव हैं ऐसा **(ववहारो कदो)** व्यवहारनय से कहा है **(तत्थ णिच्छिदो)** वहाँ निश्चय से (विचारा जाय तो उन भावों में) **(एको जीवो)** एक जीव है।

अर्थ—राजा जब कहीं जाता है तो अपने किंकरों (सेना) को साथ लेकर जाता है, वहाँ उस सारे समुदाय को ही ''यह राजा जा रहा है'' इस प्रकार व्यवहार से कहा जाता है। वैसे ही रागद्वेषादि अध्यवसान भाव जो अन्य पुद्गलादि द्वारा उत्पन्न हुए हैं, अतएव कथंचित् जीव से भिन्न भावों सहित जीव को ही व्यवहारनय से आगम में जीव कहा गया है।

है जा रही रभस से चतुरंग सेना,
भूपाल है चल रहा पर मान लेना।
ऐसा सहर्ष व्यवहार स्वगीत गाता,
राजा यथार्थ वह यद्यपि एक जाता ॥५२॥

संयोगजन्य रति-राग विभाव भावों,
को जीव मान चलती व्यवहारता वो।
पूछो यथार्थ जिन आगम से अकेला,
है जीव, बाह्य सब खेल झमेल मेला ॥५३॥

व्याख्या—जब राजा के साथ सेना निकलती है तो कहते हैं–देखो!, राजा निकल पड़े। इस कथन में राजा मुख्य है, सेना गौण। सेना नहीं रहे तो राजा, राजा नहीं कहलाता। राजा और सेना दोनों में गठबन्ध होता है। प्रजा तभी कहलाती है जब राजा होता है और राजा तभी होता है जब प्रजा उसे मान्यता देती है। दूसरी दृष्टि से हम देखें तो ऐसा भी कह सकते हैं कि भगवान् तभी कहलायेंगे जब भक्त होते हैं। भक्त भगवान् की भक्ति करके उन्हें पहचान लेता है। भगवान् नहीं तो भक्त नहीं और भक्त नहीं तो भगवान् भी नहीं। भगवान् आत्मज्ञ भी होते हैं सर्वज्ञ भी होते हैं। निश्चयनय से भगवान् आत्मज्ञ हैं, किन्तु व्यवहारनय से भगवान् सर्वज्ञ हैं। जो भगवान् को व्यवहार से नहीं पहचानेगा वह निश्चयनय से भी नहीं पहचान पायेगा। निश्चय से अपना आत्मा भी भगवान् जैसा है। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं ऐसा **द्रव्यसंग्रह** ग्रन्थ में कहा ही है। भगवान् शुद्ध हैं, हम शुद्ध हैं, यह भेदपरक कथन है, अतः व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय से भगवान् को पहचान पा रहे हैं। यदि भगवान् मात्र निश्चयनय के विषय होते तो हम भगवान् की पहचान नहीं कर पाते। व्यवहारनय की सही पहचान भी बहुत कठिन है तो निश्चय की पहचान तो बहुत दूर की बात है।

विशेष चिन्तन—एक बात मैं कहूँ जो मैंने स्वयं अपनी आँखों से पढ़ी है कि–निश्चयनय से भगवान् अनायतन हैं। यह पढ़ा तो ऐसा लगा कि आज निश्चयनय का कितना दुरुपयोग हो रहा है। निश्चयनय से जब सभी जीव शुद्ध होते हैं तो भगवान् अशुद्ध (अनायतन) कैसे हो सकते हैं ? यह कौन सा नय है ? मुझे तो बड़ा विचित्र लगा। इसलिए स्वाध्याय करते हुए भी स्वाध्याय की समीचीन उपासना पहले कर लेना चाहिए। वह लिखी हुई पुस्तक मैंने देखी है। हमारी दृष्टि अशुद्ध हो सकती है, लेकिन भगवान् तो शुद्ध थे, हैं और रहेंगे। अशुद्धनय से आपकी दृष्टि अनायतन हो सकती है, लेकिन भगवान् को अनायतन कह देना तो अपने को भगवान् से बढ़कर मानना है। ऐसे लेख जिनमें लिखे हैं उन्हें कैसे कहें कि यह शास्त्र है। आचार्यों ने कहीं पर भी अनायतन का विश्लेषण करते हुए भगवान् को अनायतन नहीं कहा। **अट्ठारहदोसवज्जिये देवे** जो अठारह दोषों से रहित होंगे, वे ही अपने आप में भगवान् होते हैं। उन्हें अनायतन कैसे कहा जा सकता है ? जो ऐसा कथन करता है वह आगम विरुद्ध है। मैं कहना नहीं चाहता लेकिन कहना आवश्यक हो गया इसलिए कहना पड़ रहा है। आयतन-अनायतन का भेद निश्चयनय से नहीं होता, ऐसा वे कहते हैं। उन्हें स्वयं अपने विचार पर विचार करना चाहिए कि जब निश्चयनय आयतन-अनायतन का भेद ही नहीं करता तो भगवान् को निश्चयनय से अनायतन रूप कैसे कह रहे हैं ? हाँ, ठीक है कि निश्चयनय से भगवान् आयतन नहीं

हैं तो अनायतन भी नहीं हैं। भगवान् निश्चय से न सही लेकिन व्यवहार से तो आयतन स्वरूप ही हैं। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** कहा है। फिर आप भगवान् को कौन सी दृष्टि से देख रहे हैं ? आप उन्हें देखकर क्या सोचते हैं ? भगवान् में जो अनन्त चतुष्टय प्रकट हो गया है वह **काले कल्पशतेऽपि च न विक्रिया** कल्पकाल बीत जाने पर भी विक्रिया को प्राप्त नहीं हो सकता फिर वे अनायतन कैसे हो सकते हैं ? आपकी दृष्टि अनायतन हो तो भी भगवान् को अनायतन कहना गलत है और आपकी दृष्टि में आयतन आने के बाद भगवान् को अनायतन कहना एक बहुत बड़ी भूल है। इसमें यदि सुधार नहीं हुआ तो वक्ता का स्वयं का कल्याण तो होगा ही नहीं किन्तु सुनने वालों का भी कल्याण होने वाला नहीं है।

इस प्रकार अठारह दोषों से रहित भगवान् को अनायतन कहना, यह कहाँ से, कैसे लिखने का उन्होंने साहस किया है, क्या पता ? इससे ऐसा लगता है कि हम कहाँ से कैसे कथन प्रारम्भ करें ?

जिस प्रकार राजा के साथ सेना चलते हुए भी राजा का वर्णन किया जाता है उसी प्रकार सभी अध्यवसान भावों को जीव है, ऐसा कहा जाता है। गुणस्थान-मार्गणास्थान का वर्णन सब व्यवहारनय का कथन है। आगमग्रन्थों में जीव सिद्धान्त का वर्णन किया जाता है। सिद्धान्त अर्थात् सिद्धों का अन्त में वर्णन किया जाता है। अध्यात्म में जहाँ कहीं से विकल्प समाप्त होते हैं वहीं से सिद्धान्त प्रारम्भ हो जाता है। आगम में सत्, संख्या आदि तथा निर्देश स्वामित्व आदि अनुयोगद्वारों की अपेक्षा कथन किया जाता है। अध्यात्म में निश्चय-व्यवहारनयों की अपेक्षा कथन किया जाता है। अध्यात्म की अपेक्षा जहाँ तक मार्ग है वहाँ तक व्यवहार है, निश्चय में मार्ग नहीं होता, लिंग नहीं होता। **लिंगो ण मोक्खमग्गो** कहा है। जो शरीराश्रित लिंग को ही महत्त्व देता है उसके लिए कहा है निश्चय से लिंग मात्र मोक्ष का मार्ग नहीं है। रत्नत्रय को अपनाओ। रत्नत्रय को मार्ग बनाओ। रत्नत्रय दो प्रकार का होता है-१. व्यवहार रत्नत्रय, २. निश्चय रत्नत्रय। अतः मार्ग भी दो प्रकार का होता है-१. व्यवहार मोक्षमार्ग, २. निश्चयमोक्षमार्ग। लेकिन यह ध्यान रखना कि कोई भी रत्नत्रय लिंग के बिना नहीं होता। अतः जितना रत्नत्रय का महत्त्व है उतना ही दिगम्बरत्व लिंग का भी महत्त्व है। जब तक बुद्धिपूर्वक पूर्ण परिग्रह का त्याग नहीं होता तब तक दिगम्बरत्व नहीं हो सकता और इसके अभाव में रत्नत्रय सम्भव नहीं है। हाँ, रत्नत्रयधारी मुनिराज के ऊपर कोई वस्त्रादि डाल दे तो उससे ध्यानस्थ (उपसर्ग) अवस्था के कारण लिंग में कोई दोष नहीं लगता, क्योंकि वस्त्र को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। सामान्य से वस्त्र त्याग के बिना रत्नत्रय सम्भव नहीं। प्रारम्भ में शुभ भावात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग ही होता है। इसे यदि अध्यवसान मानेंगे तो संवर का मार्ग ही समाप्त हो जायेगा। मोक्षमार्ग का ही अभाव हो जायेगा, क्योंकि व्यवहारमोक्षमार्ग के बिना निश्चयमोक्षमार्ग नहीं होता।

व्यवहार की भूमिका को समझने का प्रयास करें तभी धर्म संभव है। निश्चय-व्यवहार दोनों में मैत्री बिना धर्म सम्भव नहीं है। गुप्ति के क्षण बहुत कम होते हैं, समित्यात्मक क्षण दुगुने (अधिक)

होते हैं। प्रवृत्ति होते हुए भी ६ वाँ, ७ वाँ गुणस्थान होता रहता है। सातवें गुणस्थान में रहते हुए भी हमेशा गुप्त्यात्मक ध्यानावस्था हो यह कोई जरूरी नहीं है।

सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने का नाम समिति है। प्रवृत्ति से हटकर ध्यान में लीन होने का नाम गुप्ति है। पाँच पापों की प्रवृत्ति से बचने का नाम भी गुप्ति है। अतः पाँचों पापों से बचने रूप गुप्तिकृत तथा सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति अर्थात् समितिकृत प्रमाद होता है। व्यवहारधर्म को समझे बिना यदि हम कथन करते हैं तो भोले-भाले लोगों पर करुणा न होकर विपरीत आरोप आ सकता है। जो व्यक्ति उपदेश देता है, तत्त्व का व्याख्यान करता है, उसे करुणावान होना चाहिए। पूर्वापर विवेक होना चाहिए। विवेक नहीं होने पर बहुत गड़बड़ हो जाता है।

द्रव्यकर्म में स्थिति, अनुभाग बन्ध रूप अध्यवसान होता है और आत्मा में रागद्वेषादि रूप अध्यवसान भाव होता है। राग की परिणति आत्मा के स्वरूप की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार और अशुद्ध निश्चयनय विभाव के साथ सम्बन्ध लिए हुए होते हैं। शुद्धनिश्चयनय के आधार पर विश्वास करने पर ही हम रागद्वेष से बच सकते हैं। इन्हें छोड़ने के लिए ही निश्चयनय का कथन किया जाता है। निश्चयनय का अवलम्बन लेकर कम से कम शुद्धत्व का स्वाद लेने का प्रयास करना चाहिए। हमें दुःख, पीड़ा आदि की अनुभूति होती है इसका मतलब है, हमने इसमें तादात्म्य मान रखा है।

पंचास्तिकाय में **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने कहा है-

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कं ता णाणं विंदंति ते जीवा॥

अर्थात् समस्त स्थावर कायिक जीवों में कर्मफल चेतना होती है, त्रसकायिक जीवों में कर्मचेतना सहित कर्मफल चेतना होती है और जो प्राणातिक्रान्त हैं ऐसे सिद्ध जीवों में मात्र ज्ञान चेतना होती है। स्थावरजीव स्थान से स्थानान्तर जाने रूप एवं प्रतिकार रूप क्रिया नहीं करते, इसलिए उनमें कर्मफल चेतना की मुख्यता है। त्रसजीव स्थान से स्थानान्तर एवं प्रतिकार रूप क्रिया करते हैं इसलिए उनमें कर्मचेतना की मुख्यता है। अमृतचन्द्रसूरि ने केवली भगवान् में भी ज्ञानचेतना स्वीकार की है, क्योंकि वहाँ ६ प्राणों से अतिक्रान्त अवस्था है मात्र चार प्राण होते हैं। वे संज्ञी-असंज्ञी के भेद से रहित होते हैं, मनोयोग से भी रहित होते हैं।

केवली भगवान् भी प्राणातिक्रान्त सिद्धत्व की अनुभूति नहीं कर सकते। सकल परमात्मा केवली भगवान् को ज्ञानशरीरी नहीं कहा। निकल परमात्मा सिद्ध जीव को ज्ञानशरीरी कहा है। **छहढाला** में कहा है-

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता।

अतः ज्ञान चेतना का स्वामी द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव वाला जीव ही होता है। इस प्रकार आगम में तीन प्रकार के जीवों में तीन प्रकार की चेतना का व्याख्यान किया

गया है।

रागादिक का आत्मा के साथ तात्कालिक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। इनके छूट जाने पर ज्ञानदर्शन स्वभाव रूप त्रैकालिक तादात्म्य प्रकट हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे-एक तो दूध में ऊपर से पानी डालना और दूसरा दूध में पहले से ही पानी मिला रहना। दूध में ऊपर से पानी डालना यह व्यवहारनय का विषय है और दूध में जो तद्रूप होकर जल रहता है वह अशुद्धनिश्चयनय का विषय है। इस नय की अपेक्षा दूध में ऊपर से पानी डालना यह विवक्षित नहीं है, किन्तु उसके विषय में अशुद्धनिश्चयनय से कहा जायेगा कि-

मिले अनादि यतन तै बिछुडै ज्यों पय अरु पानी। पुरुषार्थ करने पर अनादि से मिले दूध और पानी को पृथक् किया जा सकता है। जैसे-दूध को उबालने पर गाढ़ा हो जाता है चूँकि उसमें रहने वाला पानी सूख जाता है। उसी प्रकार जीव के साथ शरीर तथा रागादि रूप विकृति अनादि से है। उसे भी पुरुषार्थ के द्वारा पृथक् किया जा सकता है तभी आत्मतत्त्व की अनुभूति हो सकती है। अशुद्ध-निश्चयनय से जैसे दूध में पानी नहीं डाला है किन्तु उसमें पहले से ही मिला है। वैसे ही आत्मा में रागद्वेषादि भाव ऊपर से मिलाये हुए हों, ऐसा नहीं, किन्तु जीव तो अनादि से द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से सहित है। उसे रत्नत्रय की साधना द्वारा पृथक् किया जा सकता है।

इस प्रकार राजा के दृष्टान्त से मिलता हुआ यह व्यवहार है कि रागादि अध्यवसान भाव जीव से भिन्न हैं, उनको **जीवोत्ति कदो सुत्ते** यह रागादि भाव जीव हैं इस प्रकार परमागम में कहा गया है, किन्तु वहाँ पर जीव तो निश्चित रूप से एक ही है जो कि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाला है।

इस प्रकार व्यवहारनय के समर्थन रूप तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

इस प्रकार **अजीवाधिकार** में अशुद्धनिश्चयनय से देह-रागादि परद्रव्य हैं वे जीवस्वरूप नहीं होते। इस प्रकार के कथन की मुख्यता लिए हुए दस गाथाओं से यह पहला स्थल पूर्ण हुआ।

समुदायपातनिका—आगे यह बतलाते हुए कि वर्ण रसादि पुद्गल के स्वरूप से रहित और अनन्तज्ञानादि गुण स्वरूप जो शुद्ध जीव है, वही उपादेय है इस भावना की मुख्यता से १२ गाथाओं पर्यन्त व्याख्यान करते हैं उन बारह गाथाओं में से **अरसमरूव** ऐसी एक गाथा है जिसमें मुख्यता से यह बतलाया है कि परम सामायिक भावना में परिणत जो परमानन्दमय सुखरूप समरसी भाव उसमें परिणत रहने वाला शुद्ध जीव है वही उपादेय है। फिर अभ्यन्तर रागादि और वर्णादि ये सभी जीव के स्वरूप नहीं हैं, ऐसा जो एक गाथा से बताया था, उसी का विशेष वर्णन करने के लिए **जीवस्स णत्थि वण्णो** इत्यादि छह गाथा सूत्र हैं। इसके आगे रागादि और वर्णादि ऐसे दोनों भाव व्यवहारनय से जीव के हैं किन्तु शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, इस प्रकार परस्पर अपेक्षा लिए हुए दोनों नयों का व्याख्यान करने के लिए **ववहारेण दु** इत्यादि एकसूत्र है। उसके आगे इन रागादिकों का जीव के साथ जो दूध और जल के समान सम्बन्ध है वह व्यवहारनय से है, किन्तु निश्चयनय से नहीं, इस प्रकार

का समर्थन करते हुए **एदेहिं य संबंधो** इस प्रकार एक सूत्र है। उसके आगे उसी व्यवहारनय को दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से स्पष्ट करते हुए **पंथे मुस्संते** इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इस प्रकार द्वितीय स्थल की समुदाय पातनिका हुई।

विशेष भूमिका—आगे की गाथा **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** की प्रिय गाथा है। उनकी जितनी भी कृतियाँ हैं उनमें यह गाथा आई हैं। जैसे **समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय** आदि सभी में है। इतना ही नहीं **मूलाचार** में भी है। इसलिए **मूलाचार** को आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी का ग्रन्थ माना जाता है। यह गाथा बहुत अच्छी है। इसे सभी लोग याद कर लो, याद ही नहीं करना किन्तु अपने को उस रूप अनुभव करो तो बहुत शान्ति तथा दृढ़ता प्राप्त होती है।

उत्थानिका—इस गाथा में निषेध व विधान रूप से आत्मा की पहचान करायी गयी है। अब यदि निश्चय से जीव रागादि रूप नहीं है तो फिर उपादेय स्वरूप शुद्ध जीव कैसा है सो बतलाते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥५४॥

अन्वयार्थ— हे भव्य! तू **(जीवं)** जीव को **(अरसं)** रस रहित **(अरूवं)** रूप रहित **(अगंधं)** गन्ध रहित **(अव्वत्तं)** अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर रहित, **(चेदणा गुणं)** चेतना जिसका गुण है ऐसा **(असद्दं)** शब्द रहित **(अलिंगग्गहणं)** किसी चिह्न से ग्रहण न होने वाला **(अणिद्दिट्ठसंठाणं)** जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा **(जाण)** जान।

अर्थ—शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिसमें न रस है, न रूप है, न गन्ध है और न इन्द्रियों के गोचर ही है। वह तो अव्यक्त (सूक्ष्म) केवल चेतना गुण वाला है। शब्द रूप भी नहीं है, जिसका किसी भी चिह्न के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता और जिसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है।

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
आकार से रहित है सुख का पिटारा ॥५४॥

व्याख्या—निश्चय नय से आत्मा रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित है और मनोगत काम-क्रोधादि के विकल्पों के विषय से रहित होने के कारण अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है। संसारी प्राणी रस, रूप, गन्ध आदि को अपना मानता है। इसलिए वह अरस, अरूपी आत्मा को पहचान नहीं पाता। आत्मा अव्यक्त (सूक्ष्म) है इसलिए **निरुपभोगमन्त्यम्** अन्तिम शरीर के समान उपभोग से रहित है अर्थात् वह पंचेन्द्रिय द्वारा पकड़ में नहीं आता। अशब्द है अर्थात् सुनने में नहीं आता। **अलिंग** अर्थात् किसी लिंग के द्वारा, साधन के द्वारा ग्रहण में नहीं आता। अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है अर्थात् आकार प्रकार से रहित है। **णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।** यह आप लोगों को समझाने

के लिए कहा गया है वस्तुतः उसका अपना कोई आकार नहीं है। सिद्ध परमेष्ठी की पहचान के लिए पोल रूप आकार बना देते हैं, वस्तुतः हम उसे कोई आकार-प्रकार नहीं दे सकते। आचार्यों ने कहा है कि–आत्मप्रदेशों का कोई आकार नहीं होता, क्योंकि वह संस्थान से रहित होता है। आकार पर-सापेक्ष (पुद्गल सापेक्ष) होता है जबकि आत्मा का आकार पर-सापेक्ष नहीं होता।

दृष्टान्त–जैसे सफेद कागज पर सफेद फूल दिखाओ, ऐसा कोई कहे तो क्या करोगे ? आप कहोगे, चारों तरफ नीली स्याही से लाइन बनाकर गुलाब के फूल का आकार दे देंगे। वस्तुतः आपने गुलाब का आकार नीले रंग से दिया है। आप सफेद कागज पर सफेद गुलाब के फूल का आकार नहीं दे सकते। इसी प्रकार सिद्ध भगवान् की आत्मा वास्तव में संस्थान या आकार से रहित है क्योंकि जितने भी संस्थान हैं वे नामकर्मोदय सापेक्ष होते हैं। सिद्ध भगवान् के नामकर्म नहीं है, अतः उनके कर्म सापेक्ष आकार तो नहीं होता। फिर भी **किंचूणा चरमदेहदो** कहा है अर्थात् चरम शरीर का आकार जो उन्हें नामकर्म के उदय से प्राप्त था उसी आकार में (कुछ कम) उनके आत्मप्रदेश सिद्धावस्था में रहते हैं। चरम देह की अपेक्षा उनका आकार कहा है, वस्तुतः उनके चरम देह तो नहीं है। यह कथन पर-सापेक्ष ही है। वास्तव में तो शुद्ध जीव अनिर्दिष्ट संस्थान वाला होता है। गुलाब के फूल के समान लाइन रूप पोल रूप सिद्ध भगवान् का आकार बनाते हैं।

आत्मा चेतना गुण रूप है। यह विधिपरक गुण है। इसका अर्थ है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से युक्त है। आकाश द्रव्य अमूर्तिक है वैसे ही सिद्ध परमेष्ठी भी अमूर्तिक हैं। आत्मप्रदेश आकाश प्रदेश के समान अमूर्तिक तो हैं लेकिन चैतन्यमय हैं। धर्मद्रव्य भी अमूर्त है पर गतिहेतुत्व गुण से सहित है, चैतन्यमय नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी द्रव्य अमूर्तिक हैं उनमें व्यंजनपर्याय नहीं होती। लेकिन सिद्ध जीव अमूर्त हैं तो भी स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय से सहित होते हैं। अमूर्त निराकार द्रव्यों को समझाना टेड़ी खीर है।

दृष्टान्त–किसी भी कार्य को जब अत्यन्त कठिनाई से किया जाता है तो कहते हैं यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है। वैसे-खीर कभी टेढ़ी नहीं होती फिर भी यह कहावत बन गई। कोई अन्धा था उसे किसी ने कहा कि तुम दूध की खीर खाओ तो पुष्ट हो जाओगे। तो अन्धा कहता है कि दूध की खीर कैसी होती है ? सफेद होती है। फिर वह पूछता है कि–सफेद कैसी होती है ? बगुला जैसी होती है। वह पुनः पूछता है कि बगुला कैसा होता है ? बगुला हाथ जैसा होता है। अन्धे ने उसे स्पर्श करके देखा तो कहता है यह तो टेढ़ा है। अरे भैया! खीर तो बड़ी टेढ़ी है, वह पेट में कैसे जायेगी ? इसलिए हमें तो टेढ़ी खीर नहीं खाना है। यह तो समझाने की बात है। अन्धे को कैसे समझाए ? तो ऐसा बताया जाता है। अन्धे ने न सफेद रंग देखा, न बगुला देखा, न हाथ देखा फिर भी हाथ के स्पर्श से टेढ़ी खीर समझ में आई। इसी प्रकार हम भी जब सिद्ध बनेंगे तब निराकार का अनुभव होगा। गुणों की कल्पना द्रव्य के आधार के बिना नहीं की जा सकती। सिद्धत्व को अनुभव में लाना भी टेढ़ी खीर है। उस अन्धे ने धारणा बना

ली और कहावत चल गई कि यह तो टेढ़ी खीर है। जब कोई व्यक्ति उलझनों में उलझ जाता है और उसे सुलझाना अत्यन्त कठिन होता है तो उसे टेढ़ी खीर की उपमा दी जाती है। इतना ही पर्याप्त है।

द्रव्य की पहचान किससे ?

किसी भी द्रव्य को दो प्रकार से पहचाना जाता है–१. स्वभाव के द्वारा, २. लक्षण के द्वारा। जीव का स्वभाव स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है जबकि जीव का लक्षण उपयोगमय अर्थात् ज्ञान-दर्शनमय है। जीव का उपयोगमय अथवा चेतनामय लक्षण स्वभाव-विभाव दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है, किन्तु जीव का स्वभाव शुद्ध अवस्था में ही पाया जाता है। इसलिए सिद्धों को जो शुद्ध अवस्था में अनुभूति होती है वह हमें संसारावस्था में नहीं हो सकती। जीव का उपयोगमय लक्षण निगोद में त्रस-स्थावर रूप संसारी जीवों में, सिद्धों में सभी में पाया जाता है लेकिन स्वभाव शुद्ध अवस्था में ही पाया जाता है। अध्यवसानभाव, कषायभाव, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि भाव सभी विभाव हैं, यहाँ तक कि विशुद्धिस्थान भी जीव का स्वभाव नहीं है। इसलिए स्वभाव का कथन करने के लिए यह गाथा लिखी गई है। गाथा में कहा है कि–मैं रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, शब्द रहित, आत्मतत्त्व हूँ। यही जीव का स्वरूप है, जो अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है। उक्त गाथा में समस्त गुण निषेधात्मक हैं, मात्र एक चेतनागुण विधिपरक है।

हम चर्म नेत्रों से बाहर की काई भी वस्तु को देखते हैं तो उसमें रूप दिखता है, छूते हैं तो स्पर्श आता है, सूंघते हैं तो गन्ध आती है, चखते हैं तो स्वाद आता है, सुनते हैं तो शब्द सुनने में आते हैं। इन सभी में हम यदि जीव को ढूँढेंगे तो जीवत्व नहीं मिलेगा क्योंकि ये सभी जीव के स्वरूप नहीं हैं। जीव का स्वरूप तो निश्चय से अरस, अरूपी, अस्पर्शी है। फिर भी संसार अवस्था में इन्द्रिय सहित होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा स्पर्शादि को जानते हैं। लेकिन स्पर्शादि में जीव को नहीं ढूँढ़ सकते।

आप कल्पना कीजिए कि जीव कैसा होता है ? अरस, अरूपी की कल्पना करके हम जीव को पहचान नहीं सकते, क्योंकि इन्द्रियज्ञान अरस, अरूपी को विषय नहीं बना सकता। निश्चयनय से जीव के स्वरूप को किन्हीं चिह्न विशेष से नहीं पहचाना जा सकता किन्तु व्यवहारनय से छोटा-बड़ा, देव-नारकी, मनुष्य-तिर्यंच, एकेन्द्रिय आदि रूप से जीव को पहचाना जा सकता है। इतना तो अवश्य है कि इन्द्रिय, गति, छोटा, बड़ा ये जीव का स्वरूप नहीं है और इनमें जीव का स्वरूप नहीं है फिर भी इतना अवश्य है कि जीव के बिना जीव में गति, इन्द्रिय, छोटा, बड़ा आदि व्यवहार नहीं होता। जीव के बिना ध्वनि का निर्माण तो हो सकता है, पर शब्द का निर्माण नहीं हो सकता। पूरा लोकाकाश शब्द वर्गणाओं से, अन्य पुद्गल वर्गणाओं से भी ठसाठस भरा है किन्तु शब्द वर्गणायें शब्द रूप तभी परिणत होती है, जब जीव उस रूप परिणाम या वाक् प्रवृत्ति का प्रयोग करे, उसके बिना संभव नहीं।

सिद्ध भगवान् उपदेश क्यों नहीं दे सकते ?

सिद्ध भगवान् बनने के पूर्व उपदेश देने की प्रवृत्ति होती है किन्तु सिद्ध बनने के बाद वाक्

प्रणाली संभव नहीं होती। उनके पास जीवत्व तो है लेकिन वचन प्रणाली के कोई साधन नहीं हैं, जिससे वे शब्दवर्गणाओं का प्रयोग कर सकें। वचन प्रयोग का अभाव होने से वे अशब्द हैं, ऐसा कहा गया है। शब्द का उपादान वचन योग के बिना सम्भव नहीं है और वचनयोग को जीवत्व के बिना अन्य कोई रसायन, किसी मशीन आदि से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। हाँ, कैसिट्स आदि के माध्यम से शब्द को पकड़ सकते हैं, लेकिन उत्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि शब्द की उत्पत्ति में आत्मा का परिणाम कारण होता है। अतः निश्चय से आत्मा शब्दातीत होता है, रसातीत, स्पर्शातीत, गन्धातीत, रूपातीत होता है। उसका वर्तमान में उस रूप अनुभव नहीं किया जा सकता। सिद्ध परमेष्ठी के स्वभाव का श्रद्धान तो कर सकते हैं, लेकिन अनुभव नहीं कर सकते। सिद्ध भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास कैसे हो ?

दृष्टान्त—जैसे माइक में करण्ट है या नहीं, इसको आँखों से नहीं देखा जा सकता। शब्द सुनकर अनुमान लगा लेते हैं। माइक से शब्द सुनने पर यह अनुमान किया जाता है कि इस माइक में करण्ट है। उसी प्रकार वर्तमान में जो हमारा संवेदन हो रहा है वह स्वभाव का संवेदन नहीं हो रहा है किन्तु चैतन्यमय जीवित चेष्टाओं को देखकर या शरीर को क्रिया सहित या सचेष्ट देखकर अनुमान से जाना जाता है कि इस शरीर में आत्मा का अस्तित्व है। जब शरीर में आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास हो जाता है तो शरीर रहित भी आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धान हो सकता है।

मिले अनादि यतनतैं बिछुड़े ज्यों पय अरु पानी।

अर्थात् जैसे यत्न करने पर हम विधिवत् दूध और पानी को अलग-अलग कर सकते हैं। दूध और पानी दोनों की लक्षणों के आधार पर पहचान करके उन्हें अलग-अलग किया जा सकता है उसी प्रकार जीव और शरीर के पृथक्-पृथक् लक्षणों के आधार पर प्रयत्न पूर्वक दोनों को पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। नवनीत प्राप्ति के लिए जैसे दही का मन्थन किया जाता है। मन्थन करने पर नवनीत और पानी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार वैराग्य भावों से शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न किया जा सकता है। ज्ञानशक्ति और वैराग्य-शक्ति दोनों ही शक्तियों के प्रभाव से जीव और शरीर की पृथकता को समझकर उन्हें भिन्न-भिन्न किया जा सकता है। जैसे-दूध में घी का विश्वास करना और घी का स्वाद लेना दोनों में बहुत अन्तर होता है। वैसे ही शरीर में शुद्ध आत्मा का विश्वास करना और शुद्धात्मा का अनुभव करना दोनों में बहुत अन्तर होता है। क्रोधी व्यक्ति की क्रोध के लक्षणों के आधार पर पहचान तो कर सकते हैं लेकिन उसके स्वरूप को देख नहीं सकते। वह जीवात्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म एवं अव्यक्त है। नामकर्म के अभाव में सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होता है। जितने भी आकार-प्रकार संस्थान आदि हैं वे सभी नामकर्म के उदय से होते हैं। चूँकि शुद्धात्मा में नामकर्म का अभाव होता है इसलिए वह आकार-प्रकार संस्थान रहित होता है, अव्यक्त होता है, सूक्ष्म होता है।

दृष्टान्त—जब किसी का एक्स-रे किया जाता है तो उसमें नेगेटिव कॉपी सामने आती है।

किरणों के द्वारा एक्सरे होता है लेकिन जो चित्र सामने आता है उसमें किरणें दिखाई नहीं देतीं, फिर भी एक्सरे द्वारा नेगेटिव कॉपी देखकर किरणों का अनुमान करते हैं। चित्र तो दिख जाता है लेकिन किरणों का स्वरूप नहीं दिखता। चूँकि किरणों के बिना एक्सरे नहीं होता अतः चित्र में भले ही वे किरणें दिखाई न दें फिर भी अव्यक्त किरणों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। उसी प्रकार भले ही शरीर में आत्मतत्त्व दिखाई न दे लेकिन शरीर की चेष्टायें चूँकि आत्मा के बिना नहीं होती अतः शरीर की चेष्टाओं से अव्यक्त आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमान में बहुत अन्तर होता है। **आगमप्रामाण्यात् अथवा अनुमानप्रामाण्यात्** ऐसा कहा है। जैसे–धुँआ प्रत्यक्ष दिखने पर अग्नि का अनुमान किया जाता है। **साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्** साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। यहाँ धुँआ साधन है अग्नि साध्य है। धुये से अग्नि का ज्ञान होना अनुमानज्ञान है। उसी प्रकार शरीर की चेष्टायें, श्वासोच्छ्वास आदि की क्रिया से शरीर में जीवत्व का ज्ञान होना यह भी अनुमान का विषय है। आगम में तो स्पष्ट रूप से जीव द्रव्य को पृथक् रूप से कहा ही है अतः आगम से आत्मतत्त्व की सिद्धि स्पष्ट है ही।

वर्तमान में जिन साधनों से स्वरूप का संवेदन हो रहा है वे सभी विभाव परिणतियाँ हैं। स्वभाव संवेदन के लिए स्वभाव रूप साधन भी आवश्यक हैं। आगे जीव को **अलिंगग्गहणं** कहा है। निश्चय से जीव का कोई आकार-प्रकार न होने से उसका कोई लिंग नहीं होता, अतः उसे अलिंगग्रहण स्वरूप कहा है।

इस प्रकार शुद्ध जीव तत्त्व का स्वरूप, अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अशब्द रूप है साथ में लिंग रहित है, **चेदणा** अर्थात् चेतना गुण सहित है। यही शुद्धात्मतत्त्व उपादेय है। इसी को जानने, समझने का प्रयास करो। ''आदातुं योग्यं उपादेयं'' अर्थात् जो ग्रहण करने योग्य है वह उपादेय है अथवा जिसे हमें प्राप्त करना है उसे उपादेय कहते हैं। ''ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं'' जो जानने योग्य है वह ज्ञेय है। तथा ''हातुं योग्यं हेयं'' जो छोड़ने योग्य है वह हेय है। शुद्ध दर्शन-ज्ञान मय शुद्धात्मा उपादेय है, वही अपूर्व अनुपम है। यही प्राप्तव्य है और निर्विकल्प समाधि में ध्यातव्य है। जो व्यक्ति पंचेन्द्रिय के विषय सम्बन्धी विकल्प सहित होने पर भी अपने में निर्विकल्प समाधि का अनुभव माने उसके विषय में आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने आत्मानुशासन ग्रन्थ में कहा है–लगता है उसे सन्निपात का आवेश (प्रकोप) हो गया है जो सविकल्प अवस्था में अपने को निर्विकल्प समाधि वाला मान रहा है, क्योंकि अभी परिग्रह छोड़ा नहीं, विषय छूटे नहीं, इनको छोड़े बिना निर्विकल्प होना संभव नहीं।

आज आप वर्तमान में मन के माध्यम से आत्मा को देखना चाहें तो देख सकते हैं क्या ? नहीं, किन्तु मन जब शुद्धोपयोग की दशा को प्राप्त करता है तब मानस प्रत्यक्ष द्वारा आत्मसंवेदन या स्वसंवेदन कर सकता है। यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष ही होता है क्योंकि यह क्षायोपशमिक होता है। पंचेन्द्रियों से जो अनुभूति होती है उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। वह भी

परोक्ष ही है। मानसप्रत्यक्ष भी केवलज्ञान और शुद्धोपयोग की अपेक्षा पूर्णतया परोक्ष ही है। शुद्धोपयोग भी केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है। इसलिए केवलज्ञान और शुद्धोपयोग में परिणत जीव की अवस्था भिन्न-भिन्न होती है। एक प्रत्यक्ष है तो दूसरी परोक्ष। एक क्षायिक है तो दूसरी क्षायोपशमिक। दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। केवलज्ञान के साथ जो अनन्तचतुष्टय का अनुभव होता है वह शुद्धोपयोग के साथ कभी नहीं हो सकता। मार्ग में मंजिल का अनुभव कैसे हो सकता है ? शुद्धोपयोग ध्यानमय है, केवलज्ञान ध्यान के फल रूप है। शुद्धोपयोग कारण है केवलज्ञान कार्य है। केवलज्ञानी के एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान नहीं होता किन्तु ध्यान के फलस्वरूप कर्म की निर्जरा एवं संवर होता है इसलिए उपचार से ध्यान कहा गया है। गिरि, गुफा, गह्वर में एयरकण्डीशन नहीं होता। अतः शुद्धोपयोग या निर्विकल्पसमाधि के लिए इस प्रकार के एकान्त निर्जन स्थान साधनभूत होते हैं। अतः ऐसे स्थानों में शुद्धात्म तत्त्व का ध्यान लगाना चाहिए।

श्रद्धान और ध्यान—श्रद्धान और ध्यान में बहुत अन्तर है। श्रद्धान परोक्ष तत्त्व का होता है। श्रद्धान एकाग्रचिन्तानिरोध रूप उपयोग वाला नहीं होता, जबकि ध्यान उपयोग की एकाग्रचिन्तानिरोध रूप अवस्था वाला होता है। यदि श्रद्धान को ही ध्यान कह दिया जाए तो चतुर्थगुणस्थान में भी एकाग्रचिन्तानिरोध रूप शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा। श्रद्धान अपर्याप्तक अवस्था में भी होता है जबकि शुद्धोपयोगात्मक ध्यान तो साधक की पर्याप्त परिपक्वावस्था में होता है। यदि ध्यान को अपर्याप्तक अवस्था में मानेंगे तो नरक में भी थोड़ा-थोड़ा शुद्धोपयोग रूप ध्यान मानना पड़ेगा। केवलज्ञान किरण रूप में प्रकट नहीं होता किन्तु वह तो पूर्णतया केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय होने पर सूर्यपुंज रूप प्रकट होता है।

वर्णादि जीव का स्वरूप नहीं है। ये सारे के सारे पुद्‌गल से सम्बन्ध रखने वाले हैं। वर्तमान में जब जीव का स्वरूप प्रकट नहीं है तो उसका अनुभव भी नहीं हो सकता। जैसे-दूध पीने पर दूध का अनुभव तो होगा परन्तु घी का नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि यदि श्रद्धान मजबूत हो तो दूध पीते हुए भी घी का अनुभव हो सकता है। लेकिन उन्हें भी इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जैसे किसी वैद्य से दूध में घी की अनुभूति की मान्यता वाले किसी रोगी से कहा कि तुम्हें घी के साथ औषधि लेना है तो फिर वह दूध में ही घी है ऐसा समझकर दूध के साथ ही ले लेता है। ऐसा वैद्य जी को जब पता चलता है तो वैद्य जी रोगी से कह देते हैं कि यदि ऐसा करना है तो कल से हमारे यहाँ नहीं आना। वह कहता है कि मैं सही तो कह रहा हूँ कि दूध में ही तो घी है, यदि दूध में घी नहीं होता तो दूध को जमाने की क्या आवश्यकता है ? यदि दूध में घी नहीं होता तो दही मन्थन से घी कैसे निकलता ? वैद्य जी कहते हैं कि यदि दूध में घी है तो यूँ ही हाथ से घी निकाल लो, किन्तु ऐसा नहीं होता। दूध में घी का श्रद्धान होना अलग है और दूध में से विधिवत् घी निकालकर घी का साक्षात् दर्शन होना अलग है। यदि दूध में घी का श्रद्धान है तो वह घी के त्याग होने पर दूध का सेवन करेगा या नहीं ? यदि नहीं

तो फिर वह दूध, दही, मट्ठा, छैना, रबड़ी, मावा आदि कुछ भी नहीं ले सकेगा क्योंकि सभी में घी का अस्तित्व है। ऐसा कोई भी रसायन नहीं है कि बिना गोरस के दही बन जाए। दूध, दही आदि सभी गोरस की पर्यायें हैं लेकिन एक द्रव्य में एक समय में एक ही पर्याय होती है। तात्पर्य यह है कि जीव में जब रागादि परिणति है तब शुद्ध जीव का अनुभव नहीं हो सकता। सिंथेटिक दूध के बारे में बताते हैं कि वह फटता नहीं है, उससे घी नहीं बनता, छाछ नहीं बनती इत्यादि। पंचमकाल में कुछ अनहोनी बातें ऐसी होती हैं जो उदाहरण के लिए नहीं मिल पायेंगी।

इस प्रकार अरस, अरूप, अगन्ध, चेतनागुण आदि से सहित जीव को हे शिष्य ! तुम शुद्ध जीव समझो और उसे ही उपादेय रूप से स्वीकार करो। इस प्रकार उक्त सूत्र गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बाह्य में शरीर के वर्णादि और अभ्यन्तर में रागादि विभावभाव जो पुद्‌गल के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं, शुद्धनिश्चयनय से वे जीव स्वरूप नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५५॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५७॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥

अन्वयार्थ–(जीवस्स) जीव के **(वण्णो णत्थि)** वर्ण नहीं **(णवि गंधो)** गंध भी नहीं **(णवि रसो)** रस भी नहीं **(य)** और **(णवि फासो)** स्पर्श भी नहीं **(णवि रूवं)** रूप भी नहीं **(ण सरीरं)** शरीर नहीं **(णवि संठाणं)** संस्थान भी नहीं और **(ण संहणणं)** संहनन भी नहीं है।

(जीवस्स) जीव के **(रागो णत्थि)** राग नहीं है **(णवि दोसो)** दोष भी नहीं है **(मोहो)** मोह **(णेव विज्जदे)** विद्यमान नहीं **(णो पच्चया)** प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं है **(ण कम्मं)** कर्म नहीं **(चावि णोकम्मं)** और नोकर्म भी **(से णत्थि)** उस जीव के नहीं हैं।

(जीवस्स) जीव के **(वग्गो णत्थि)** वर्ग नहीं **(ण वग्गणा)** वर्गणा नहीं **(केई फड्ढया णेव)** कोई स्पर्धक भी नहीं **(णो अज्झप्पट्ठाणा)** अध्यात्मस्थान भी नहीं **(य)** और **(णेव अणुभाय-ठाणाणि)** अनुभागस्थान भी नहीं हैं।

(जीवस्स) जीव के **(केई जोयट्ठाणा णत्थि)** कोई योगस्थान भी नहीं है **(वा)** अथवा **(बंधठाणा ण)** बंध स्थान भी नहीं **(य)** और **(उदयट्ठाणा णेव)** उदयस्थान भी नहीं **(केई मग्गणट्ठाणया ण)** कोई मार्गणा स्थान भी नहीं है।

(जीवस्स) जीव के **(णो ठिदिबंधट्ठाणा)** स्थितिबंधस्थान भी नहीं **(वा)** अथवा **(ण संकिलेसठाणा)** संक्लेशस्थान भी नहीं है **(विसोहिट्ठाणा णेव)** विशुद्धिस्थान भी नहीं है **(वा)** अथवा **(संजमलद्धिठाणा)** संयमलब्धिस्थान भी **(णो)** नहीं हैं।

(य जीवस्स) और जीव के **(णेव जीवट्ठाणा)** जीवस्थान भी नहीं हैं **(य गुणट्ठाणा ण अत्थि)** गुणस्थान भी नहीं हैं। **(जेण दु)** क्योंकि **(एदे सव्वे)** ये सब **(पुग्गलदव्वस्स)** पुद्‌गलद्रव्य के **(परिणामा)** परिणाम हैं।

अर्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और रूप तथा संस्थान और संहनन ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय तथा कर्म, नोकर्म ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभाग ये भी जीव के स्वभाव नहीं हैं। कोई भी योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान और मार्गणास्थान ये सब जीव के स्वभाव नहीं हैं। स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान तथा जीवस्थान और गुणस्थान ये सब भी जीव के स्वभाव नहीं हैं किन्तु ये सब ही पुद्‌गल द्रव्य के संयोग से होने वाले परिणाम हैं ॥५५-६०॥

लो जीव के सरस गन्ध नहीं नहीं हैं,
ये स्पर्श वर्ण गुण रूप सभी नहीं हैं।
संस्थान, संहनन सुन्दर है न काया,
आलोक धाम जिसमें तम है न छाया ॥५५॥
ये जीव के न रति राग यथार्थ में हैं,
ना मोह विभ्रम विभाव पदार्थ में हैं।
नोकर्म, कर्म अघ प्रत्यय भी नहीं हैं,
वन्दूँ इसे बस यही शिव की मही है ॥५६॥
है जीव की न विधि वर्ग न वर्गणाएँ,
ना तीव्र मन्द विधि स्पर्धक की कलाएँ।
अध्यात्म और अनुभाग न थान हीन,
वन्दूँ उसे रह सकूँ निज में विलीन ॥५७॥

ये योग थान नहिं आतम में दिखाते,
और बन्ध थान तक थान जहाँ न पाते।
होते नहीं उदयस्थान न मार्गणायें,
शुद्धात्म को हम अतः शिर तो नवायें ॥५८॥
संक्लेश थान स्थिति बन्धन थान दो वे,
ना जीव के नहिं सुसंयम लब्धि हों वे।
ये शुद्धि थान तक आतम के नहीं हैं,
मैं भी इसे विनत हूँ नत वे गणी हैं ॥५९॥
ये जीव थान गुणथान, न जीव के हैं,
ये चूँकि सर्व जड़ रूप अजीव के हैं।
चैतन्य धाम जड़ से अति भिन्न न्यारा,
आराध्य जीव वह है मम है सहारा ॥६०॥

व्याख्या—निश्चयनय से जीव में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से लेकर जीवस्थान, गुणस्थान तक के कोई भी भाव स्वभाव रूप नहीं हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्य के निमित्त से होने वाले परिणाम हैं एवं शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले हैं। उक्त सभी भाव जीव के क्यों नहीं हैं, इसके लिए एक ही पंक्ति में सारभूत हेतु दिया गया है कि **जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा** अर्थात् उक्त सभी भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं। उक्त कथन को अत्यन्त ध्यानपूर्वक समझने की आवश्यकता है। स्पर्श, वर्णादि पुद्गलमय परिणाम हैं, यह तो स्पष्ट है, लेकिन संयमलब्धिस्थान, विशुद्धिस्थान, गुणस्थान आदि जीव के नहीं हैं इसे विशेष विवक्षा से समझाया गया है। चूँकि ये शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले हैं, इसलिए शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं। जब-जब यह श्रद्धान मजबूत बनाते हैं तब-तब श्रद्धानभूत शुद्ध तत्त्व सामने आ जाता है। इसके फलस्वरूप वर्णादि में, शरीरादि में राग कम होता चला जाता है। स्वरूप का ज्ञान होने से विभाव परिणति कम होना स्वाभाविक है ही। यदि रागद्वेषादि विभाव परिणाम कम नहीं होते तो स्वरूप ज्ञान का क्या प्रयोजन ? स्वरूप ज्ञान के साथ हम उपयोग की परिणति जितनी सूक्ष्म बनाना चाहें, बना सकते हैं। यह इसका सूक्ष्मतया वर्णन है। यह कितना सूक्ष्म विषय हो गया कि अपने उपयोग की परिणति में जो ध्यान, लब्धिस्थान, विशुद्धिस्थान आदि हैं वे भी जीव के स्वभाव रूप नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि औदयिकभाव जीव का स्वरूप नहीं है, औदयिक भावयुक्त जीव को जीव के स्वभाव रूप स्वीकार करने की जो हमारी धारणायें एवं कल्पनायें हैं वे पौद्गलिक हैं। यदि जीव को औदयिक भाव के साथ अनुभूत करना चाहेंगे तो आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् कहते हैं कि जब जीव में उदयस्थान ही नहीं हैं तो उसके साथ जीव की अनुभूति कैसे सम्भव हो सकती है ? उदयस्थान के

साथ आप जीव की कल्पना अवश्य कर सकते हैं और यह श्रद्धान भी कर सकते हैं कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। शुद्धतत्त्व का भी वर्तमान में श्रद्धान किया जा सकता है, लेकिन वर्तमान में उसकी अनुभूति नहीं कर सकते। वर्तमान में उसकी अनुभूति स्वप्निल है, शुद्ध ज्ञानतत्त्व की अनुभूति वर्तमान में स्वप्न के समान है।

दृष्टान्त—जैसे कहते हैं कि—**सपने में राजपद पायो** एक भिखारी सपने में राजा बन गया। हुआ यह कि—भिखारी भीख माँगने निकला। भीख माँगते-माँगते थकान महसूस हुई। अतः वह सो गया और स्वप्न लोक में उतर आया। देखते-देखते वह राजा बन गया, सेठ-साहूकार बन गया। बच्चे भोजन के लिए बुलाने आ गये। उसने मनाकर दिया, तो बच्चे जिद करने लगे, उसे गुस्सा आ गया और एक लात मारी तो पास में रखा मटका फूट गया। मटका फूटने की आवाज से उसकी नींद खुल गई। वह एकदम से उठकर बैठ गया। देखकर कहता है—अरे ! यह क्या हुआ ? कहाँ गया राजदरबार, कहाँ गये बच्चे, कहाँ गई रसोई ? और कहाँ गया भोजन का बुलावा ? यहाँ तो कुछ नहीं है। यहाँ तो मटकी भी फूटी पड़ी है। मैं क्या देख रहा था ? मैं तो राजगद्दी पर बैठा था। क्या यह सब कल्पना मात्र थी ? क्या ये सभी कल्पना के लड्डू थे ? उसे समझ में आ गया यह तो स्वप्न था। मैं स्वप्न का राजा था। उसे यह भी समझ में आ गया कि—

दिन का हो या रात का, सपना सपना होय।
सपना अपना सा लगे, किन्तु न अपना होय॥

(सर्वोदय शतक)

रात्रि के स्वप्न की अनुभूति यदि जागने पर होने लग जाये तो फिर क्या कहना ? उसी प्रकार श्रद्धान की अवस्था में यदि लक्ष्यभूत तत्त्व की अनुभूति हो जाये तो श्रद्धान के अतिरिक्त ज्ञान एवं अनुभूति अर्थात् ध्यान एवं तप, चारित्र आदि की साधना अनिवार्य नहीं होती। गलत श्रद्धान के कारण जीव की विपरीत दशा होती है। आत्मतत्त्व (शुद्धात्मा) की अनुभूति के लिए इन्द्रियातीत होना आवश्यक होता है। नीचे के गुणस्थानों में सर्वघाति का उदय होने से वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता।

दृष्टान्त—सुदर्शन सेठ अष्टमी-चतुर्दशी को श्मशान में तप करने जाता था। वस्त्र त्यागकर मुनिवत् ही रहता था, लेकिन उसे मुनि नहीं कहा जाता था। मुनिवत् रहने से कोई मुनि नहीं हो जाता। मुनि के समान आगे के गुणस्थान भी नहीं होते। उन्होंने वहाँ आर्टिफिशियल ध्यान नहीं किया था, किन्तु वास्तव में श्रावकों के लिए सामायिक एवं ध्यान साधना का एक आदर्श प्रस्तुत किया था। गृहस्थावस्था में भी **चेलोपसृष्टमुनिरिव** वस्त्र से उपसृष्ट मुनि के समान सामायिक अवस्था को स्वीकार किया है। वे बारह घण्टे का संकल्प लेकर रात्रि में वस्त्र त्यागकर सामायिक करते थे। सुबह होने पर वस्त्र ग्रहण करूँगा, यह संकल्प रहता था। यह साकांक्ष त्याग-तप कहलाता है। इससे स्पष्ट है कि उनका यह साकांक्ष त्याग अभ्यास के रूप में था। यदि २८ मूलगुण को संकल्प पूर्वक ग्रहण

करते, पाँच महाव्रतों का संकल्प लेते और फिर त्यागपूर्वक श्मशान में ध्यान या सामायिक करते तो वे सप्तम गुणस्थान को छू सकते थे।

पाँच महाव्रत एवं शेष मूलगुणों के संकल्प के बिना सप्तम गुणस्थान नहीं हो सकता, भले ही वह पूर्वकोटि वर्ष तक भी अभ्यास क्यों न करे। गृहस्थ चतुर्थ या पंचम गुणस्थान में साधना के रूप में उक्त अभ्यास कर सकता है। उस समय उसे मुनिवत् निर्विकल्प दशा का अनुभव नहीं हो सकता। निर्विकल्प दशा होने पर अन्य कोई दूसरे उपक्रम नहीं होते। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि **प्रत्याख्यानतनुत्वात् सत्त्वेन दुरवधारा** श्रावक के प्रत्याख्यान कषाय का इतना मन्द उदय हो सकता है जिसके सत्त्व का निर्धारण करना ही कठिन होता है। उस समय वह मुनिवत् सामायिक क्रिया का अभ्यास कर सकता है लेकिन मुनि नहीं कहला सकता। कषाय की इस मन्दतम उदय अवस्था में देशव्रती में महाव्रती की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु उसे छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती वास्तविक महाव्रती नहीं कह सकते।

दृष्टान्त—जैसे किसी के पास ९९ पैसे हैं, मात्र एक पैसे की कमी है, तो भी उसे एक रुपया नहीं कहा जा सकता। एक पायी मिलने पर ही वह रुपया वाला कहा जायेगा, अन्यथा ९९ पैसे वाला ही कहलायेगा। ९९ पैसे एक रुपया के करीब हैं, पर एक रुपया नहीं है। उसी प्रकार जो देशव्रती सातवें गुणस्थान के करीब है, वह पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती ही है, सप्तमगुणस्थानवर्ती महाव्रती नहीं। महाव्रतों के योग्य विशुद्धि एवं संयमलब्धिस्थान प्राप्त होने पर ही वह महाव्रती कहलायेगा। फिर भी कारण में कार्य का उपचार करके उत्कृष्ट देशव्रती में महाव्रतों की कल्पना की जा सकती है।

गृहस्थावस्था के सारे विकल्प समाप्त होने पर ही महाव्रत अंगीकार किये जा सकते हैं। प्रत्याख्यान का अत्यन्त मन्द उदय होने पर भी महाव्रतों का संकल्प स्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई घर में मुनिवत् चर्या का पालन करने लग जाये तो उसे मुनि कहते हैं क्या ? उसका अतिथिसंविभाग करेंगे क्या ? तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले के गृहस्थावस्था में भी आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त समस्त चर्या श्रावकवत् होती है तो उनको पाँचवें गुणस्थानवर्ती मान लें क्या ? नहीं, लेकिन इतना अवश्य है कि घर में भी तीर्थंकरों की बचपन से ही यद्वा-तद्वा चर्या नहीं होती, ऐसा प्रकरण बताने के लिए कहा जाता है। उसी प्रकार भोगभूमि में हिंसादि एवं व्यसनादि बुरी आदतें नहीं होतीं तो उन्हें पंचमगुणस्थानवर्ती मान लें क्या ? नहीं मानेंगे, क्योंकि वे व्रत-तप आदि के संकल्पी नहीं होते, किन्तु वे उच्छृंखल नहीं होते, दुराचार नहीं अपनाते, वे सम्यक् अविरति होते हैं। अन्तर्द्वीपज भोगभूमिज मनुष्य भी यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो भवनत्रिक में जाते हैं और सम्यग्दृष्टि हैं सो ऊपर दूसरे स्वर्ग तक जाते हैं। वे सभी देवगति ही प्राप्त करते हैं।

जिज्ञासा—ऐसा भी कथन है कि समवसरण में सभी जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं तो फिर देशना के माध्यम से किसी को सम्यग्दर्शन हुआ ऐसा नहीं कह सकते तो फिर देशना (दिव्यध्वनि) का क्या

महत्त्व हुआ ?

समाधान—यह सामान्य कथन है कि समवसरण में सभी सम्यग्दृष्टि होते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ तीर्थंकर भगवान् की आभामण्डल का ऐसा प्रभाव होता है कि वहाँ उनका विरोध करने वाले कोई जीव नहीं होते। विदेहक्षेत्र में हमेशा चतुर्थकाल होता है वहाँ कोई गृहीतमिथ्यादृष्टि नहीं होते, अगृहीत मिथ्यादृष्टि तो होते हैं। भगवान् को मानना और उनका विरोध नहीं करना, दोनों में अन्तर है। समवसरण में तीर्थंकर के आभामण्डल में आने पर कोई जीव उनका विरोध कर ही नहीं सकता। वहाँ उनका एकछत्र राज्य होता है। यहाँ की बात अलग है कि आमने-सामने दो मंच बन जायें और परस्पर में एक-दूसरे का विरोध करें। समवसरण में सभी सात्विक होते हैं, इस अपेक्षा से कहा जाता है कि वहाँ सभी सम्यग्दृष्टि होते हैं। भगवान् की देशना के माध्यम से कमठ को सम्यग्दर्शन हो गया, उसने भगवान् की शरण में वैर छोड़ दिया। उसे मानस्तम्भ देखकर सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। अतः समवसरण में सारे के सारे जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, ऐसा नहीं है। दूसरी बात—वृषभनाथ भगवान् के समय भी विकल्प थे—देखो! उनके परिवार वाले ही गणधर बन गए।

जिज्ञासा—पूर्व गाथा **अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं** में जीव में चेतना गुण के अलावा कुछ नहीं है, ऐसा बताया था और उक्त **जीवस्स णत्थि** इत्यादि गाथाओं में भी रूप, रस, गन्ध आदि से लेकर गुणस्थान तक के सभी भाव पुद्गलमय हैं, ऐसा कहा गया है। फिर वर्तमान में जो जीव को शरीर के वर्णादि रूप या जीव में रागादि भाव मन्दकषाय रूप विशुद्ध भाव देखे जाते हैं यह सब कैसे घटित होगा ?

समाधान—सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेकर अन्तरंग में तो रागादिभाव और बाह्य में शरीर के वर्णादि की अपेक्षा वर्णादिक को जीव कहा है, किन्तु यह तो अध्यात्म शास्त्र है इसलिए यहाँ पर शुद्धनिश्चय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है। इस प्रकार दोनों स्थानों पर नय विभाग की अपेक्षा कोई विरोध नहीं है।

आत्मा में शरीरादिक की रचना नहीं होती फिर भी संसारावस्था में आत्मा शरीराश्रित ही रहता है। शरीरादि पूर्ण रूप से पौद्गलिक हैं किन्तु इसमें आत्मा का जो गठबन्धन है वह अनुपम है। इसका रसायन ही कुछ ऐसा है कि जीव निकल जाने के उपरान्त भी औदारिकशरीर दीर्घकाल तक ज्यों का त्यों बना रहता है, फिर बिखर जाता है। जैसे—वृक्ष सूखने पर लकड़ी रूप में दीर्घ काल तक देखने में आता है। आज भी लाखों-करोड़ों वर्ष पुराने मृतक शरीर पाए जाते हैं, ऐसा विज्ञान सिद्ध करता है। यह शरीर अपने आप नहीं बनता इसमें जीव के परिणाम सहायक होते हैं। शरीर की रचना में भीतर से जीव के शरीर नामकर्म का उदय और बाहर से उसके योग्य वर्गणाओं का ग्रहण होता है। औदारिक, वैक्रियिक एवं आहारकशरीर के साथ तैजस और कार्मण शरीर भी रहते हैं। ये दोनों शरीर पकड़ने व देखने में नहीं आते। इन्हें **श्री उमास्वामी महाराज** ने **निरुपभोगमन्त्यम्** कहा है। ये दोनों शरीर पाँचों

इन्द्रियों के द्वारा भोग के योग्य नहीं हैं।

दृष्टान्त—जैसे आप घृत की प्राप्ति के लिए दही मथते हैं, दही मन्थन से नवनीत प्राप्त होने के उपरान्त तक्र (छाछ) की ओर देखते तक नहीं, क्योंकि वह आपके लिए प्रयोग के योग्य नहीं है। उसी प्रकार तप ध्यान रूपी मन्थन से शुद्धात्मा रूपी नवनीत की प्राप्ति के उपरान्त स्पर्श, रसादि से लेकर गुणस्थान तक के सभी भाव उपयोगी नहीं होते हैं, इसलिए शुद्धात्मा की प्राप्ति होने के बाद साधक उनकी ओर देखते भी नहीं, क्योंकि वे शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले होते हैं। लेकिन संसारी प्राणी के लिए वे सभी वैभाविक भाव उपयोगी होते हैं।

दृष्टान्त—आप लोग फोटो खिचवाते हैं, तो उसमें सर्वप्रथम नेगेटिव चित्र आता है, बाद में पॉजिटिव बनाते हैं। इन दोनों में से आप लोग पॉजिटिव चित्र को ही खरीदते हैं, जबकि नेगेटिव चित्र ओरीजनल होता है। उसी प्रकार भीतर जो आत्मतत्त्व है वह नेगेटिव के समान ओरीजनल तत्त्व है और बाह्य में पॉजिटिव के समान संस्थान, संहनन आदि हैं ये सभी शुद्धात्मानुभूति रूप वास्तविक तत्त्व से पृथक् हैं। शुद्धात्मानुभूति के समय रागद्वेष आदि वैभाविक परिणामों का अस्तित्व नहीं होता।

वर्ग अर्थात् शक्त्यंश, इनके द्वारा कर्म-अनुभाग का अनुमान होता है। वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक आदि सभी पुद्‌गलमय हैं, अतः ये सभी निश्चयनय से जीव से भिन्न हैं। फिर भी व्यवहारनय से इनका जीव के साथ कर्मबन्ध के समय सम्बन्ध रहता है। इनके द्वारा कर्म के अनुभाग का ज्ञान कैसे होता है ? इसे निम्न दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

दृष्टान्त—सर्वार्थसिद्धि के देव ३३ हजार वर्ष में एक बार अमृतपान रूप भोजन करते हैं। उसमें शक्त्यंश अत्यधिक मात्रा में होते हैं इसलिए उन्हें बार-बार जल्दी-जल्दी भोजन करने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे-मिश्री के शक्त्यंश एक गिलास पानी में घोलने पर उसमें फैल जाते हैं। एक कटोरे में पानी ले लिया और उसमें स्याही की निब डुबा दी तो स्याही के शक्त्यंश उसमें फैल जाते हैं। फिर उसी पानी को बाल्टी में डाल दो तो बाल्टी के पूरे पानी में स्याही के शक्त्यंश फैल जाते हैं। यदि उस बाल्टी के पानी को हौज में, नदी में, सरोवर में, समुद्र में डाल दिया जाये तो वे शक्त्यंश उनमें फैल जाते हैं। लेकिन वे आँखों से देखने में नहीं आते। इसी तरह कर्म वर्गणा के शक्त्यंश जब उदय में आते हैं तो हमारे उपयोग पर प्रभाव डालते रहते हैं। सभी शक्त्यंश एक साथ फल नहीं देते किन्तु थोड़े-थोड़े उदय में आते ही रहते हैं और उपयोग को प्रभावित करते रहते हैं। सुनते हैं कि मिलेट्री में भोजन नहीं रखते। एक कैप्सूल जैसा रहता है उसको खा लेते हैं तो ५-६ दिन तक वैसी ही शक्ति बनी रहती है, जैसी भोजन करने पर रहती है। उन्हें उठते-बैठते, दौड़ते-युद्ध करते हुए भी शरीर में कमजोरी महसूस नहीं होती। वह कैप्सूल हजारों रुपयों का होता है।

उसी प्रकार गाढ़ी मीठी दवाई क्रीम जैसी है, उसे जितने अधिक पानी में घोलेंगे उतने पानी में वह शक्कर का काम करती है। यह सब उसमें रहने वाले शक्त्यंशों का प्रभाव होता है। उसी प्रकार कर्म-

वर्गणा के शक्त्यंशों की अनुभाग शक्ति का उपयोग पर प्रभाव रहता है।

दृष्टान्त—सुकौशल और उनके पिताजी दोनों आहार के लिए जा रहे थे। पूर्वभव का माँ का जीव सिंहनी ने उनका भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया। वे ध्यान में अडिग रहे, ध्यान की एकाग्रता के कारण उन्हें केवलज्ञान हो गया। ध्यान के शक्त्यंशों में कर्मों के शक्त्यंशों को समाप्त करने की शक्ति पायी जाती है। अतः समस्त साधकों को ध्यान का अभ्यास प्रयोजनभूत तत्त्व है।

घातिया कर्म में जीव के गुणों को घात करने के शक्त्यंश रहते हैं। उनमें लता, दारु, अस्थि, शैल रूप अनुभागशक्ति युक्त शक्त्यंश होते हैं। उन्हें अनुभागस्थान कहते हैं। लता अनुभाग अर्थात् जैसे गुलाब की पाँखुड़ी किसी पर गिर जाये तो अहसास मात्र होता है। चोट नहीं लगती, क्योंकि वह अत्यन्त कोमल होती है। दारु अर्थात् लकड़ी उससे कठोर होती है। शीशम की लकड़ी लोहे के समान कठोर होती है। लोहे में तो जंग लग जाती है लेकिन शीशम की लकड़ी को कुछ नहीं होता। इसको बड़े-बड़े जहाजों के तल में लगाया जाता है। इसी की कुर्सी, कमण्डलु की टोंटी, टायर आदि भी बनते हैं। शीशम से भी कठोर आप लोगों की हड्डियाँ होती हैं। अतः दारु के उपरान्त हड्डी (अस्थि) की कठोरता को रखा। हड्डियों में एक प्रकार से कैल्शियम का स्टोर होता है। कैल्शियम के कारण हड्डी में कठोरता होती है। इसलिए कहते हैं–ये पुरानी हड्डी वाले हैं। छुआरे जैसे लगते हैं, शरीर जल जाता है, लेकिन हड्डी को जलाने के लिए विशेष अग्नि की आवश्यकता होती है। जैसे–दीपक की लौं जलती है उसमें (तेल में) कैल्शियम, फॉस्फोरस आदि के अंश रहते हैं, जिससे वर्षा होने पर भी वह बुझती नहीं है। दीपक जलता ही रहता है। अस्थि विशेष को संहनन माना जाता है। वज्रवृषभनाराच संहनन वाले ध्यान में बैठ गये तो बैठ गए। ४ माह, ६ माह, एक वर्ष तक के लिए भी वे बैठ जाते हैं। उस समय उनका शरीर सड़ता नहीं, गलता नहीं और महीनों-महीनों के उपवास कर लें तो भी उन्हें चक्कर आदि नहीं आते। दीनता, हीनता नहीं आती, ऐसा शरीर होता है। उनके वचन भी उतने अधिक पुष्ट रहते हैं कि लोग सुनें तो डर जाएँ और उतना ही अधिक मजबूत मनोबल होता है। उनके लिए परीषह भी परीषह जैसे नहीं होते। उनका अकालमरण नहीं होता। उपसर्ग हो जाये, २२ ही नहीं, २२०० परीषह भी आ जायें तो भी उन्हें कुछ नहीं होता। ये पूरे प्रबन्ध के साथ चलते हैं। केवलज्ञान होने के पहले भी प्रबन्ध, बाद में भी प्रबन्ध हो जाता है।

किसी ने कहा–रसपरित्याग करना है तो आचार्य श्री ने विशेष दृष्टिकोण से कहा कि रस लिए कहाँ हैं ? जिनका त्याग करना है। दूसरी बात रस एक नामकर्म भी है, उसको कैसे छोड़ोगे ? साधक को बाहर नहीं भीतर अध्यात्म में रस आता है। भीतरी रस नामकर्म का उदय भी ऐसा हो सकता है कि नीरस भी सरस हो जाता है। रस में परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे–दृष्टिविष ऋद्धि है तो विष डाल भी सकता है और विष का हरण भी कर सकता है। प्रत्येक कर्म, शीतकर्म का फल अपने-अपने अनुभाग के अनुसार मिलता रहता है। उष्ण कर्म, शीतकर्म, रस में खट्टा, मीठा आदि अलग-अलग

कर्म हैं। कर्म का फल (रस) नोकर्म के माध्यम से मिलता है। चर्वण करते समय जो रस मिल रहा है वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कर्मों का भोक्ता होता है। उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से भी जीव भिन्न-भिन्न विषयों का भोक्ता होता है। सही रूप में देखा जाये तो किसी भी रसवान वस्तु का रस तभी आता है जब भीतर रसनेन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो। कर्म में भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श है, लेकिन कर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतः इन्द्रियभोग के योग्य नहीं हैं। जैसे–भोजन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होता है वह इन्द्रियों के द्वारा भोग का विषय होता है चूँकि यह स्थूल है। कर्म का फल नोकर्म के द्वारा दिखाई देता है। कर्म डायरेक्ट भोगने में नहीं आता, किन्तु नोकर्म के द्वारा कर्म का फल भोगने में आता है। नोकर्म के अनुसार कर्मफल का अनुभव होता है। आचार्यों ने कहा ही है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म फलता है।

दृष्टान्त–जैसे कोई दूध की आइसक्रीम जमाते हैं तो दूध को थर्मस आदि में रखकर ढँक देते हैं। फिर बाहर में चारों ओर से बर्फ के टुकड़े, नमक आदि डाल देते हैं तो इनके सहयोग से दूध आइसक्रीम रूप में बन जाता है। उसी प्रकार मूल में भीतर कर्म का उदय होता है उसके साथ बाहर में नोकर्म शरीर आदि पदार्थ सहयोगी होकर कर्म को फलने में सहयोगी होते हैं।

जैसे–किसी को सर्प काट देता है तो उसे नीम मीठी लगती है। नोकर्म के माध्यम से कर्म की उदीरणा हो जाती है। जैसे–आम को उष्णता का योग मिल जाता है तो आम समय से पहले पक जाता है। आम के पकने में पाल, उष्णता आदि नोकर्म सहयोगी हो जाते हैं। ''नोकर्म के माध्यम से अकाल में कर्म फलने लगता है उसे उदीरणा कहते हैं।'' कहा भी है–**अपक्व पाचनं उदीरणा।**

तात्पर्य यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लेकर कर्म फलते हैं। मैं बार-बार कहता हूँ कि संसार में नोकर्म के तो अम्बार लगे हुए हैं। मात्र नोकर्म के रहने से कुछ नहीं होता, किन्तु कर्म के उदय होने पर कोई भी नोकर्म सहयोगी होकर कर्म को फलने में कारण होता है। कर्म के अम्बार तो अपने अन्दर हैं। अतः नोकर्म से बचने का भी प्रयास करना चाहिए। नोकर्म के माध्यम से कर्म उदीरित होते हैं वे अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रकार के हो सकते हैं। विज्ञान में पढ़ा था कि प्रत्येक खाद्य पदार्थ में शक्कर और नमक दोनों रहते ही हैं, फिर भी ऊपर से नमक-मीठा डालना यह रसना इन्द्रिय की लोलुपता के कारण होता है। ऊपर से डाला गया नमक-मीठा यह तो नोकर्म है, मुख्य अपने भीतर कर्म के क्षयोपशम से रस का अनुभव होता है।

एक स्वर ज्ञान होता है। उसकी पहचान हेतु स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहयोगी होते हैं। जैसे–कण्ठ में जो रस आ रहा है उस समय कौन सा तत्त्व किस स्वर के साथ चलता है, यह बात स्वरज्ञान के ज्ञाता बता देते हैं। इसके द्वारा उसका भविष्य ज्ञान भी किया जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र का एक अक्षर भी नहीं पढ़ा हो तो भी स्वरज्ञान से ज्ञान हो जाता है। कभी चन्द्रस्वर कभी सूर्यस्वर चलता है। इन दोनों में पाँच तत्त्व होते हैं। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के साथ एक अन्तःकरण भी होता है।

आचार्यों ने कहा है कि चर्या दो प्रकार की होती है–१. कठोर, २. मृदु। यदि शक्ति है तो कठोर चर्या का पालन करो और यदि शक्ति नहीं है तो गाड़ी को धीरे-धीरे गेयर में डाल दो, धीरे-धीरे गाड़ी चलाओ। टॉप में गाड़ी कम रहती है। इसी प्रकार नोकर्म का वातावरण देखकर गाड़ी को अर्थात् चर्या को अच्छे ढंग से गेयर में डाल दो उसे अपने अनुसार डाल दो। कई लोगों की धारणा होती है कि भाद्रपद में ही उपवास कर सकते हैं, अन्य समय में नहीं। हालाँकि ऐसा नहीं है कि उसे भाद्रपद मास काल के रूप में निमित्त बन जाता है अतः उपवास करने की सामर्थ्य का अनुभव कर लेता है। भाद्रपद मास के काल में मुझे भी तत्त्वार्थसूत्र के बारे में विशेष चिन्तन आ जाता है। इसमें भी वही सिद्धान्त लागू होता है कि–''नोकर्म के द्वारा कर्म का फल मिलता है।'' यह सिद्धान्त प्रत्येक तत्त्व के साथ जोड़ सकते हैं।

अपना विषय चल रहा था, कर्मों के अनुभाग सम्बन्धी। उक्त विचार कर्म के अनुभाग को लेकर ही विस्तृत हुए। अब आगे चतुर्थ नम्बर पर हड्डी से भी कठोर पाषाण होता है उसे लिया है। लता के समान संज्वलनकषाय, दारु के समान प्रत्याख्यानकषाय, अस्थि के समान अप्रत्याख्यान कषाय एवं पाषाण के समान अनन्तानुबन्धी कषाय होती है। इस प्रकार लता, दारु, अस्थि और पाषाण जैसी शक्ति को लिए हुए चार घातिया कर्मों के अनुभाग स्थान होते हैं। अघातिकर्मों में प्रशस्त-अप्रशस्त दो प्रकार के अनुभाग होते हैं। प्रशस्त कर्मों में गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृत समान अनुभाग स्थान होते हैं तथा अप्रशस्त कर्मों में नीम, काँजी, विष और हालाहल सरीखे अनुभाग स्थान होते हैं। साईनाईट के बारे में वैज्ञानिकों ने रस, गन्ध की अपेक्षा प्रयोग किया। हाथ में कलम दे दी किन्तु लिख नहीं पाये, मरण हो गया। कुछ निर्णय नहीं हो पाता। यहाँ कर्म का वैचित्र्य बताया है। विष और हालाहल जैसे अनुभाग वाले कर्म के उदय में कोई भी अच्छी बात कह दो तो भी कुछ अच्छा नहीं लगता।

दृष्टान्त–जैसे किसी को १०८ बुखार हो जाये उस समय कितना भी अच्छा स्वादिष्ट भोजन दिया जाये तो भी उसे भोजन कड़वा जहर जैसा ही लगता है और स्वस्थ होने पर नीम से दातुन करने के उपरान्त भोजन करने बैठे तो सामान्य भोजन भी अच्छा लगता है। इसका मतलब क्या ? इसका मतलब यह है कि स्वस्थ व्यक्ति को जिस चीज का जैसा स्वाद होता है वैसा ही आता है, भिन्न जाति का नहीं। उसी प्रकार जो कषाय, रागद्वेष, ईर्ष्या आदि वैभाविक परिणामों से रहित स्वस्थ ज्ञान में तल्लीन होता है उस पर कटुक कर्मोदय का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह समझता है कि ये सभी मेरे स्वभाव नहीं हैं। शुद्धात्मानुभूति कभी कड़वी नहीं होती। धर्मध्यान के साथ भी यदि कटुक कर्म का उदय होता है तो भी कर्मोदय का उपयोग पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु शान्ति से समय पूर्ण होता है। ज्यादा आकुल-व्याकुल परिणाम नहीं होते।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जो मन, वचन, काय उनकी वर्गणा के अवलम्बन से कर्म ग्रहण करने के हेतुभूत जो आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन रूप है लक्षण जिसका ऐसे

योगस्थान, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार का बन्धस्थान, सुख-दु:ख के अनुभव रूप उदयस्थान और गति आदि मार्गणास्थान ये सभी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के निमित्तगत परिणाम हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। जब तक योगस्थान होते हैं तब तक चतुर्थ शुक्लध्यान नहीं हो सकता। योगस्थान में आत्मस्थान नहीं हैं। उदयस्थान में कर्मफल का अनुभव होता है। यह भी जीव का स्वभाव नहीं है। कर्म की स्थिति-अनुभाग आदि को संक्रान्त किया जा सकता है। बन्ध दो प्रकार का होता है-१. कर्मबन्ध और २. अकर्मबन्ध। जैसे-सत्ता में बद्ध असाता को साता रूप में परिवर्तित कर देना यह कर्मबन्ध है, इसे संक्रमण भी कहते हैं, किन्तु नवीन कर्मवर्गणायें जो साता या असाता कर्म रूप बंधती हैं उसे अकर्मबन्ध कहते हैं।

धवला में आया है कि मिथ्यात्व का उदय अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन की चौकड़ी को अनन्तानुबन्धी रूप में ही उदय में लाता है। उदय में आने पर कर्मफल का अनुभव होता है। उदयावस्था में कर्मफल को नष्ट नहीं किया जा सकता, उसे संक्रमित भी नहीं किया जा सकता। उदयावस्था में कर्म फल देकर ही जाता है। कालान्तर में भी जो जीव के साथ रहता है वह स्थितिबन्ध कहलाता है। देवायु का बन्ध होने पर वह सत्ता में रहता है। जब देवगति नामकर्म का उदय होता है तभी देवायु का कार्य होता है। बन्ध मात्र होने पर कर्मफल का अनुभव नहीं होता। देवायु का उदय होने पर ही उसका कार्य एवं अनुभव होता है। कषायों के उद्रेक को संक्लेश कहते हैं। कषायों के उद्रेक का मन्द होना विशुद्धि है। **कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि, कषायमन्दोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि** ये सभी स्थान शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं। कषायस्थान का उद्रेक होने पर कर्म में अनुभाग डालने में नोकर्म सहायक होता है। नोकषाय के द्वारा अनुभागस्थान नहीं बनते किन्तु नोकषाय कषाय की सहयोगी होती है।

दृष्टान्त—जैसे-हँसी आ रही है तो कषाय के उदय के बिना नहीं आती। हास्य कषाय के साथ कोई न कोई कषाय का उदय भी रहता है। अविरतसम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यान कषाय का, देशव्रती के प्रत्याख्यान कषाय का एवं मुनि संयमी के संज्वलन कषाय का उदय रहता है। 'सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिराज जब ध्यान अवस्था में बैठते हैं, तब ऐसा लगता है साक्षात् भगवान् की मुद्रा ही हो।' कभी कषाय ज्यादा होती है तो संयम मलिन हो जाता है। मन्दकषाय में संयम विशुद्ध रहता है। जब कषाय का उद्रेक संज्वलन से प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान रूप होता है तो गुणस्थान भी परिवर्तित हो जाता है। यहाँ तक कि यदि अनन्तानुबन्धी का उदय हो गया तो प्रथम गुणस्थान भी हो सकता है। अत: संयम को सुरक्षित एवं विशुद्ध बनाए रखने के लिए साधक को हमेशा कषाय से बचना चाहिए। कषाय को छेड़ो मत, कहते हैं कि बर्रैया को छेड़ो मत, छेड़ोगे तो वह छोड़ेगी नहीं। **सोती बर्रैया को जगाओ मत** इसी तरह साधक को अपनी सोती कषाय को जगाना नहीं चाहिए। कषाय को छेड़ना नहीं चाहिए। 'कषाय की क्रम से हानि होना संयमलब्धिस्थान माना जाता है। अत: संयमलब्धिस्थान के संवर्धन

एवं संरक्षण के लिए कषाय की क्रमिक हानि ही उपादेय है।'

इन सबको जानने वाला नोकर्म पर नहीं टूटता, दूसरे पर नहीं टूटता किन्तु अपने कर्मोदय को स्वीकार करके कषाय को उपशमित करता है। इसलिए शान्ति से बैठो, शान्ति से बैठने पर कर्म का अनुभाग उखड़ कर आयेगा अर्थात् निर्जरित होगा। चूँकि संयमलब्धिस्थान मुक्तावस्था में नहीं रहते इसलिए ये भी जीव के स्वरूप नहीं हैं। कषाय के साथ लब्धिस्थान कभी नहीं बढ़ते किन्तु कषाय की हानि होने पर बढ़ते हैं। ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थान में लब्धिस्थान बढ़ते क्रम में होते हैं और १४ वें गुणस्थान में पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे—स्वर्गों में प्रथम स्वर्ग में विमानों के जो वर्ण हैं उनकी चमक है उनसे दूसरे स्वर्ग के विमानों में वर्ण तो वही है लेकिन चमक आदि में अन्तर होता है। ऊपर=ऊपर स्वर्ग के विमानों की चमक अधिक-अधिक क्रम में है। उसी प्रकार ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों के विशुद्धिस्थान एवं संयमलब्धिस्थान अधिक-अधिक बढ़ते क्रम में होते हैं। जैसे—गाड़ियों में भी पेट्रोल डलता है और विमान यानि हवाईजहाजों में पेट्रोल डलता है लेकिन दोनों पेट्रोल में से हवाईजहाज में डलने वाला पेट्रोल उच्च क्वालिटी का होता है। गुणस्थान के योग्य संयमलब्धिस्थान भले ही न बढ़े, न घटे लेकिन विशुद्धिस्थानों में हानिवृद्धि होने से उसी गुणस्थान के योग्य संयमलब्धिस्थान हानिवृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं।

इनके अतिरिक्त बादर एकेन्द्रिय सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय ये सात पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चौदह जीवसमास हैं तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान हैं ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्य के निमित्तगत परिणाम हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। इसका भी कारण है कि ये सब वर्णादि गुणस्थान पर्यन्त समस्त भाव शुद्धनिश्चयनय से देखने पर पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त आदि ग्रन्थों में अशुद्धपर्यायार्थिक नय के आश्रय से अन्तरंग में रागादिक भाव और बाहर में शरीर के वर्णादि की अपेक्षा वर्णादिक को जीव कहा है किन्तु इस अध्यात्मशास्त्र में शुद्धनिश्चय की अपेक्षा इनका निषेध किया है अर्थात् शुद्धनिश्चय से वर्णादिक समस्त भाव जीव के स्वभाव नहीं हैं। इस प्रकार दोनों स्थानों पर नयविभाग की अपेक्षा से उक्त दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार वर्णादिक के अभाव का विशेष व्याख्यान करने रूप में छह गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—पूर्व में जो बताया था कि सिद्धान्तादि ग्रन्थों में वर्णादिक को व्यवहार से जीव के कहे हैं और प्राभृतग्रन्थ में निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है इसी बात को दृढ़ करने के लिए आगे की गाथा कहते हैं—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥६१॥

अन्वयार्थ—(एदे) ये **(वण्णमादीया)** वर्ण को आदि लेकर **(गुणठाणंता भावा)** गुणस्थान पर्यन्त भाव **(ववहारेण)** व्यवहार से **(जीवस्स हवंति)** जीव के होते हैं **(दु)** किन्तु **(णिच्छयणयस्स)** निश्चयनय से **(ण केई)** कोई भी जीव के नहीं (उनमें से) हैं।

अर्थ—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि यद्यपि वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव ऊपर कह आये हैं वे सब निश्चयनय से तो जीव के नहीं हैं किन्तु व्यवहार नय से तो ये सभी जीव के हैं।

वर्णादिभाव इस आतम में लसे हैं,
माने गए सकल वे व्यवहार से हैं।
आत्मा अमूर्त अजरामर निर्विकारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥६१॥

व्याख्या—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी एवं **आचार्य जयसेन स्वामी** ने अध्यात्मग्रन्थ की मुख्यता से उक्त गाथाओं का कथन किया है। अनेकान्त में मुख्य-गौण कथन को स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर भी मुख्यता और गौणता के साथ कथन किया गया है। वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त सभी भाव शुद्धनिश्चय नय की मुख्यता से जीव के नहीं हैं लेकिन व्यवहारनय की मुख्यता से ये सभी भाव जीव के स्वीकार किये गये हैं।

दृष्टान्त—जैसे-हम स्वर्ण को देखते हैं तो जब स्वर्ण के केवल पीतवर्ण को देखते हैं तो हमारी दृष्टि में पीतवर्ण मुख्य हो जाता है उसका आकार-प्रकार ख्याल में नहीं आता वह गौण हो जाता है किन्तु जब आभरण यानि आकार मुख्य होता है तब स्वर्ण के पीलेपन पर आवरण आ जाता है अर्थात् पीतवर्ण गौण हो जाता है। दूसरे दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं।

जैसे-समुद्र या नदी के निकट जाते हैं तो वहाँ क्या देखने में आता है ? एक तो जल और दूसरी लहरें। लहरों को देखने के विशेष उद्देश्य से ही आप लोग नदी या समुद्र के निकट जाते हैं। लहरों को देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, मन सन्तुष्ट होता है। उसी पानी को लोटे में भरकर घर लाते हैं पर लोटे में जल मात्र दिखता है लहरें नहीं दिखतीं। उस समय जल मुख्य रहता है। अतः जब जल मुख्य होता है तो लहरें गौण हो जाती हैं और जब लहरें मुख्य होती हैं तो जल गौण हो जाता है। जब प्यास लगती है तो जल मुख्य होता है क्योंकि लहरों को देखने से प्यास नहीं बुझती। पानी पीने से प्यास बुझती है। पानी पीने के पूर्व पानी छानना आवश्यक होता है। पानी छानने के उपरान्त जीवानी डालना भी अनिवार्य है। अन्तर्मुहूर्त के भीतर जीवानी डाल देना चाहिए। ऐसे समय यदि कोई प्यास से पीड़ित व्यक्ति आ जाये और वह कहे कि पानी के बिना मानो उसके प्राण ही जा रहे हैं तो उस समय जीवानी

डालना मुख्य है या उसे पानी पिलाना। हर समय विवेक के साथ मुख्यता और गौणता का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इसी प्रकार वस्तुतत्त्व के कथन में भी निश्चय-व्यवहार नय की मुख्यता और गौणता का ध्यान रखना आवश्यक होता है। अध्यात्मग्रन्थ की मुख्यता होने से निश्चय नय मुख्य होता है और निश्चयनय से वर्णादिक समस्त भाव जीव के नहीं हैं यह सिद्ध होता है। यदि मुख्य और गौण शैली को नहीं अपनाया जायेगा तो एकान्त परक कथन हो जायेगा।

शुद्धोपयोग के द्वारा शुभोपयोग निषिद्ध होता है और केवलज्ञान की अपेक्षा शुद्धोपयोग भी निषिद्ध हो जाता है। साधन-साध्य का गठबन्ध होने से सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग हेय नहीं होता। केवलज्ञान रूप साध्य सिद्ध होने पर साधन रूप शुद्धोपयोग स्वतः छूट जाता है किन्तु जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक शुद्धोपयोग उपादेय होता है। कारण-कार्य व्यवस्था को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। निश्चय-व्यवहारनय की विवक्षा को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। निश्चयनय से साधक कारण और बाधक कारण दोनों निषिद्ध होते हैं। नयविवक्षा को नहीं समझने पर प्रायः एकान्तपरक कथन हो जाते हैं।

जिज्ञासा—यदि निश्चय से जीव में वर्णादि कुछ नहीं हैं तो फिर जीव की पहचान कैसे होगी? जीव की पहचान के बिना मुनिराजों के अहिंसा महाव्रत का पालन कैसे होगा ?

समाधान—आचार्यों का कथन अनेकान्तमय होता है। यदि निश्चयनय से जीव में वर्णादि का निषेध है तो इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि जीव में वर्णादि एकान्त से ही निषिद्ध हो गए हों, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं कह रहे हैं कि **ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया** अर्थात् व्यवहारनय से वर्णादि सभी भाव जीव के होते हैं। अतः व्यवहारनय से जीव की पहचान करके मुनिराज अहिंसा महाव्रत का पालन करते हैं।

मूलाचार में एक भावसत्य का कथन किया गया है। उसमें कहा है कि-मुनिराज छने हुए और प्रासुक किये हुए जल का ही उपयोग करते हैं, क्योंकि जल में जीव होते हैं। यह भावसत्य है। इसमें जीव के बारे में सूक्ष्म कथन है। आज लोग कहते हैं, तर्क देते है कि हेण्डपम्प, बोरिंग आदि के पानी में जीव नहीं होते किन्तु ऐसा नहीं है। बादलों से जब जल गिरता है उसी समय से उसमें योनिस्थान बन जाता है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ जीव न हो, हाँ सूक्ष्म हैं कि बादर, यह नहीं कह सकते। कुछ जीव बादर होते हुए भी इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे देखने में नहीं आते। परन्तु भावसत्य के अनुसार, आगम के अनुसार उन्हें जीव स्वीकार करना ही चाहिए। अतः मुनि को छना हुआ एवं प्रासुक किया हुआ पानी ही उपयोग में लेना चाहिए।

जिज्ञासा—कोई कहता है कि जो चलते-फिरते हैं वे जीव कहलाते हैं, किन्तु स्थावर तो चलते-फिरते नहीं हैं, अतः पानी को छानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—जो चलते-फिरते हैं वे जीव कहलाते हैं यह कोई आगमिक परिभाषा नहीं है। इस परिभाषा के अनुसार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष आते हैं। अर्थात् जो जीव तो हैं लेकिन बैठे हैं, चल-फिर नहीं रहे हैं तो क्या उन्हें जीव नहीं कहेंगे। त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय की अपेक्षा त्रस और स्थावर संज्ञा दी गई है, चलने और स्थिर रहने की अपेक्षा नहीं।

दूसरी बात, दूध में पानी में छानने के बाद भी माइक्रोस्कोप से कुछ चलता-फिरता दिखता है, तो क्या उसे जीव कह दें ? नहीं, इसे तो विज्ञान भी जीव नहीं मानता। अतः उक्त तर्क देकर पानी छानने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

निश्चयनय की दृष्टि से देखें तो जीव के सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावर आदि कोई भेद नहीं बनते। उसके अनुसार तो सब पुद्गल का परिणमन है जीव तो अमूर्त होता है। वह चक्षु इन्द्रियगम्य नहीं होता। अतः मात्र चलते-फिरते को जीव घोषित नहीं किया जा सकता क्योंकि चलने-फिरने को तो मोटर, गाड़ियाँ आदि पौद्गलिक अनेक चीजें चलती हुई दिखाई देती हैं। अतः निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का अच्छी तरह से तालमेल बिठाना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि—भगवान् ने जो कहा है, आगम में जो कहा है उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है।

जीव रक्षा के बारे में भगवान् ने कहा है कि—जीवों को मरने से बचाओ। यदि कोई कहे कि बचाने का भाव तो विकल्प है, हम तो निर्विकल्प होना चाहते हैं। आचार्य कहते हैं कि पहले जीव को बचाने का प्रयत्न करो, बचाने का पुरुषार्थ करने पर भी यदि नहीं बचता है तो विचार किया जा सकता है कि उसकी आयु पूर्ण हो गई इसलिए हम नहीं बचा पाये। ऐसा विचार फिर भी ठीक है लेकिन बचाने का प्रयत्न किए बिना ही जीव को नहीं बचाया जा सकता ऐसा प्रमाद करना उचित नहीं है, किन्तु बुद्धिपूर्वक अहिंसा धर्म का पालन करने के उपरान्त निर्विकल्प अवस्था आ सकती है। जीव रक्षा के भाव बिना तीन काल में कभी भी निर्विकल्पावस्था नहीं बन सकती। आज लोग तर्क की भाषा में आगम की ओट में बोलते हैं कि जीव तो कभी मरता नहीं अतः जब जीव मरता ही नहीं तो उसे बचाने का कर्तृत्व भाव क्यों किया जाए ? निश्चयनय से जीव के निश्चय चेतन रूप प्राणों का कभी वियोग नहीं होता फिर भी व्यवहारनय से जीव के इन्द्रिय, बल, आयु आदि दश प्राणों का वियोग होता है। इन प्राणों के वियोग को ही एक प्रकार से मरण संज्ञा दी गयी है। अतः जीव के प्राणों की सुरक्षा रहे, मेरे द्वारा जीव के प्राणों का वियोग न हो ऐसा भाव और ऐसी सावधानी तो रखना ही चाहिए। यह कोई कर्तृत्व भाव नहीं है किन्तु 'जीवरक्षा' परम धर्म है। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** ने स्वयं कहा है—**जीवाणं रक्खणो धम्मो** अर्थात् जीवों की रक्षा करना धर्म है। तात्पर्य यह है कि आपके पैरों द्वारा कोई भी जीव मर सकता है। नीचे देखकर चलने से क्या होता है ? नीचे देखकर चलने से जीवों की रक्षा होती है। अतः नीचे देखकर चलना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि नीचे देखकर चलने से गिरने की सम्भावना नहीं रहती, माथा नहीं फूटता। सोचो, विचार करो यदि नीचे देखकर नहीं चलोगे तो आपको

अपने माथा फूटने का डर रहता है। दूसरे जीव के ऊपर पैर रखने से क्या होता है ? आपका तो मात्र माथा फूटेगा किन्तु उसका तो जीवन ही समाप्त हो जाता है। अत: जीव रक्षा करना यह भी एक व्यवहारधर्म है, यह भी एक साइंस है। इस प्रकार जब तक व्यवहार को समीचीन नहीं बनाओगे तब तक निश्चय को प्राप्त नहीं कर पाओगे।

शुद्धनिश्चय भीतर के अध्यात्म बाजार में ही चलता है। ज्यों ही आप बाहर आते हैं तो सिद्धान्तादि तथा **मूलाचारा**दि ग्रन्थों का सहारा लेकर जीवन चलाना होता है और ज्यों ही आप बाहर से भीतर आते हैं तो **समयसार** का सहारा लेकर जीवन चलता है।

दृष्टान्त—आप दुकान जाते हैं ऑफिस जाते हैं, किसी की पार्टी में जाते हैं और घर में रहते हैं तो सभी जगह की अलग-अलग ड्रेस होती है। ऑफिस से घर आते हैं तो ऑफिस की ड्रेस उतार देते हैं, घर की ड्रेस पहन लेते हैं। जब पार्टी में जाते हैं तो घर की ड्रेस उतार देते हैं, पार्टी के योग्य ड्रेस पहन लेते हैं। उसी प्रकार आचार्यों का कहना है कि साधक जब ध्यान में बैठते हैं, निश्चय में जाते हैं तो **समयसार** के अनुसार विचार चलते हैं और जब निश्चय से व्यवहार में आते हैं तो **मूलाचार** के अनुसार चर्या करते हैं। इस प्रकार साधक की साधना के लिए आगम ने दो प्रकार की आँखों को दिया है-१. निश्चय यानि **समयसार** की आँख और २. व्यवहार यानि **मूलाचार** की आँख। बाहर की मुद्रा व्यवहार और भीतर की मुद्रा निश्चय है। बाहर आने पर बाहर की मुद्रा से चलेंगे तो ठीक रहेगा और भीतर जाने पर भीतर की मुद्रा से चलेंगे तभी ठीक रहेगा। इस प्रकार अन्त में उपसंहार यही निकलता है कि यदि व्यवहार को नहीं अपनाओगे तो निश्चय तक नहीं पहुँच सकोगे।

विशेष—व्यवहारनय पर्यायार्थिक है अतएव जीव के साथ पुद्‍गल का संयोग होने से जीव की औपाधिक अवस्था हो रही है। उसका वर्णन करता है, इसलिए वर्णादिक से गुणस्थान पर्यन्त भावों को जीव के कहता है किन्तु निश्चयनय तो मूल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर स्वभाव का ही कथन करते वाला है। इसलिए निश्चयनय की दृष्टि में उक्त भाव जीव के नहीं हैं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में ये नहीं होते। यह सब विवक्षा भेद से है। स्याद्वाद में इसका कोई विरोध नहीं है।

उत्थानिका—निश्चय से वर्णादिक जीव के क्यों नहीं हैं ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं-

एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥६२॥

अन्वयार्थ—**(एदेहि य संबंधो)** और इन वर्णादि भावों से जीव का सम्बन्ध **(जहेव खीरोदयं)** जल एवं दूध के (एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध) सदृश **(मुणेदव्वो)** जानना चाहिए **(य ताणि)** और वे **(तस्स दु ण हुंति)** उस जीव के नहीं हैं **(जम्हा)** क्योंकि जीव **(उवओगगुणाधिगो)** इनसे उपयोग गुण के कारण अधिक हैं।

अर्थ—इन वर्णादिक भावों के साथ संसारी जीव का एकक्षेत्रावगाही संयोग संश्लेष सम्बन्ध होता है। जैसा कि दूध का जल के साथ होता है। ऐसा होने पर भी वास्तव में ये जीव के नहीं हो जाते, क्योंकि जीव तो इनके साथ रहकर भी अपने उपयोग गुण के कारण इनसे भिन्न ही झलकता है।

वर्णादि संग रहता फिर भी निराला,
आत्मा सुशोभित रहा उपयोग वाला।
लो क्षीर में वह भले मिल जाय नीर,
पै नीर, नीर रहता बस क्षीर, क्षीर ॥६२॥

व्याख्या—इन पूर्वोक्त कथित पर्यायस्वरूप वर्णादि गुणस्थानपर्यन्त भावों के साथ जीव का वैसा ही संयोगरूप संश्लेष सम्बन्ध है जैसा कि परस्पर में दूध और जल का होता है किन्तु अग्नि का उष्णता के साथ जैसा तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा इनका जीव के साथ नहीं है। इसलिए **ण य हुंति तस्स ताणि दु** अर्थात् ये सब वर्णादि भाव जीव के नहीं हैं किन्तु **उवओगगुणाधिगो जम्हा** जैसे अग्नि उष्णता से परिपूर्ण है वैसे ही जीव ज्ञान-दर्शन गुण से परिपूर्ण है। जीव तो उपयोग गुण को लिए हुए है। उसमें वर्णादिक का कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्षीर-क्षीर है और नीर-नीर है। ऐसा श्रद्धान जब तक नहीं होता तब तक जीव को स्वभाव का श्रद्धान, ज्ञान नहीं होता। तब तक विभाव को छोड़ने की बात भी नहीं होती, क्योंकि ऐसा तर्क दिया जाता है कि स्वभाव में स्वभाव है, उसे छोड़ने की बात ही नहीं है किन्तु जब व्यवहारनय के विषय को स्वीकार किया जाता है कि वर्णादि भाव जीव के साथ संश्लेष सम्बन्ध स्वरूप है। इस प्रकार कहीं न कहीं से निश्चय तक पहुँचने के लिए व्यवहार के विषय को भी स्वीकार करना आवश्यक होता है। निश्चय तक पहुँचने के लिए व्यवहार का सहारा आवश्यक होता है। इसके बिना कितने भी दिन बैठ जाओ, तो भी शान्ति नहीं मिलेगी। 'राग को छोड़ो' ऐसा कहने से पहले ''राग छोड़ने योग्य है'' ऐसा श्रद्धान कराना भी आवश्यक है। हाँ, जो व्यक्ति राग को स्वभाव मानकर बैठा है उसे यह कहा जाता है कि राग स्वभाव नहीं है, क्योंकि स्वभाव का अभाव नहीं होता। ये सभी भाव स्वभाव नहीं हैं ऐसा ज्ञान होने पर ही विभाव को छोड़ने का प्रयास किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

जब यह श्रद्धान मजबूत हो जाये कि यह राग स्वभाव नहीं है, विभाव है तो उसे छोड़ने का भाव जागृत होता है। इसे कैसे अलग किया जाए ? तो कहते हैं–**मिलै अनादि यतनतैं बिछुडै ज्यों पय अरु पानी** रागादि जीव के साथ अनादि से मिले हुए हैं तभी तो इन्हें अलग करने की बात है। यदि पहले से ही पृथक् हैं तो उन्हें अलग-अलग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए यतन किसका और किसलिए ? आचार्य कहते हैं कि उक्त सभी भाव स्वरूप शक्ति की अपेक्षा अलग-अलग हैं, अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं। दूध और पानी में एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है उसे तपाकर या मन्थन करके ही अलग किया जा सकता है। ज्यों ही इन दोनों का पृथक्करण होता है, क्षीर-क्षीर रूप में नहीं रहता।

उसी प्रकार जैसे ही विभाव अलग हुआ तो आत्मतत्त्व देखने में नहीं आता अर्थात् इन्द्रियगम्य नहीं रहता। अग्नि और उष्णता में जो अभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा जीव और वर्णादि का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसे क्षीर में से नीर पृथक् होने पर दूध के दर्शन नहीं होते, क्योंकि नीर के बिना दूध कहाँ ? उसी प्रकार वर्णादि भिन्न होने पर इन आँखों से आत्मतत्त्व का दर्शन तीन काल में भी सम्भव नहीं होता। रागादि का आत्मा के साथ तात्कालिक तादात्म्य सम्बन्ध होता है, त्रैकालिक नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो रागद्वेषादि कषाय भाव के होने पर प्रायश्चित, पश्चाताप आदि का विधान या प्रावधान क्यों करते ? यदि इनका त्रैकालिक सम्बन्ध होता तो कषाय होने पर प्रायश्चित आदि क्यों करते, क्योंकि त्रैकालिक सम्बन्ध का कभी पृथक्करण नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा नहीं है। मान लो किसी ने एक घण्टे कषाय कर ली तो पश्चाताप प्रायश्चित के द्वारा उस कषाय के संस्कारों से दूर होने का प्रयास किया जाता है। अज्ञान दशा में जो हो गया तो हो गया, ज्ञान होने पर तो कषाय से मुक्त होकर समयसार में डूब जाना चाहिए, निश्चय में डूब जाना चाहिए। लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि–जब तक पश्चाताप नहीं करोगे, प्रायश्चित नहीं करोगे तब तक समयसार में प्रवेश नहीं हो सकता। ऐसा क्यों कहा जाता है ? यह पूछो मत स्वयं अभ्यास करके देख लो। बरसों तक भी मात्र निश्चय-निश्चय की रट लगाओ तो भी कोई सार निकलने वाला नहीं है। आप लोग कभी आपस में भिड़ जाते हैं, लड़ लेते हैं फिर कहते हैं–क्या करें ? हम तो उलझना नहीं चाहते हैं फिर भी उलझन हो गई। इसे भुलाने हेतु एकाध हफ्ते के लिए अपरिचित जगह में अपरिचित व्यक्तियों के बीच पहुँच जाते हैं। पुनः वापस आते हैं तो फिर कषाय कर लेते हैं। अतः कषाय का संस्कार छूटना अत्यन्त कठिन है। ऐसा कई लोगों का कहना होता है कि क्षेत्र परिवर्तन से सिर दर्द कम हो जाता है, विकल्प कम हो जाते हैं, अथवा नींद की गोली खा लेते हैं और अपने आपको विकल्पों से दूर निर्विकल्प मान लेते हैं। वे समझते हैं कि हम अन्तर्जगत् में पहुँच गए। जब तक उस गोली का प्रभाव रहता है तब तक बहिर्जगत् में होने वाले सब व्यवहार समाप्त हो जाते हैं। ऐसे निर्विकल्प होने के कई तरीके होते हैं। कोई कुछ सूंघ लेता है, कोई कुछ पी लेता है, कोई कुछ गुटक लेता है। ध्यान रखो, यह कोई निर्विकल्पता नहीं मानी जाती। इस अवस्था में आप बाहर के सभी कनेक्शन्स को तोड़कर यहाँ तक कि अपने आपसे भी ज्ञान का कनेक्शन समाप्त कर देते हैं। आचार्य कहते हैं कि–बाहर के व्यवहार से ज्ञान का कनेक्शन समाप्त होना अच्छी बात है लेकिन निर्विकल्प अवस्था में ज्ञान अपने आप में जागृत रहना चाहिए। आत्मा से उसका कनेक्शन बना रहे, फिर भी आप निर्विकल्प रहो तब तो ठीक है। अन्यथा उक्त प्रकार से निर्विकल्पता मात्र बेहोशी मानी जायेगी।

विशेष उद्बोधन–आचार्यों ने कहा है कि हे जीव! यदि तू अन्तर्जगत् में रहना चाहता है तो जो तुमने अपने आपको पर-पदार्थों का स्वामी, कर्त्ता, भोक्ता रूप मान रखा है उसे छोड़ने का प्रयास करो। पर-पदार्थों के प्रति स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व के संस्कार ऐसे हैं कि बार-बार अपने उपयोग

को नोकर्मों की ओर ले जाते हैं। नोकर्म की ओर उपयोग जाने से व्यक्ति हमेशा सामने वाले निमित्त को कर्त्ता-भोक्ता मानने लग जाता है। कहता है कि हम तो कोई बुरा कार्य करना नहीं चाहते थे उनकी वजह से यह आरोप लगाया गया है। जबकि यह बात ख्याल में रखना चाहिए कि कोई किसी के ऊपर जबरदस्ती कुछ भी नहीं थोप सकता। यदि आपके पास वैसा परिणमन करने की शक्ति नहीं होती तो सामने वाला क्या कर सकता था। यदि सामने वाले के ऊपर हमारा परिवर्तन निर्भर होता तो फिर हमेशा कुछ न कुछ जो हम नहीं चाहते हैं वैसा परिणमन भी होते रहना चाहिए। अपने उपादान को देखने का प्रयास करो। अपने उपादान को देखने से ऐसा लगता है कि प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। हम जो भी करना चाहें स्वयं कर सकते हैं। स्वयं ने कर्म बांधा है तो स्वयं को यत्नपूर्वक छोड़ना भी पड़ेगा, तभी कर्मों से मुक्त हो सकेंगे।

यतनतैं बिछुड़ै ये शब्द बड़े मार्मिक हैं। हमने अज्ञान दशा में कर्म बाँधे हैं तो यत्नपूर्वक ज्ञान दशा को प्राप्त करके उनसे मुक्त भी हो सकते हैं। सोते हुए मिथ्यात्व का बन्ध हुआ है, तो सोते हुए ही उसका संवर होगा यदि कोई ऐसी व्याप्ति बना लेंगे तो बहुत लम्बी-चौड़ी नींद लेनी पड़ेगी। तो भी बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु जो अज्ञानदशा में बंधा हुआ कर्म है वह कभी भी ज्ञान के द्वारा निर्जरित किया जा सकता है। यही एकमात्र पुरुषार्थ की भूमिका है। अतः यदि कर्मबन्धन से मुक्त होना चाहते हो तो यत्नपूर्वक मुक्ति का पुरुषार्थ करो।

जैसे-अग्नि और उष्णता का सम्बन्ध है, उसी प्रकार केवलज्ञान-दर्शन गुण का आत्मा से सम्बन्ध है। यह आत्मा से अभिन्न सम्बन्ध है। आत्मा ज्ञान-दर्शन गुण से परिपूर्ण है।

जिज्ञासा—यहाँ पर एक शंका है कि वर्णादिक जो बाहर दिखते हैं, आत्मा से जिनका कोई तालमेल नहीं है, उनका तो जीव के साथ क्षीर-नीर के समान संयोग सम्बन्ध है, उनको व्यवहार से जीव का कहना ठीक है, लेकिन अभ्यन्तर में होने वाले रागादि भावों का ऐसा संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः इन रागादिकों का सम्बन्ध जीव के साथ अशुद्ध निश्चय से कहना योग्य है ?

समाधान—आचार्य इसका समाधान करते हैं कि हे भाई ! ठीक है, रागादिक का जीव के साथ अशुद्धनिश्चयनय से सम्बन्ध है, ऐसा जो कहा गया है वह तो आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का सम्बन्ध बतलाने वाले असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा तारतम्य भेद दिखलाने के लिए कहा गया है। वास्तव में तो अशुद्धनिश्चय नय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है, ऐसा समझना चाहिए।

पर्व के दिनों में हमने द्वितीय अध्याय की व्याख्या के समय कहा था कि सिद्धावस्था में क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव औदयिकभाव की तरह छूट जायें तो कोई बात नहीं, क्योंकि वे पर सापेक्ष हैं, किन्तु पारिणामिकभाव का अभाव नहीं होना चाहिए। आचार्य समाधान देते हैं कि भव्यत्वभाव भी चूँकि शुद्धपारिणामिक नहीं है। यह निश्चय से अशुद्धपारिणामिकभाव है अतः वह शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा विभाव है, स्वभाव नहीं है। हर विभाव पर सापेक्ष हो यह कोई नियम नहीं

है। पर-निरपेक्ष होते हुए भी भव्यत्व भाव अपूर्णदशा में रह सकता है, किन्तु जीव की पूर्ण शुद्धदशा में नहीं रह सकता।

दृष्टान्त—लाल बताशा जो एक रुपये जैसा गोल है, मीठा है उसे पानी में डाल दिया, घोल दिया तो उसकी शक्कर तो घुलकर पानीमय हो गई किन्तु उसका रंग नहीं घुला। वह आँखों का विषय बन रहा है, अतः वह रूपी माना जायेगा। बताशे के साथ लालरंग का सेवन तो होता है फिर भी वह बताशे से कथंचित् भिन्न माना जायेगा। तभी तो उसका सेवन करने से मुँह लाल हो जाता है। इसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान के अन्त में बताशे के रंग के समान भव्यत्वभाव भी यहीं रह जाता है। यह भी व्यवहार है।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि निश्चय की अपेक्षा से वर्णादि भी व्यवहार हैं। पर-सापेक्ष भाव दो प्रकार के हैं–१. पर-सापेक्ष रागादि भावकर्म, २. पर-सापेक्ष ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म। द्रव्यकर्मोदय की अपेक्षा से रागादि भाव कर्म होते हैं और रागादि भावकर्म के निमित्त से नवीन द्रव्यकर्म बँधते हैं। निमित्त तो पर है ही किन्तु नैमित्तिक भी पर है, क्योंकि पर के बिना उसका अस्तित्व नहीं है। अतः यह सब व्यवहारनय की कोटि में ही आता है। अपने आत्मद्रव्य को छोड़कर जो कुछ भी है वह पर है, पर-सापेक्ष है। दूसरे दृष्टान्त से भी समझने का प्रयास किया जाता है।

दृष्टान्त—मानलो आपको देहली जाना है, तो पहले टिकट खरीदना आवश्यक होता है। बिना टिकट के ट्रेन में नहीं बैठ सकते। टिकट चैक करने वाला आता है, कहता है–टिकट दिखाओ, तो आप टिकट दिखा देते हैं, यहाँ तक कि टिकट उसी को दे देते हैं। आप सोचते हैं कि अब टिकट का क्या काम ? किन्तु देहली पहुँचने पर फिर आपको टिकट दिखाना पड़ता है। गलत टिकट या पैसे से काम नहीं चलेगा। वहाँ भी सही-सही टिकट दिखाना आवश्यक है। अतः मार्ग में कभी टिकट नहीं छोड़ा जाता। इसका सैद्धान्तिक पक्ष यह है कि इसी प्रकार भव्यत्व भाव भी एक टिकट है। यह चतुर्थ गुणस्थान रूपी स्टेशन से मिलता है और चौदहवें गुणस्थान रूपी स्टेशन तक रहता है। वहाँ तक की यात्रा में यह टिकट साथ में रहता है। यात्रा पूर्ण होने पर टिकट को कचरे के डिब्बे में डाल दिया जाता है। यात्रा पूर्ण होने पर उसका कोई महत्त्व नहीं रहता। इसी प्रकार १४ वें गुणस्थान के अन्त में भव्यत्व भाव रूपी टिकट की स्थिति होती है। जब जीव मोक्ष रूप मंजिल में पहुँच जाता है तो उस टिकट को यहीं छोड़ दिया जाता है या यूँ कहें कि यहीं छूट जाता है। यात्रा पूर्ण होने के पहले टिकट को कितने अच्छे से संभालते हैं, सूटकेस से भी ज्यादा सुरक्षित रखते हैं क्योंकि यदि टिकट कलेक्टर को यात्रा के उपरान्त टिकट नहीं दिखायेंगे तो जेल हो सकता है, बदनामी हो सकती है, इनसल्ट हो सकती है। अतः अपने रत्नत्रय रूपी टिकट को १४ वें गुणस्थान तक भव्य जीव बहुत सुरक्षित रखते हैं। यह उदाहरण भी सुरक्षित रखना।

जिस समय स्वभाव को सुरक्षित रखने का लक्ष्य होता है उस समय शुद्धभाव के अतिरिक्त सभी भाव स्वतः ही अशुद्ध सिद्ध हो जाते हैं। भव्यत्व भाव भी आत्मगत परिणाम है लेकिन शुद्ध भाव नहीं

है। जो-जो व्यवहारनय का विषय है, अशुद्ध निश्चयनय का भी विषय है, वह सब पराया है। जो अपना है, शुद्ध है वह शुद्ध निश्चयनय का विषय है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चय भी व्यवहार है। तो जिस प्रकार भिन्न द्रव्य के साथ सम्बन्धों में अशुद्ध लगाया जाता है। उसी प्रकार जीव में होने वाले रागादि भावकर्मों के साथ भी अशुद्धनिश्चय लगाया जाता है। राग पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न होता है, किन्तु पुद्गल को रागी कभी नहीं कहा जाता। जीव में रागादि का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। वह शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही होता है। पुद्गल न रागी होता है न वीतरागी। जीव ही रागी होता है और जीव ही वीतरागी होता है।

दृष्टान्त—जैसे-ट्रेजरी में करोड़ रुपये रखे हों तो ट्रेजरार करोड़पति बन जाता है क्या ? मुनीम जी के पास करोड़ रुपये रख दिये हों तो क्या मुनीम करोड़पति हो जाता है ? अथवा बैंक में जो कैशियर रहता है उसके पास भी करोड़ों अरबों रुपयों का संकलन होता है, अरबों रुपयों की चाबी उसी के पास रहती है किन्तु क्या वह अरबपति कहलाता है ? नहीं, वह मालिक नहीं होता। उसी प्रकार रागादि भाव परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होते हैं लेकिन क्या पुद्गल रागादि भावों का स्वामी होता है क्या ? नहीं, रागादि भाव जीव में होते हैं अतः जीव ही स्वामी होता है। यदि रागादि का स्वामित्व पुद्गल में मानेंगे तो जीवन बर्बाद हो जायेगा।

उत्थानिका—अब प्रश्न हो सकता है कि "यह पुरुष काले वर्ण वाला है और यह धवल वर्ण वाला है" ऐसा जो व्यवहार है, वह व्यर्थ ठहरेगा ? इसका परिहार करते हुए आगे की गाथा में व्यवहार की सार्थकता दिखलाते हैं, अथवा दूसरे प्रकार से यों कहो कि इस प्रकार आयी हुई व्यवहारनय की निरर्थकता को लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा दूर करते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥६३॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥६४॥
एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६५॥

(त्रिकलम्)

अन्वयार्थ—(पंथे मुस्संतं) जैसे मार्ग में चलते हुए को लुटा हुआ **(पस्सिदूण)** देखकर **(ववहारी लोगा)** व्यवहारी जन **(भणंति)** कहते हैं कि **(एसो पंथो)** यह मार्ग **(मुस्सदि)** लूटता है, परन्तु **(कोई पंथो)** कोई मार्ग **(ण य मुस्सदे)** लूटता नहीं (अपितु मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है)।

(तह) वैसे ही (उसी प्रकार) **(जीवे)** जीव में **(कम्माणं णोकम्माणं च)** कर्मों और नोकर्मों का **(वण्णं पस्सिदुं)** वर्ण देखकर **(जीवस्स)** जीव का **(एस वण्णो)** यह वर्ण है ऐसा **(जिणेहिं)** जिनवर देव के द्वारा **(ववहारदो)** व्यवहार से **(उत्तो)** कहा गया है।

(एवं) इस प्रकार **(रस-गंध-फासा-संठाणादीय)** रस, गंध, स्पर्श, संस्थान आदि **(जे समुद्दिट्ठा)** जो कहे गए हैं **(सव्वे)** वे सभी **(ववहारस्स य)** व्यवहार से हैं, ऐसा **(णिच्छयदण्हू)** निश्चय के देखने वाले **(ववदिसंति)** कहते हैं।

अर्थ—जैसे मार्ग में चलते हुए को लुटता देखकर व्यवहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लूटता है। पर वास्तव में देखा जाये तो कोई मार्ग नहीं लूटता किन्तु उस मार्ग में पथिक ही लुटते हैं। उसी प्रकार जीव में रहने वाले कर्मों के और नोकर्मों के वर्णों को देखकर यह वर्ण जीव का है ऐसा व्यवहार से जिनेन्द्रदेव कहते हैं। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप और शरीर के आकार इत्यादि सभी व्यवहार से हैं, ऐसा निश्चयनय के जानने वाले लोग कहते हैं।

कोई लुटा पथिक को लख के बिचारा,
मोही कहे पथ लुटा व्यवहार धारा।
पै वस्तुतः पथ कभी लुटता नहीं है,
देखा गया पथिक ही लुटता सही है ॥६३॥
देहादि का सुभग वर्ण, निहार मानो,
लो 'जीव' सुन्दर सुदृश्य सुधा सुजानो।
ऐसा पुनीत जिनशासन शस्य बोले,
भाई अवश्य व्यवहार रहस्य खोले ॥६४॥
संस्थान आदिक शरीर विकार सारे,
ये स्पर्श रूप रस गन्ध गुणादि न्यारे।
हैं जीव के पर सुनो व्यवहार से हैं ?
ऐसे कहे मुनि निजातम में बसे हैं ॥६५॥

व्याख्या—कोई व्यक्ति मार्ग पर जा रहा हो और वहाँ कोई उसे लूट ले तो यह कहने में आता है कि यह मार्ग लूट लिया जाता है। लेकिन मार्ग कैसे लुटेगा ? मार्ग तो शुद्ध आकाश स्वरूप है, उसे कोई भी लूट नहीं सकता, किन्तु मार्ग को आधार लेकर चलने वाले पथिक लुटते हैं। जैसे—बोलते हैं कि यह सड़क दिल्ली जाती है। विचार करो यदि सड़क ही दिल्ली चली जायेगी तो चलने वाले को तो चलना ही नहीं पड़ेगा। "इन्दौर आ रहा है" ऐसा भी कहते हैं, चलते-चलते थोड़ी देर बाद इन्दौर लिखा हुआ पत्थर आ जाता है। उस पर लिखा होता है—इन्दौर ०। यह देखते ही इन्दौर जाने वाला सोचता है कि अब चलना बन्द करूँ। वस्तुतः विचार करें तो आप स्वयं बताइये कि इन्दौर आ रहा

है कि आप जा रहे हैं ? आप जा रहे हैं फिर भी व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार अधिकरणभूत जीव में होने वाले कर्म-नोकर्म के शुक्लादि वर्ण को देखकर व्यवहार से कहा जाता है कि अमुक जीव का अमुक वर्ण है। ऐसा निश्चय को जानने वाले जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। जैसा भगवान् ने कहा है वैसा ही समझना चाहिए अन्यथा बड़ा विपर्यास आयेगा। कोई भी व्यवहार व्यवस्थित नहीं रहेगा और व्यवहार के अभाव में निश्चय का भी अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। व्यवहार के बिना निश्चय की सही-सही जानकारी नहीं हो सकेगी। अतः व्यवस्थित व्यवहार को समझना ही जागृति का फल है। सावधानी का अर्थ है कि आप किसको किस रूप में स्वीकार करते हैं। स्वीकार करने योग्य है क्या नहीं, इसका ख्याल रखना।

अपने ज्ञान के माध्यम से जो प्रासंगिक भाव है उसे समझते हुए भी एकान्त से हटकर व्यवहार अथवा निश्चय पर ही अड़ जाना, यह एक कषाय के अलावा कुछ भी नहीं है। जिनेन्द्रभगवान् का अभिप्राय व्यवहार और निश्चय के प्रति उस प्रकार का नहीं है जैसा हम लोग समझते हैं। यदि वर्णादि को आत्मा के व्यवहारनय से भी नहीं मानेंगे तो फिर ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि कर्मों को काटना है। जब कर्म दिखते नहीं तो उन्हें कैसे काटेंगे ? जैसे कुल्हाड़ी से लकड़ी को प्रहार के द्वारा काटते हैं, वैसे ही कर्मों को हाथों से थोड़े ही काटा जा सकता है।

जिज्ञासा—परिणामों से कर्म बँधते हैं और परिणामों से ही कटते हैं। संक्लेश परिणामों से कर्म बँधते हैं और विशुद्धपरिणामों से कटते हैं। अतः यदि कर्म काटना चाहते हो तो परिणामों को सुधारो। जैसे-वस्त्र को गंदा होने पर साबुन आदि से धोकर उसे साफ किया जाता है वैसे ही विशुद्ध परिणामों से कर्म को धोने पर आत्मा साफ हो सकती है। कर्म का परिणमन अपने ढंग से हुआ करता है। जब हम व्यवहारनय से विभाव भावों को स्वीकारते हैं तो उनसे विमुक्त होने का भाव भी जागृत होता है। यदि हम वर्तमान में विभाव भाव को जीव का स्वीकार नहीं करेंगे तो उन्हें दूर करने का प्रयास भी क्यों करेंगे ? इस प्रकार व्यवहार और निश्चय के कथन का अर्थ आगम के अनुसार अच्छे ढंग से समझने का प्रयास करना चाहिए।

समयसारकलश की वह कारिका याद करो जो कुछ दिन पहले बतलाई थी। उसका भाव था कि शुद्ध बोध का अभाव होने पर जो तत्त्वज्ञान से अन्धे हैं वे राग को एकान्त से परद्रव्य के निमित्त से मात्र न मानकर पूर्णरूपेण पुद्गलमयी ही मानते हैं वे मोहवाहिनी (सेना) पर विजय नहीं पा सकते।

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः॥

तात्पर्य यह है कि जो शुद्धबोध के अभाव में ज्ञान नेत्र से अन्धे हैं वे तत्त्व ज्ञान का अभाव होने से राग को मात्र पुद्गलमयी ही मानते हैं। रागादि भाव जीव में उत्पन्न होते हैं अतः व्यवहार से भी जीव का नहीं मानते हैं वे मोहरूपी वाहिनी पर विजय नहीं पा सकते। शुद्ध बुद्ध आत्मस्वभाव को नहीं जानने

के कारण वे मोहरूपी वाहिनी को जीत नहीं पाते हैं। राग करने से आत्मा का कुछ नहीं गया यह कहना गलत है, किन्तु आचार्य कहते हैं कि कुछ नहीं बल्कि सब कुछ चला जाता है अर्थात् स्वभाव का परिणमन ही विभाव रूप हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे ३×३ इंच की स्फटिक मणि है, वर्ण सफेद है, वजन आधा किलो है, ये तीन उसकी पहचान हो गईं। किसी व्यक्ति ने स्फटिकमणि को देखा और उसके पास एक लाल गुलाब का फूल रख दिया। फूल रखते ही मणि लाल हो गई। अब बताओ–लालिमा किसमें हैं ? फूल में या स्फटिक में ? फूल स्फटिक रूप परिणमन कर गया या स्फटिक फूल रूप परिणमन कर गया ? स्फटिक लाल हो गई। यदि वहाँ से फूल अथवा स्फटिक को हटा दिया जाये तो स्फटिकमणि पुनः सफेद हो जाती है। स्फटिक में किसकी वजह से लालिमा आयी। फूल के कारण लालिमा आई यह निश्चित है, लेकिन स्फटिक में फूल प्रविष्ट नहीं होता है मात्र उसमें फूल की लालिमा का प्रभाव पड़ता है। यदि स्फटिक में फूल प्रवेश करता तो स्फटिक का वजन बढ़ना चाहिए। जबकि वजन में कोई अन्तर नहीं आता। फूल का एक भी प्रदेश मणि में प्रविष्ट नहीं होता और स्फटिक का एक भी प्रदेश फूल में प्रविष्ट नहीं होता। मात्र कलर में अन्तर आता है। स्फटिक मणि में जो भी परिवर्तन हुआ है वह फूल के कारण हुआ है, यह बात बिल्कुल सच है, लेकिन मात्र फूल का परिणमन नहीं है। स्फटिक में परिणमन करने की योग्यता होती है तभी मणि में परिणमन होता है अन्यथा फूल के सामने फूल रखकर देख लो, क्या फूल से फूल में कोई परिवर्तन होता है ? एकान्त से फूल की ही करामात है, ऐसा नहीं, स्फटिक की योग्यता का भी महत्त्व है। यदि एकान्त से फूल की ही करामात मानोगे तो फूल को पाषाण के सामने रखकर देख लो, कुछ अन्तर पड़ता है क्या ? नहीं। और यदि एकान्त से स्फटिकमणि की योग्यता से ही मणि लाल होती है, ऐसा मानोगे तो फूल को हटाने पर भी मणि लाल रहना चाहिए। जबकि ऐसा नहीं होता। उसी प्रकार जीव में राग रूप परिणमन करने की योग्यता होती है और कर्मोदय में उस रूप परिणमाने की क्षमता होती है। कर्मोदय के बिना एकान्त से जीव कभी भी रागी नहीं बन सकता तथा जीव के बिना कर्मोदय में कर्म स्वयं कभी रागी नहीं हो सकता।

जिज्ञासा—जीव रागी न हो इसके लिए क्या करना अनिवार्य है ?

समाधान—जीव राग रूप परिणमन न करे इसके लिए हमें अपने परिणामों को पुद्गल से हटा देना चाहिए। बस...। इतना ही पर्याप्त है। कर्मों को काटने का मतलब उन्हें पीटना नहीं है। वह कोई रस्सी का बन्धन नहीं है कि खुलती नहीं है तो उसे काट दिया जाए। ये परपदार्थ मेरे हैं, इस प्रकार का भाव छोड़ना होगा। तथा मैं अपने में एक अकेला हूँ, परमाणुमात्र भी परपदार्थ मेरा नहीं है। ये पर पदार्थ मेरे नहीं हो सकते और मैं भी इनका नहीं हो सकता। बस इस प्रकार का जो ज्ञान और श्रद्धान रूप परिणाम है वही सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन रूप परिणाम है। ऐसा करके देख लो क्या होता है।

गुलाब का फूल फूल में है और स्फटिकमणि स्फटिकमणि में है। यह फूल का ही कार्य है या

स्फटिकमणि का ही कार्य है यह एकान्त मानना गलत है। मणि में लालिमा है ही नहीं यह सब कहना भी गलत है। राग परद्रव्य में ही है, जीव में नहीं। स्फटिकमणि लाल ही है या जीव रागी ही है, ये सभी मान्यताएँ भ्रम रूप हैं। मणि लाल ही थी, लाल ही रहेगी, यह मानना भी भ्रम है। राग आत्मा में होते हुए भी यह राग मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए जीव में राग नहीं है, कथंचित् ऐसा कहना ठीक है, किन्तु राग का संवेदन करते हुए भी राग परद्रव्य में है, यह मानना बहुत बड़ी भूल है। इतनी बड़ी भूल तो मेरु पर्वत में भी नहीं हो सकती। यदि राग अपना नहीं है तो आँख मींचकर बैठने की बात क्यों करते हो ?

संवेदन राग का हो और आस्था वीतरागता की हो ऐसा हो सकता है, लेकिन वीतरागता की आस्था और उसी का संवेदन दोनों राग के साथ नहीं हो सकते हैं। आस्था और संवेदन दोनों का व्याप्ति के साथ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आस्था किसी भी समय अर्थात् त्रिकाल की हो सकती है किन्तु संवेदन वर्तमान का ही होता है।

इस प्रकार जो जीव राग भाव को छोड़ना चाहता है वह स्वयं में होने वाले राग भाव का विकल्पों का पश्चाताप करता है कि यह राग का विकल्प कब छूटे ? राग भाव को छोड़ना है तो स्वभाव का आधार लेना ही पड़ेगा। स्वभाव का आधार लेने पर विकल्प छूटने लगते हैं, परन्तु एकदम नहीं छूटते। फिर भी स्वभाव का आधार लेना ही चाहिए। इस प्रकार स्फटिक मणि का, टिकट का और बताशा इन तीनों का उदाहरण याद रखना।

जिसमें जीवत्व नहीं होता उसे अजीव कहते हैं। आगम ग्रन्थों और अध्यात्म ग्रन्थों में जीव की भिन्न-भिन्न पहचान बतलाई है। आगमग्रन्थों में जीव का लक्षण उपयोग बताया है। **तत्त्वार्थसूत्र** में **आचार्य उमास्वामी जी** ने एक सूत्र लिखा है–**उपयोगो लक्षणम्** अर्थात् उपयोग जीव का लक्षण है। अध्यात्मग्रन्थों में जीव का लक्षण या स्वभाव शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय स्वीकार किया है। जो सिद्धत्व अवस्था में पाया जाता है। वही शुद्ध स्वभाव हमारे लिए प्राप्तव्य है।

तत्त्व सात होते हैं। तत्त्व का अर्थ किसी भी वस्तु का स्वभाव। हमें जीवद्रव्य को नहीं किन्तु जीवतत्त्व को प्राप्त करना है। मैं जीवद्रव्य पहले से ही हूँ, उसे क्या प्राप्त करना किन्तु जीवद्रव्य की शुद्ध अवस्था जो तत्त्व है उसे प्राप्त करना है। सात तत्त्वों में से मोक्ष तत्त्व स्वरूप जो जीव तत्त्व है वही उपादेय है। आगमग्रन्थों में दृष्टि को स्थिर रखने के लिए कहा जाता है। उपयोग को स्थिर रखना और दृष्टि अर्थात् आस्था को स्थिर बनाने में अन्तर है। उपयोग को स्थिर करने का कार्य जीव के जो विभाव भाव हैं उससे जीव का स्वभाव पृथक् है उसमें श्रद्धान करने से होता है। जीव को अन्य द्रव्यों से पृथक् निरूपण करने का काम आगमग्रन्थों का है और पृथक् निरूपण होने के उपरान्त उसमें उपयोग को स्थिर करने का काम अध्यात्मग्रन्थों का होता है।

गाथा में कहा गया है कि वस्तुतः पथ नहीं लुटता, पथिक लुटता है, किन्तु आशय वही होने से पथ लुटता है ऐसा कहा जाता है।

जैसे–**भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां** अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में हानि–वृद्धि होती है अथवा भरत ऐरावत क्षेत्र की हानि वृद्धि होती है। इन दोनों का क्या अर्थ है ? व्याकरण में षष्ठी और सप्तमी कारक होता है। भरत ऐरावत की यह सम्बन्ध कारक है तथा भरत ऐरावत में यह सप्तमी अर्थात् अधिकरण कारक होता है। जैसे–उनकी और उनमें यह कहने में अन्तर होता है उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रसंग के अनुसार अर्थ निकाल लेते हैं। धार्मिक क्षेत्र में भी ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए, जिससे सही–सही रास्ता मिल जाये। निश्चय की ओर हमारी गति होने लग जाए।

पथ को आधार बनाकर जो यात्री पथ पर जाते हैं वे लुट जाते हैं, यहाँ यही भाव है उसी प्रकार अधिकरण भूत जीव में कर्म–नोकर्म का व्यवहार करके जीव को काला, गोरा, नीला आदि रूप व्यवहारनय से कहते हैं। अध्यात्मग्रन्थों में व्यवहारनय से भगवान् के गुणों का वर्णन उनके वर्णादि को लेकर भी होता है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा, कर्मनिर्जरा की अपेक्षा अनन्तगुणों की अपेक्षा से भी अध्यात्मग्रन्थों में भगवान् के गुणों का वर्णन किया जाता है।

रत्नकण्डकश्रावकाचार और **अष्टपाहुड** आदि ग्रन्थों में भगवान् अठारह दोषों से रहित होते हैं, ऐसा कहा है। निषेधपरक कथन किया है, विधिपरक नहीं। कौन–कौन से गुण होते हैं यह विधिपरक कथन होता है। जैसे–भगवान् वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं, यह विधिपरक कथन है। किन्हीं–किन्हीं ग्रन्थों में विधिपरक, किन्हीं में निषेधपरक और किन्हीं–किन्हीं ग्रन्थों में विधि और निषेधपरक दोनों प्रकार से कथन किया गया है। अरहन्त भगवान् के द्रव्य, गुण, पर्याय का वर्णन १३ वें गुणस्थान की अपेक्षा कथंचित् शरीराश्रित भी होता है। यह कथन परम शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा नहीं हो सकता।

जब कोई कानूनी लेख सामने आता है तो सामान्य व्यक्ति २–३ बार पढ़ने के बाद भी सही–सही अर्थ नहीं निकाल पाता। उसी को वकील वगैरह पढ़ते हैं तो एक बार में ही सही अर्थ समझ जाते हैं, क्योंकि उनको वह विषय परिचित होता है। निषेध वाचक कथन बहुत लोगों को समझ में आ जाता है, बहुत लोगों को समझ में नहीं आता। संसारी प्राणी को भगवान् के गुण दिखाई नहीं देते, अतः उन्हें पॉजीटिव कथन समझ में नहीं आता किन्तु नेगेटिव कथन, निषेधपरक कथन के द्वारा तत्त्वों का स्वरूप जल्दी समझ में आ जाता है। बिना किताब को पढ़े–सुने ही समझ में आ जाता है। पशु भी समझ जाते हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती गाय, पशु वगैरह के लिए कर्मकाण्ड आदि शास्त्र पढ़ने को नहीं कहा, क्योंकि उनमें पढ़ने की क्षमता नहीं होती। यदि उन्हें यह शास्त्र है ऐसा समझ में आता तो **कर्मकाण्ड, समयसार** आदि शास्त्रों को मुँह में नहीं डालते, उन्हें कभी नहीं खाते।

आचार्य कहते हैं कि निषेध रूप कथन लचकदार नहीं होता। वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना विधिपरक कथन महत्त्वपूर्ण होता है। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** जो कि उद्‌भट दार्शनिक थे, उन्होंने कहा है कि–भगवान् अठारह दोषों से रहित होते हैं। ऐसा श्रद्धान करने पर सम्यग्दर्शन होता है। बुद्धि के ऊपर बहुत बल नहीं डालना चाहिए। मेहनत करो, ऐसा कहने से आँखों की कसरत से अभिप्राय नहीं है। शरीर के माध्यम से कसरत हो परन्तु आँखों की और बुद्धि की कसरत नहीं होना चाहिए। आज यही हो रहा है। हर बात में बुद्धि चलती है, बुद्धि में तर्क होते हैं। वस्तु का स्वभाव तर्क के अगोचर होता है। कहा भी है–**स्वभावोऽतर्कगोचरः**। तात्पर्य यह है कि कुछ तत्त्वों में बुद्धि की कसरत करो और कुछ तत्त्वों में श्रद्धा रखो। ''**छद्मस्थ अवस्था में बुद्धि की अपेक्षा आस्था और विश्वास को महत्त्व दिया जाता है।**'' आगमग्रन्थों में बहुत सारे विषय ऐसे आते हैं जो श्रद्धागम्य ही होते हैं।

अर्हत् पद भी अपने आप में एक पद है, वह जीव का स्वरूप नहीं है। **णमो अरिहंताणं** यह पद अवस्था है तथा **णमो सिद्धाणं** यह पद नहीं किन्तु स्वरूप है। **णमो अरिहंताणं** पद बोलने पर सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सामने नहीं आता, क्योंकि सिद्ध स्वरूप अरहन्त पद के बाद प्राप्त होता है। अरहन्त परमेष्ठी को द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा जानने से हम जीवत्व को सिद्ध परमेष्ठी में शुद्धत्व के रूप में देख सकते हैं। अरहन्त परमेष्ठी पूर्ण स्वस्थ नहीं हैं, चूँकि उनके चार अघातिया कर्म विद्यमान हैं फिर भी उनको द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा जानने से हमारे मोह का क्षय हो सकता है। सिद्ध परमेष्ठी को द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा जानने के लिए आपके पास कोई साधन नहीं है। इसलिए सिद्ध परमेष्ठी बुद्धि का नहीं अपितु ध्यान का विषय बनते हैं। आस्था का विषय बनते हैं।

प्रवचनसार ग्रन्थ में **आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव** ने स्वयं लिखा है कि–

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्थगुणत्थपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

अर्थ–व्यवहारनय से भगवान् के बाह्य स्वरूप की अपेक्षा परमौदारिक शरीर पीला, सफेद, नीला आदि रूप है। रक्त का वर्ण श्वेत है, वज्र के समान अस्थियाँ हैं, इत्यादि वर्णज्ञान से केवल जड़ की ही ज्ञान नहीं होता, किन्तु भगवान् के भी शरीर के वर्णादि का ज्ञान होता है। आत्मा की कुछ विशिष्ट परिणति होने से उनके वर्ण रक्तवर्ण आदि का भी विशिष्ट परिणमन होता है। इनके परमौदारिक शरीर को देखकर यह निश्चित हो जाता है कि भगवान् कवलाहार नहीं करेंगे, बिना खाये-पिये भी वे एक पूर्वकोटि वर्ष तक विहार, उपदेश आदि करेंगे। परमौदारिक शरीर की प्राप्ति होना, यह ऋद्धि-सिद्धि तपस्या का फल है। अरहन्त परमेष्ठी को ही इस शरीर की प्राप्ति होती है। अतः यह शरीर भी अरहन्त परमेष्ठी की एक पहचान है। यह साधन है अरहन्त परमेष्ठी रूप साध्य की पहचान करने में।

स्वाध्याय एवं विधान—

स्वाध्याय करने से भी असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है और विधान करने से भी असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है, लेकिन धारणा क्या बन जाती है कि–यह विधान आदि करना कर्मकाण्ड है। क्रियाकाण्ड है। पूजन, विधान आदि में जो कर्मदहन, मोक्षफल प्राप्ति आदि की जो भावना–श्रद्धा जुड़ी रहती है वह ध्यान की ओर ले जाती है। भावना, आस्था, श्रद्धा होने से, ज्ञानकाण्ड, क्रियाकाण्ड, आस्थाकाण्ड आदि सहज ही घटित हो जाते हैं। संगीत के साथ पूजन पढ़ते समय उसमें इतने अधिक लीन हो जाते हैं कि शब्दों से अर्थ और अर्थ से भाव की ओर यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। संगीतमय विधान आदि के माध्यम से विधान करने वाले शब्दों के वाच्यभूत अर्थ की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। स्वाध्याय के समय आपने किताब को माध्यम बनाया और विधान के समय वाद्य को साधन बनाया, विधान को साधन बनाया। लेकिन उपयोग दोनों का उसके भाव की ओर जा रहा है। स्वाध्याय में बाह्य संयम दिखता है, पूजन में संयम नहीं दिखता किन्तु दोनों में एकाग्रता की दृष्टि से समानता हो सकती है। विधान में सावद्य होता है, स्वाध्याय निरवद्य होता है। विधान में राग की मुख्यता एवं सावद्य होते हुए भी तल्लीनता इतनी अधिक हो सकती है कि जैसे ध्यान में एकाग्रता हो जाती है। स्वाध्याय करने वाले व विधान आदि करने वालों का उद्देश्य केन्द्र में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एवं कर्मक्षय का ही होता है।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव में वर्णादि का कथन किया है। तथा निश्चयनय से शुद्ध जीव का स्वरूप ही उपादेय है, ऐसा कथन भी किया है।

ध्यान के विषय में विशेष जानकारी—

आगम पद्धति से ध्यान कहने से धर्म और शुक्ल दो ध्यान मुख्यता से लिए हैं। **ध्यानशतक** और **ज्ञानार्णव** में ध्यान का विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन किया गया है। वह सभी के लिए पठनीय है। ध्यान के प्रकरण में **श्री धवला** में **आचार्य वीरसेनस्वामी** ने जो वर्णन किया है उससे ऐसा नहीं लगता कि धर्मध्यान बहुत निचली अवस्था में होता हो। वैसे भी आचार्यों ने धर्मध्यान के मुख्य स्वामी अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनिराज को स्वीकार किया है। आचार्यों ने धर्मध्यान का फल मोह का क्षय स्वीकार किया है। **श्री धवला** में स्वयं **वीरसेनाचार्य** ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि धर्मध्यान की धारा गुणस्थान की अपेक्षा बहुत ऊपर १० वें गुणस्थान तक पहुँच जाती है। कुछ लोग धर्मध्यान को विकल्पात्मक मानते हैं। विकल्प सो अध्यवसान, अध्यवसान सो बन्ध का कारण, बन्ध सो संसार का कारण है। जो बन्ध और संसार का कारण होता है वह संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। ऐसा व्याख्यान भी आज किया जा रहा है। ऐसे लोगों को सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन अच्छे ढंग से कर लेना चाहिए। श्री धवला आदि ग्रन्थों का अध्ययन अच्छे से कर लेना चाहिए। णमोकार मन्त्र के माध्यम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसा भी कहा गया है।

णमोकार मन्त्र को एक बालक भी पढ़ता है, पालक भी पढ़ता है, श्रावक, त्यागी-व्रती भी पढ़ता है और एक श्रमण, तपस्वी, साधक भी पढ़ता है। श्रमण में भी ऋषि, मुनि, यति, अनगार सभी पढ़ते हैं। सामान्य से हम ऋषि, मुनि आदि को एक समान अर्थात् पर्यायवाची शब्द के रूप में मानते हैं, लेकिन इन सभी के लक्षणों में भेद होता है।

दृष्टान्त—जैसे—कोई एल॰ एल॰ बी॰ है, बाद में वकील हो गया। वकील में भी कोई जिलास्तर का, कोई हाईकोर्ट का, कोई सुप्रीमकोर्ट का हो जाता है। कोई डॉयरेक्ट जज बन जाता है, कोई पहले वकील होता है बाद में जज बनता है। लेकिन एल॰ एल॰ बी॰ किए बिना कोई वकील नहीं बन सकता और प्रत्येक वकील जज भी नहीं बन सकता। इसी प्रकार २८ मूलगुणों का पालन करने वाले साधक को ही सामान्य से ऋषि, मुनि, यति, अनगार संज्ञा होती है। बिना दीक्षा के, बिना २८ मूलगुण धारण किये कोई भी ऋषि, मुनि, यति, अनगार नहीं बन सकते। फिर भी दीक्षोपरान्त विशेष साधना श्रम से श्रमण, यत्नशील साधक को यति, ऋद्धिधारी मुनियों को ऋषि एवं गृहत्याग की मुख्यता से अनगार कहे जाते हैं। इन सभी साधकों के धर्मध्यान की क्वालिटी भिन्न-भिन्न होती है। ये सभी णमोकार मन्त्र का चिन्तन, मनन, ध्यान भी करते हैं, लेकिन सभी की अनुभूति भिन्न-भिन्न होती है क्योंकि उनके चिन्तन, मनन, ध्यान की क्वालिटी भिन्न-भिन्न होती है।

आठवीं या नवमीं पुस्तक में णमोकार मन्त्र को साक्षात् केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए भी कारण रूप में स्वीकार किया है। **णाणज्झाणं परो णमोक्कारो संपुण्णो।** ध्यान क्या है ? अरहन्त परमेष्ठी का जाप, ज्ञान और ध्यान तीनों में अन्तर है। णमो अरहंताणं आदि पदों की आवृत्ति का नाम जाप है। अरहन्त भगवान् के गुणों का चिन्तन करना ज्ञान है और ध्यान इन दोनों से उत्कर्ष अवस्था का होता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत रूप ध्यान होता है। इन तीनों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता चला जाता है। उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त धर्मध्यान ही १० वें गुणस्थान के अन्त में मोहनीयकर्म के क्षय का कारण होता है। अतः धर्मध्यान को छोटा नहीं समझो। उसके कई भेदोपभेद होते हैं जो कि हमारी चित्त की साधना, साधना का उद्देश्य आदि पर निर्धारित करता है। ध्यान का मुख्य कार्य उद्देश्य पर आधारित होता है। मन्त्र के माध्यम से यदि जहर दूर करने का उद्देश्य है तो वह दूर हो जाता है किन्तु उससे असंख्यातगुणी निर्जरा नहीं होगी, किन्तु जिसने मन्त्र का उच्चारण कर्मनिर्जरा के उद्देश्य से किया है उसके कर्मनिर्जरा तो होगी ही साथ में उससे लौकिक सिद्धि भी हो जायेगी।

जिज्ञासा—आचार्यश्री! जो मन्त्र द्वादशांग का सार रूप है ऐसे णमोकार मन्त्र का जाप आदि करने पर भी वह फलदायी क्यों नहीं होता ?

समाधान—एक बार जहर उतारने वाले एक व्यक्ति से किसी ने पूछा कि जहर उतारते समय तुम कौन सा मन्त्र पढ़ते हो ? उसने कहा—मैं णमोकार मन्त्र पढ़ता हूँ। यह तो सभी लोग पढ़ते हैं, मैं भी पढ़ता हूँ, फिर मन्त्र के पढ़ने से मुझे फल क्यों नहीं मिलता ? आचार्य कहते हैं कि जिस मन्त्र के पढ़ने

से द्वादशांग का सारा पाठ हो जाता है, समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है, केवलज्ञान की प्राप्ति भी हो सकती है, उस पर आपको समीचीन आस्था नहीं है। आप लोग सोचते हैं कि यह मन्त्र तो चलता ही रहता है, इसे तो हम बचपन से पढ़ते आ रहे हैं, उसमें आस्था, श्रद्धा का बराबर पुट नहीं होता, इसलिए वह सफलता को प्राप्त नहीं होता। आचार्यों ने कहा है कि–''जो समीचीन श्रद्धा के साथ १०८ बार भी णमोकार मन्त्र का जाप कर लेता है तो उसे एक उपवास का फल प्राप्त होता है।'' णमोकार मन्त्र की महिमा का तो कोई पार ही नहीं है। उद्देश्य मात्र ठीक होना चाहिए, आस्था–श्रद्धा और एकाग्रता भी होना चाहिए।

ज्ञानार्णवकार श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं कि ध्यान वही कर सकता है जो पहुँचा हुआ योगी हो। आज थोड़े से अभ्यास से कोई भी यह सिद्ध करता है कि मैंने निगोद से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक का संस्थानविचय धर्मध्यान कर लिया, जबकि संस्थानविचयधर्मध्यान के स्वामी अप्रमत्त-गुणस्थानवर्ती मुनिराज होते हैं। गुणस्थान–मार्गणास्थान को केवल रटने से कुछ नहीं होता। ध्यान करने वाले का उद्देश्य मात्र ज्ञान करना नहीं किन्तु पापों से ऊपर उठने का होना चाहिए। तब उसे पुण्य बन्ध ही नहीं किन्तु पाप कर्म की निर्जरा भी होती है। यह रूपस्थ, रूपातीत धर्मध्यान के अन्तर्गत होता है। ज्यों ही संस्थान विचयधर्मध्यान में उत्कृष्टता आती है तो उसका फल मोह का क्षय रूप देखने में आता है। एक ही स्थान में उपयोग लगने से ध्यान होता है, उसके साधन भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। मन्त्र के अतिरिक्त **अण्णं च गुरुवएसेण** अर्थात् गुरु उपदेश से जो भी मन्त्र प्राप्त हो वह भी साधना के रूप ले सकते हैं। कोई भी मन्त्र जाप करो, उद्देश्य केवल पवित्र होना चाहिए, कर्मनिर्जरा की उत्कृष्ट भावना होना चाहिए।

इस प्रकार उक्त समस्त कथनों से ज्ञात हो जाता है कि अरहन्त भगवान् के गुणों का चिन्तन करते समय अन्य सारे विकल्प दूर हो जाते हैं।

जिज्ञासा—परमेष्ठी के ध्यान का कोई क्रम होता है या सीधा आत्मध्यान होता है ?

समाधान—परमेष्ठी बनने का क्रम तो है, पहले साधु परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी बनते हैं लेकिन इनके ध्यान करने का कोई क्रम निश्चित नहीं है। किसी भी क्रम से किसी भी पद का ध्यान किया जा सकता है। लेकिन आत्मध्यान के पूर्व पंचपरमेष्ठी का ध्यान आवश्यक है। आज आप लोग पंचपरमेष्ठी का ध्यान छोड़कर सीधा आत्मध्यान करने लग जाते हो कि ''मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं निरंजन हूँ, मैं नित्य हूँ'' इत्यादि। लेकिन ध्याता को पहले यह चिन्तन करना चाहिए कि अरहन्त भगवान् कैसे बने ? सिद्ध भगवान् कैसे बने ? अरहन्त भगवान् किसका ध्यान करके अरहन्त भगवान् बने ? आचार्य कहते हैं कि जो भी अरहन्त बने हैं, उन्होंने पहले अरहन्त भगवान् का ध्यान किया है, तब अरहन्त बने हैं। आप लोग मैं शुद्ध हूँ, ऐसा कहते हैं और पाँच मिनट भी शान्त नहीं बैठ पाते। मैं अरस, अरूपी हूँ' ऐसा कहते हो और एकाध घण्टे की भी भूख–प्यास सहन नहीं कर पाते हो। एक तरफ समयसार

का वाचन और दूसरी तरफ हाथ में पानी या दूध का गिलास रहता है। ऐसी स्थिति में भी आत्मध्यान, भेदविज्ञान और शुद्धात्म तत्त्व की बातें करते हो। जहाँ ध्यान की बात आती है वहाँ ज्ञान की सभी बातें गौण हो जाती हैं। अध्यात्मग्रन्थों में मुख्य रूप से ध्यान की बात आती है।

जिज्ञासा—जीवादि का वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध क्यों नहीं है ?

समाधान—यदि जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य सम्बन्ध एकान्त से माना जायेगा तो जीव का अभाव हो जायेगा। फिर भी शुद्धनिश्चय से वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु व्यवहारनय से इन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किया है, क्योंकि अनादिकाल से ये दोनों एकमेक हो गये हैं, यह तादात्म्य सम्बन्ध आज तक पृथक् नहीं हुआ। जैसे–राख से अग्नि को दबा देने पर अग्नि दिखाई नहीं देती, फिर भी अग्नि राख नहीं होती, राख कभी अग्नि नहीं हो सकती। राख के कारण अग्नि देखने में नहीं आ रही है, यह अलग बात है। उसी प्रकार शरीर के कारण आत्मा नहीं दिख रहा है। लेकिन ''शरीर सो मैं हूँ'' ऐसा कहना गलत है। इस प्रकार व्यवहारनय से वर्णादिक जीव के हैं लेकिन शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं। व्यवहारनय का समर्थन करने वाली दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

शुद्ध जीव ही उपादेय है इस व्याख्यान को लेकर १२ गाथाओं द्वारा दूसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

समुदायपातनिका—इसके आगे निश्चयनय से जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, इसी बात को दृढ़ करने के लिए आठ गाथाओं पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहाँ पहले व्यवहारनय से संसारी जीव के वर्णादिक के साथ एकमेकता है, किन्तु मुक्त अवस्था में नहीं, इस प्रकार बतलाने के लिए **तत्थभवे जीवाणं** इत्यादि रूप से एक सूत्र है। फिर **जीवो चेव हि एदे** इत्यादि तीन गाथायें हैं। जिनमें यह कहा गया है कि यदि जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जायेगा तो जीवद्रव्य का ही अभाव हो जायेगा, यह बड़ा भारी दूषण आयेगा। फिर **एक्कं च दोण्णि तिण्णिय** इत्यादि तीन गाथायें ऐसी हैं जिनमें बतलाया गया है कि एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमासों का जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। और वर्णादिक का भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। इसके आगे **मोहणकम्मस्सुदया** इत्यादि एक गाथा सूत्र है, जिसमें मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का भी जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही अन्तरंग में होने वाले रागादि भावों का भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा पूरे होने वाले तीसरे स्थल की यह समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—अब यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य सम्बन्ध क्यों नहीं है, इसका उत्तर देते हैं–

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६६॥

अन्वयार्थ–(वण्णादी) जो वर्णादि **(संसारत्थाण)** संसार में स्थित **(जीवाणं)** जीवों के लिए **(तत्थभवे)** उस भव में **(होंति)** होते हैं और **(संसारपमुक्काणं)** संसार से मुक्त हुए जीवों के **(हु)** निश्चय से **(वण्णादओ केई)** वर्णादिक कोई भी **(णत्थि)** नहीं है। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है।

अर्थ–संसार में स्थित जीवों के साथ वर्णादिक का सम्बन्ध है, परन्तु संसार रहित मुक्त जीवों के साथ वर्णादिक का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

औपादिकी परिणती बदबू निराली,
संसारि जीव भर में दुःख शील वाली।
संसार मुक्त शुचि आतम में अकेली,
सच्चेतना महकती सुखदा चमेली ॥६६॥

व्याख्या–संसार दशा में जीव के साथ वर्णादि का सम्बन्ध रहता है किन्तु संसार से जो मुक्त हैं उनके साथ वर्णादि का सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि जैसा तादात्म्य सम्बन्ध जीव के साथ केवलज्ञानादि गुणों का और सिद्धत्वादि पर्यायों का है वैसा तादात्म्य सम्बन्ध वर्णादि के साथ अशुद्धनय से भी जीव का नहीं है। संसार दशा दुग्धवत् और मुक्तदशा घृतवत् है।

दृष्टान्त–दूध सफेद है और घी भी सफेद है, लेकिन दोनों की सफेदी में अन्तर है। आँख भी सफेद है, चूना भी सफेद है किन्तु दोनों में अन्तर है। दूध गोरस का आदि रूप है और घृत गोरस का अन्तिम रूप है। जो दूध की पहचान करेगा वही घी की पहचान करेगा। जिसने घी का पूर्व रूप देखा है वही दूध में घी होता है यह विश्वास के साथ कह सकता है। घी दूध से ही प्राप्त होता है। इसका उत्पादन दूध के बिना सम्भव नहीं, इसकी धारणा अभी भी पक्की नहीं बन पा रही है। इसके लिए कुछ संयत होकर सुनना पड़ता है, श्रद्धान भी करना होता है। हम घी को कहाँ तक उत्पन्न कर सकते हैं, यह ज्ञान होना आवश्यक है। सिद्ध परमेष्ठी घृत के समान हैं। घी पुनः कभी दुग्ध रूप परिवर्तित नहीं होता उसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी कभी पुनः संसार में जन्म नहीं लेते।

सिद्ध परमेष्ठी की बात तो दूर है साधु परमेष्ठी जैसी भी अपनी चर्या अभी नहीं बन पा रही है। **गिम्हे गिरिसिहरत्था योगिभक्ति** की इन पंक्तियों के अर्थ में उपयोग लगाकर सोचते हैं तब ज्ञात होगा कि हम क्या कर रहे हैं ? और हमारा क्या स्वरूप है ? योगिजन पर्वत पर जाकर सूर्य की तरफ मुख करके ध्यान करते हैं, क्या उनको गर्मी नहीं लगती होगी ? हमें हमेशा उच्च आदर्श की ओर देखना चाहिए। उच्च आदर्श की ओर देखने से ऐसा लगता है कि अभी हमारा उस क्षेत्र में श्रीगणेश भी नहीं है। पूर्व में पहली कक्षा से शिक्षा प्रारम्भ होती थी, आज तो के॰जी॰ प्रथम और द्वितीय आदि होते हैं।

हमें संसार दशा का ही ज्ञान है, मुक्तदशा पर श्रद्धान है तो भी बहुत है। घी बनने के उपरान्त दूध रूप पूर्व पर्याय का दर्शन नहीं होता। दूध से घी बनने पर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण में अन्तर आ जाता है। सिद्धपरमेष्ठी में हम अरहन्त परमेष्ठी के दर्शन नहीं कर सकते। अरहन्त परमेष्ठी की आराधना अपने आप में अनूठी है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो परमेष्ठी की आराधना प्रतिपल करता है ? श्वासोच्छ्वास के साथ मन्त्र का क्रम निश्चित करके जाप चिन्तन आदि करना यह भी बहुत अनूठी साधना मानी जाती है। इससे शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। पूरा का पूरा आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है। साधना के अभाव में ज्ञान का विकास होने से हम आगे नहीं बढ़ सकते हैं, किन्तु साधना के माध्यम से ज्ञान भी विकसित होगा और जीवन भी विकास के क्रम में आगे बढ़ेगा। पहली कक्षा में भी णमोकार मन्त्र और मुनि बनने पर भी वही णमोकार मन्त्र। कोई-कोई व्यक्ति कायोत्सर्ग करते समय हाथ पर इधर-उधर अंगुलियाँ घुमाते रहते हैं और इधर-उधर देखते भी रहते हैं। साधना की प्राथमिक अवस्था में ऐसा होता है लेकिन अभ्यास हो जाने के बाद, ऊपर पहुँचने के बाद बिना आलम्बन से माला-जाप नहीं कर पाये तो क्या ? उच्च साधक योगी हाथ पर अंगुली घुमाये बिना साधना के माध्यम से २०-२० माला तक फेर लेते हैं। आगे जाकर एक ही पद का आधार लेकर ध्यान लगाते हैं। देखो तो, योगियों की साधना कितनी उत्कृष्ट होती है। इसी के माध्यम से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है।

ध्यान में दो प्रकार की विधि होती है-१. निरालम्बन, २. सालम्बन। अध्यात्मग्रन्थों में निरालम्बन पद्धति को महत्त्व दिया गया है। आलम्बन की दृष्टि से १४ वें गुणस्थानवर्ती साधकों को विषय बनाया जा सकता है। १३ वें और १४ वें गुणस्थानवर्ती साधकों को आलम्बन बनाने पर देखा जाए तो १३ वें गुणस्थानवर्ती अरहन्त परमेष्ठी को नेत्रों से भी देखा जा सकता है, लेकिन अन्तःचक्षु के माध्यम से यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि ये १३ वें गुणस्थानवर्ती हैं या १४ वें गुणस्थानवर्ती हैं। वह तो केवलज्ञानी का ही विषय हो सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी शुभोपयोगी मुनिराज से कहते हैं कि यदि शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं हो रहा है तो जो शुद्धोपयोगी हैं उनके पास जाकर बैठ जाइये, किन्तु उन्हें शुभोपयोग की ओर आकृष्ट न करें, उन्हें डिस्टर्ब न करें। जैसे-माँ होती है, वह पालने में बच्चा सोया है, यह देख लेती है तो वहीं चुपचाप बैठ जाती है, उसे डिस्टर्ब नहीं करती, जगाती नहीं।

विशेष उद्बोधन—अन्य मत वाले संत-कृपा या गुरुकृपा को बहुत महत्त्व देते हैं। वे लोग जब कभी यहाँ दर्शन करने आ जाते हैं तो चुपचाप बैठकर दूर से दर्शन करते हैं। अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के साथ दर्शन करते हैं। उस समय यहाँ के लोग उनसे कहते हैं कि आपने दर्शन कर लिए अब आपको यदि कुछ पूछना हो तो पूछ सकते हो। तो वे बोलते हैं कि-क्या पूछे ? इतने महान् गुरु से ? इनके तो दर्शन ही बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और चुपचाप दर्शन लाभ लेते रहते हैं।

वस्तुतः दर्शन करने का, सत्संग करने का अर्थ शान्ति प्राप्ति है। दर्शन करने का अर्थ छीना-

झपटी है क्या ? दर्शनलाभ की भी एक पद्धति होती है। उसी पद्धति से करना चाहिए, शान्ति होना चाहिए। स्वयं भी शान्ति से दर्शन करें और दूसरों को भी शान्ति से दर्शनलाभ का अवसर देना चाहिए। यहाँ तो दस व्यक्ति दर्शन करने आते हैं तो कितना अधिक शोर होता है, तेज आवाज होती है। जबकि दर्शनलाभ की पद्धति तो ऐसी होनी चाहिए कि हजारों व्यक्ति भी एक साथ शान्ति से दर्शन कर सकें। आवाज नहीं होना चाहिए। गंभीरता होना चाहिए। शान्ति से दर्शन करना चाहिए। बातचीत नहीं करना चाहिए। दर्शन की भावना सभी की होती है लेकिन दर्शन के साथ विवेक भी आवश्यक है। आचार्य कहते हैं कि–शुद्धोपयोग की पात्रता तो रखो। अपना परिचय नहीं, आत्मा का परिचय देओ, अपने उद्देश्य का परिचय देओ। मुझे तो दर्शन करना है, यह भाव बस होना चाहिए, दर्शन हो गया। इस बीच दर्शन करने वाले कब आये, कब चले गये ? पता भी नहीं चलना चाहिए। मुझे तो यह बहुत अच्छा लगता है किन्तु आप लोग तो दर्शन करने आते हैं, जाते हैं, बीच में सब बता जाते हैं। अर्थात् बातचीत करते हैं, शान्ति का वातावरण विनष्ट होता है।

जिज्ञासा–इस गाथा के अध्ययन से क्या लाभ मिला ?

समाधान–इस गाथा के अध्ययन से यह ज्ञान हुआ कि निश्चय से शरीर और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। अत: शरीर को आत्मा न मानें, क्योंकि आत्मा आत्मा है, शरीर शरीर है। शरीर के प्रति मोह होने के कारण मोही प्राणी शरीर को सुरक्षित रखना चाहते हैं। कोई भी शरीर को मिटाना नहीं चाहता फिर प्रत्येक समय शरीर मिट रहा है। जैसे–नवीन वस्त्र है, उसे आप कहीं भी कितनी भी सुरक्षा में रखो फिर भी वह प्रतिपल जीर्ण-शीर्ण होता रहता है। पुद्‌गल का स्वभाव ही पूरण-गलन है, अत: प्रत्येक वस्तु में प्रति समय पूरण-गलन की प्रक्रिया होती रहती है। इसे हम रोक नहीं सकते।

दृष्टान्त–एक व्यक्ति ने अपने कार्यकाल में वस्त्र खरीदा और भूल गया। ऊपर छत से वह मकान के पीछे गिर गया। ५०-६० वर्ष बाद वह वस्त्र उसे मिला। उसने सोचा उसे उठा लें। वह उसे उठाने गया तो वह वस्त्र हाथ से उठाने में ही फटने लगा। वह वस्त्र गल गया था। ऐसे ही पुराने कागज, जो घड़ी किए हुए रखे हों, वे हाथ में लेते ही फटने लगते हैं। भले ही उसका कोई उपयोग नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि वस्तु का उपयोग करो या न करो पुद्‌गल का स्वभाव पूरण-गलन है वह तो उसमें होता ही रहता है। जैसे–बाजार में कोई भी फल आता है वह पहले एक-दो हफ्ते फ्रेश रहता है। फिर जब मौसम ढलने लगता है तो फलों में झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं। उसी प्रकार मनुष्य की जवानी चली जाती है तो चेहरे पर, गालों में झुर्रियाँ आ जाती हैं। आम में रस तो है, पर झुर्रियाँ आ गई हैं, तो उसके रस, वर्ण, गन्ध आदि में अन्तर आ जाता है। उन आमों को वही खरीदते हैं जो गरीब हैं या कम पैसे में ज्यादा खरीदने वाले होते हैं। एक बात और कह दूँ कि कुछ लोग मौसम के फल लाकर रख लेते हैं और सर्दी के समय निकाल लेते हैं। ऐसे लोग बेमौसम फल खाते हैं और जो बेमौसम फल खाते हैं वे बेमौसम बीमार पड़ जाते हैं। मौसम के अनुकूल वातावरण न रहने से उनमें बहुत जल्दी

परिवर्तन होने लगता है।

उसी प्रकार यहाँ कह रहे हैं कि छद्मस्थ अवस्था में भी निश्चय से रूप, रस, गन्धादि के साथ आत्मा का तादात्म्य नहीं है, फिर भी काल योग पाकर उनमें परिवर्तन होता रहता है, वह व्यवहारनय से जीव का परिवर्तन स्वीकार किया गया है। कोई राजा, राणा और छत्रपति भी क्यों न हो उनको भी वृद्धावस्था में जो परिवर्तन आता है, वह कितना आश्चर्यजनक होता है। उस अवस्था में अब क्या छुपाओगे ? क्या दर्पण देखोगे ? क्या शृंगार करोगे ? जवानी में शृंगार के बिना भी तेज रहता है, सब कुछ फ्रेश रहता है। बुढ़ापे में तो वैसी स्थिति हो जाती है, जैसे–किसान खेत में पशुओं को डराने के लिए लकड़ी गढ़ा के उसे कुर्ता पहना देते हैं और मुँह की जगह मटकी रख देते हैं। उससे क्या होता है ? बताते हैं कि पशु-पक्षी आदि खेत में कोई बूढ़ा व्यक्ति खड़ा है ऐसा सोचकर खेत में नहीं आते हैं। वृद्धावस्था में जवानी वाले वस्त्र नहीं पहन पाते हैं, क्योंकि शरीर के समस्त अवयव ढीले पड़ जाते हैं, दाँत पूरे गिर जाते हैं। जैसे–ताजी बनी हुई पुड़ी हमेशा नहीं फूली रहती, कुछ समय बाद धीरे-धीरे वह पिचक जाती है। उसी प्रकार जवानी के बाद बुढ़ापे की स्थिति होती है।

अतः हमें विचार करना चाहिए कि हमने कितने बार जन्म-मरण किए हैं, कितनी बार शरीर को धारण किया है, कितने बार शरीर शीर्ण हुआ है फिर भी मोह के कारण शरीर को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहते हो, यह मोह का अतिरेक है। इसे अज्ञानदृष्टि समझना चाहिए। आत्मश्रद्धान होने के बाद भी शरीर के माध्यम से सुख मिलता है, इस भ्रम को पाले रहता है। इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध का निषेध करने वाली गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका–इस पर भी यदि जीव के साथ वर्णादिक का दुराग्रह किया जाता है तो क्या दोष उत्पन्न होता है, उसे दिखलाते हैं–

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णदे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हु दे कोई ॥६७॥

अन्वयार्थ–(जदि हि) यदि तुम **(त्ति मण्णसे)** ऐसा मानते हो कि **(एदे भावा)** ये वर्णादिक भाव **(सव्वे हि जीवो चेव)** सभी जीव ही हैं **(हु दे)** तो तेरे मत में **(जीवस्साजीवस्स य)** जीव और अजीव का **(कोई)** कोई **(विसेसो)** भेद **(णत्थि)** नहीं है?

अर्थ–संसारी जीव को सम्बोधन करके आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई ! यदि इन सभी भावों में जीव को माना जायेगा तो कहने में जीव और अजीव (पुद्गल) में परस्पर कोई भेद नहीं रहता।

वर्णादि निश्चयतया यदि जीव में हों,
कैसे प्रभेद फिर जीव अजीव में हो।
थोड़ा विचार कर तू तज भोग भाई !
भिन्नातिभिन्न जड़ जीव पड़े दिखाई ॥६७॥

व्याख्या—जैसे अनन्तज्ञान और अव्याबाध सुख आदि जीव में होते हैं वैसे ही वर्णादि गुण पुद्‍गल में हैं, ऐसा स्पष्ट है फिर भी यदि वर्णादिक भी जीव के गुण हैं, ऐसा मानता है तो बड़ा भारी दूषण आता है। वह दोष यह है कि जीव और अजीव में कोई विशेषता नहीं रहेगी। विशेषता नहीं होने से दोनों में कोई अन्तर नहीं रहेगा। ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला जीव और जड़त्वादि स्वभाव वाला अजीव इन दोनों का भेद समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार शुद्ध जीव के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।

संस्मरण—आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज बार-बार कहा करते थे कि यह शरीर पुराना चरखा हो गया है। जिसमें कातने को जायें तो उसके चाक आदि अवयव अनबैलेन्स्ड जैसे हो जाते हैं। उसके सारे पार्ट चरमरा जाते हैं, क्योंकि बहुत दिनों गाड़ी चलने से सभी पार्ट आवाज करने लगते हैं। कहते हैं—बुढ़ापे में ब्रेक को छोड़कर सब पार्ट लग जाते हैं और हार्न को छोड़कर सब बजने लग जाते हैं। हार्न लगा दो तो भी वह बजेगा नहीं अर्थात् जहाँ जाओ वहीं रुकने लग जाता है। ये सभी नये चरखे भी पुराने तो होंगे ही। संघ में सभी चरखे एक साथ पुराने होंगे।

जीवत्व अलग है, जड़त्व अलग है। ज्ञानी जीव किसी को अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि नहीं कहते, क्योंकि ज्ञानी की सोच ही भिन्न होती है। **समाधिशतक** में **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** कहते हैं कि—ज्ञानी जब बाहर देखते हैं तो उन्हें सारा संसार उनके ज्ञान में अज्ञान रूप दिखता है क्योंकि सारा विश्व उनकी दृष्टि में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं में लिप्त दिखता है। थोड़ा और गहराई से सोचते हैं तो सब कुछ जड़ दिखाई देने लगता है। देखो ! दृष्टि में कितनी विराटता है, क्योंकि अज्ञान भाव जीव की ही परिणति है, किन्तु जड़ कहने पर सभी पुद्‍गल का परिवर्तन समाहित हो जाता है। बाहर जहाँ, जो भी परिवर्तन दिख रहा है वह सब जड़ रूप है। जिसमें यह सब समझने की पात्रता होती है और वह कहता है कि मुझे समझा दो, तो वह नहीं समझाने पर भी मात्र निकट में ही कुछ दिन रह जाये तो समझ जायेगा।

दृष्टान्त—जैसे कोई व्यक्ति घर में गूंगा है, प्रायः गूंगा बहरा भी होता है। वह इशारे से आपकी पूरी बात समझ लेता है। उसे इशारे से जो भी समझा देते हैं वह समझ जाता है। उसी प्रकार अज्ञानी से अज्ञानी व्यक्ति भी साधु के पास आ जाता है तो वह भी रहते-रहते सब समझने लगता है। समझाने का ज्यादा विकल्प नहीं करना चाहिए। ज्ञानी को यह संसार सर्वप्रथम तो अज्ञान रूप, पुनः कुछ क्षणों में जड़ का ही नजारा दिखता है।

यदि आपको आँखों से सब कुछ जड़ ही दिखने लग जाये, जड़ रूप ही प्रतिफलित होने लग जाये तो समझना चाहिए कि आप साधना के क्षेत्र में कुछ कदम आगे बढ़ रहे हैं। इस सबको जड़ रूप जानते हुए भी प्रयोग से ही अनुभव में ला सकते हैं। यह प्रयोग कुछ क्षणों को तो आना ही चाहिए।

जीव में पहले कोई भी भाव होते हैं, बाद में तदनुरूप शरीर में क्रिया होती है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। बाहर शरीर में हाथ-पैर चलते नहीं, आँखों से दिखता नहीं फिर भी भीतर देखने

वाला जीव भाव करता है। जीव जब देखने का भाव करता है तो ये आँखें देखने में सहयोगी निमित्त रूप होती हैं। कहने का मतलब यह हुआ कि देखने का कार्य जड़ के माध्यम से जीव में हुआ। इस प्रकार चिन्तन करने से सारा वातावरण परिवर्तित हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे शोध छात्र के लिए ज्यादा निर्देशन, उपदेश आदि की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार वर्षों से जिसको शास्त्राभ्यास है उसके लिए ज्यादा उपदेश की आवश्यकता नहीं होती है। दो-तीन प्वाइन्ट में काम हो सकता है। लेकिन यह सब तभी संभव है जब मन की स्थिरता हो। विषयों के अभ्यास के कारण, असंयम के संस्कार के कारण शीघ्र साध्य सफल नहीं हो सकता। असंयमी वृद्ध हो तो भी ज्ञान नहीं होने से वह बाल कहलायेगा, वृद्ध नहीं। ज्ञान में वृद्धत्व आने से ज्ञानी पुरुष कम समय में ही ज्ञान के वृद्धत्व का अनुभव कर लेते हैं। और जो सुबह से रात तक विषयों में झूल रहे हैं, उसी में रच-पच रहे हैं यह सब उनका अज्ञान होता है।

दृष्टान्त—जैसे भरत चक्रवर्ती साठ हजार वर्ष तक लड़ते रहे, उस समय उन्हें भले ही क्षायिकसम्यग्दर्शन था परन्तु **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** जी उन्हें ज्ञानी का टाइटल तो नहीं देंगे, क्योंकि यह जो परिवर्तन दिख रहा है, वह सब जड़ का ताण्डव नृत्य है। ज्ञानी को इसमें कैसे रस आ सकता है ?

आप अपने उपयोग को ऐसा सोचने का प्रशिक्षण दो जिससे उपयोग आराम में रहे। ज्ञानी की सोचने की, देखने की, जानने की पद्धति सीधी होती है। फिर भी **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** कहते हैं यह सब अज्ञान है। वे कहते हैं बाहर क्यों देख रहे हो ? कुछ भी क्यों सोच रहे हो ? भीतर चैन नहीं पड़ रही है क्या ? प्रमाद की भूमिका में इस प्रकार की सभी आकुलतायें होती हैं। ये सभी प्रश्न ऐसे हैं जो ज्ञानी को झकझोर देते हैं। यह प्रमाद-अप्रमाद का परिवर्तन होता रहता है, किन्तु कभी-कभी उनमें ब्रेक लगाना चाहें तो लगा सकते हैं। तीर्थंकरों को भी छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान का परिवर्तन हजारों बार होता रहता है। वे आहार के लिए जाते हैं या यूँ कहें कि शरीर को वेतन देने के लिए दूसरे के घर जाते हैं, तो उनकी भी ध्यान की अवस्था छूटती है।

जैसे माँ अपने बच्चों को खिलाती-पिलाती है ठीक वैसे ही तीर्थंकर भी इस शरीर को वेतन के रूप में खिलाते-पिलाते हैं। बड़ा वैचित्र्य है, जो तीर्थंकर हैं, महापुरुष हैं, पूज्य हैं, पूज्यपाद हैं, फिर भी आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि यह सब अज्ञान है। चूँकि यह सब शरीरगत बाह्य क्रिया है। प्रयोग के माध्यम से, चिन्तन के माध्यम से आँखें खुली रहें अर्थात् हमारा ज्ञान जागृत रहे तो भी हम अन्तर्जगत् में पहुँच सकते हैं, उसका आनन्द ले सकते हैं। प्रयोग करने से ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है ? यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने **इष्टोपदेश**, **समाधितन्त्र** आदि ग्रन्थों में जो कारिकायें लिखी हैं, उनका अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि एक-एक कारिका को उन्होंने गुफाओं में बैठकर अनुभूति

के साथ लिखा है। इनका अर्थ तथा रहस्य जब साधक को समझ में आने लग जाता है तो बाहर के सभी सम्बन्ध छूटने लग जाते हैं। बाह्य प्रवृत्तियाँ सहज ही छूटने लगती हैं। इनकी प्रत्येक कारिका साधक को झकझोर देती है। इन कारिकाओं के उच्चारण से, इनके अर्थ से, आचरण से, रहस्य समझ में आने से जो आनन्द आता है वह अद्वितीय होता है। इसके लिए उच्च साधना की आवश्यकता होती है। अभी तो ऐसी स्थिति है कि ग्रन्थ सामने रखो तो ग्रन्थि की ओर दृष्टि चली जाती है। दाम की ओर ही जिसकी दृष्टि जाती है, उसे बाहर का सब जड़ नहीं दिखता। जबकि ज्ञानी तो वह होता है कि उसे पहली दृष्टि में संसार अज्ञानवत् और दूसरी दृष्टि में जड़वत् दिखता है। उस साधक का तीव्र पुण्योदय माना जायेगा जिसे कारिका पढ़कर उसका अर्थ व भाव समझ में आ जाता है, उसमें आनन्द आने लगता है। लेकिन आज पढ़ने मात्र से अपने को ज्ञानी और दूसरे को अज्ञानी समझते हैं।

इस प्रकार संसार में स्थित जीवों के साथ वर्णादिक का जो सम्बन्ध है वह व्यवहारनय से है। संसार से रहित मुक्त जीवों के साथ वर्णादिक का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि वर्णादिक का संसार अवस्था में भी निश्चय से सम्बन्ध मानेंगे तो शुद्ध जीव का अभाव हो जायेगा। ऐसा इस सूत्र का अर्थ है।

उत्थानिका—अब यदि जीव के साथ में सर्वथा वर्णादिक का तादात्म्य न मानकर केवल संसार अवस्था में ही तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जाता है तो भी जीव का अभाव रूप दूषण आता है, ऐसा कहते हैं–

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६८॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६९॥

(युगलम्)

अन्वयार्थ—(जदि) यदि **(संसारत्थाणं जीवाणं)** संसार में स्थित जीवों के ही **(तुज्झ)** तेरे मत में **(वण्णादी होंति)** वर्णादिक (तादात्म्यरूप) हैं **(तम्हा)** तो इस कारण से **(संसारत्था जीवा)** संसार में स्थित जीव **(रूवित्तमावण्णा)** रूपित्व को प्राप्त हुए (रूपी ठहरे)?

(एवं) इस प्रकार **(तह लक्खणेण)** वैसा लक्षण (पुद्गल का) होने से **(मूढमदी)** हे मूढ़बुद्धि **(पुग्गलदव्वं)** पुद्गलद्रव्य ही **(जीवो)** जीव है **(य)** और (मात्र संसार अवस्था में ही नहीं बल्कि) **(णिव्वाणमुवगदो वि)** निर्वाण को प्राप्त होने पर भी **(पुग्गलो)** पुद्गल ही **(जीवत्तं)** जीवत्व को **(पत्तो)** प्राप्त हुआ अर्थात् फिर निर्वाण भी पुद्गल का होना क्योंकि दोनों के लक्षण में कोई भेद नहीं रहा।

अर्थ—यदि संसार अवस्था में जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य मान लिया जाये तो कहने में संसारी जीव रूपी ठहरे। अतः फिर हे भोले भाई! पुद्‌गल द्रव्य स्वरूप ही जीव ठहरा तब फिर निर्वाण भी पुद्‌गल का होना क्योंकि दोनों के लक्षण में कोई भेद नहीं रहा।

संसार में स्थिति भले इस जीव की है,
संयोगजन्य वह चूँकि अजीव की है।
तादात्म्य जीव जड़ में यदि मानते हो,
तो जीव मूर्त बनता नहिं जानते हो ? ॥६८॥
हो जाय मूर्त जड़ जीव, अजीव होंगे,
सिद्धत्व प्राप्त सब सिद्ध न जीव होंगे।
साम्राज्य मात्र जड़ का जग में बनेगा,
संसार दुःख फिर क्या, शिव क्या रहेगा ?॥ ६९॥

व्याख्या—यदि कोई संसार दशा में स्थित जीवों के एकान्त से वर्णादि का तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं तो उनके कहने से संसारी जीव रूपी ठहरेगा। जीव के रूपीपना आ जाने से जीव भी पुद्‌गल ठहरेगा। फिर निर्वाण भी पुद्‌गल का होगा तथा जीव का अभाव हो जायेगा क्योंकि आपके अनुसार दोनों के लक्षण में कोई भेद नहीं रहेगा। जबकि आचार्यों ने जीव व पुद्‌गल के लक्षण भिन्न-भिन्न बताये हैं। संसार अवस्था में एकान्त से वर्णादि का तादात्म्य मान लेने पर मोक्ष कोई वस्तु ही नहीं ठहरेगी, ऐसा आचार्य का तात्पर्य है।

दृष्टान्त—चूना और हल्दी का मिश्रण करने पर लाल रंग का निर्माण हो जाता है। दोनों के मिश्रण होने पर चूना या हल्दी नहीं दिखती। उसे देखकर कोई ऐसा नहीं कह सकता कि उसमें कुछ हल्दी है, कुछ चूना है, उसमें भेद नहीं कर सकता। उसी प्रकार जीव और कर्म की स्थिति है। कर्म की उत्पत्ति एकान्त से पुद्‌गल से होती है या जीव से ऐसा नहीं कहा जा सकता।

बन्ध दो प्रकार का होता है–१. वैस्रसिकबन्ध और २. प्रायोगिकबन्ध। वैस्रसिक अर्थात् प्राकृतिक जैसे–बादलों का बनना, इन्द्रधनुष का बनना। इनके बनने में पुरुष का कोई पुरुषार्थ नहीं होता किन्तु प्रायोगिक बन्ध में पुरुष का सहयोग होता है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का होता है–१. अजीवकृत, २. जीवाजीवकृत। जैसे–दो पृष्ठों को गोंद से चिपकाना अथवा लकड़ी लकड़ी को जोड़ना यह अजीवकृत प्रायोगिक बन्ध है। कर्म और नोकर्म का जो बन्ध होता है वह जीवाजीवकृत बन्ध है। कर्म और नोकर्म बन्ध किसी एक पर डिपेण्ड नहीं है। यह मात्र जीव या अजीव के मिलने से होता है। जब तक बन्ध से छुटकारा नहीं मिलता तब तक उस बन्ध के कर्त्ता जीव और अजीव दोनों रहते हैं।

भावकर्म आत्मा में होते हैं अतः भावकर्म का अधिकरण आत्मा होता है, किन्तु भावकर्म एकान्त

से अकेले जीवकृत नहीं है, यदि ऐसा होगा तो सिद्धों में भी बन्ध मानना पड़ेगा। इसे मात्र अजीवकृत भी नहीं मान सकते, क्योंकि जीव के बिना यह बन्ध नहीं होता।

जिज्ञासा—कर्म-नोकर्म बन्ध क्या वैस्रसिक नहीं है ?

समाधान—जो वैस्रसिक बन्ध होता है वह अपने आप स्वतः होता है, कोई बीच में सहयोगी नहीं होता। लेकिन कर्म, नोकर्म बन्ध स्वतः नहीं होता। जीव के परिणामों के बिना कर्मबन्ध नहीं हो सकता, अतः यह वैस्रसिक नहीं हो सकता। दूसरी बात वैस्रसिक बन्ध को कोई रोक नहीं सकता। यदि नहीं रुकेगा तो हमेशा बन्ध होता रहेगा। फिर सिद्धों में भी यह कर्म-नोकर्म बन्ध का अस्तित्व मानना पड़ेगा, लेकिन ऐसा नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि कर्म-नोकर्म का बन्ध वैस्रसिक नहीं है। इसे आचार्यों ने जीवाजीवकृत प्रायोगिक बन्ध माना है। इसलिए एकान्त से जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य नहीं कह सकते।

चार्वाक मत जो कि भौतिक अस्तित्व को मानने वाला है, वह चेतन को, जीव को स्वतन्त्र मानना नहीं चाहता। वह कुछ तर्क देकर कहता है कि श्वास चल रहा है, अतः वह जीव है। उनका कहना है कि छींक का आना यह कोई जीवत्व नहीं है, क्योंकि छींक तो मशीन में भी आती है। छोटे थे तब साईकल चलाते थे, बीच-बीच में उससे आवाज आती है। पूछते कि ऐसा क्यों होता है तब बता देते थे, कि साईकिल के पहिये से हवा निकालना अनिवार्य है। हवा निकलने से आवाज आती है। अतः आवाज आना, श्वास की क्रिया का होना यह एकमात्र जीव की सिद्धि नहीं करता। ऐसे तर्क देने वाले चार्वाक मतावलम्बी को यह कहना अनिवार्य है कि छींक आना, श्वास लेना यह मात्र अजीवकृत भौतिक परिणमन नहीं है, किन्तु इसके साथ चेतन जीवत्व का भी परिणमन साथ में है। वैज्ञानिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि जहाँ श्वास की क्रिया हो रही है वहाँ जीव का अस्तित्व मानना अनिवार्य है। जैसे-डॉ० जगदीशचन्द्र बसु ने पेड़-पौधों में होने वाली श्वास क्रिया से उनमें जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है। जम्हाई भी जीवित शरीर में ही आती है। शव में कभी किसी ने जम्हाई आते नहीं देखी। अतः श्वास लेना, जम्हाई आना इत्यादि क्रियायें जीव के होने पर ही शरीर में होती हैं, अन्यथा नहीं।

छींक आना और जम्हाई आना यह आरोग्यप्रद माना गया है। शकुन अपशकुन में भी छींक को माना है। जैसे-एक छींक आना अच्छा नहीं माना जाता, यह मान्यता है। दो छींक आने को अच्छा मानते हैं। इसे दीर्घायु का प्रतीक भी मानते हैं। यह शकुन की मान्यता है। छींक आना आरोग्य का भी प्रतीक माना जाता है। आयुर्वेद के अनुसार छींक आना, जम्हाई आना ये शरीर की प्रकृतियाँ हैं और स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद मानते हैं। शरीर में जितनी भी नसें हैं वे सब इसके माध्यम से ठीक हो जाती हैं। यह शरीर की प्रकृति है। जैसे-मशीन में नट-बोल्ट आदि होते हैं, उसी प्रकार शरीर में अनेक नसें होती हैं, वे सभी स्वस्थ रहती हैं।

बचपन में बच्चों को पढ़ाया जाता है कि जो चलता-फिरता है वह जीव है। तो बच्चा तर्क करता है कि गाड़ी भी चलती है तो वह भी जीव है क्या ? उन्हें फिर समझाया जाता है कि जो चलने-फिरने के साथ-साथ श्वास भी लेता है वह जीव है। चार्वाक कहता है कि श्वास की प्रक्रिया भी पौद्गलिक होती है। वह जीव के अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार ही नहीं करता। सांख्यमती भी प्रकृति को ही कर्त्ता मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा तो मात्र भोक्ता है, चैतन्य रूप है। देखना, जानना, सुनना, उठना, बैठना, खाना-पीना आदि ये सभी क्रियायें होना सब प्रकृति की देन है। वह जीव को कर्त्ता नहीं मानता। यहाँ तक कि ज्ञान को भी प्रकृति की देन मानते हैं। बाद में चैतन्य के साथ उसका समवाय सम्बन्ध होता है तब जीव जानता देखता है, यह कहा जाता है।

ज्ञान के कोई स्क्रू होते हैं क्या ? जब कोई पागल होता है तो उसे ग्वालियर ले जाते हैं। वहाँ उसके मस्तिष्क के नट-बोल्ट जैसे कसते हैं, मस्तिष्क पर ठोकते हैं, हर वस्तु के बारे में ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान के बारे में पीछे नहीं हटना चाहिए। ज्ञान क्या है ? तबला है क्या ? ५-१० मिनट तक तबला के किनारे-किनारे ठोकते रहते हैं, स्वर मिलाते हैं, तभी तो बोल ठीक निकलते हैं। तबले की आवाज पौद्गलिक है। तत, वितत, घन, सुषिर आदि प्रायोगिक बन्ध के अन्तर्गत आते हैं। प्रायोगिक होते हुए भी पौद्गलिक है।

कर्म के ज्ञान की बात में बहुत डीप में जाना होता है। कर्म भी श्रद्धान का ही विषय बनता है। विज्ञान की दृष्टि में कर्म कोई वस्तु नहीं है। इतना अवश्य मानता है कि जानने-देखने रूप कार्य का सम्पादन पुद्गल का कार्य नहीं है। हमारा उनसे कहना है कि वे शब्द का उत्पादन, सम्पादन, आविष्कार करके दिखाते तो हम जाने। जीव के बिना, संज्ञी पंचेन्द्रिय के बिना शब्द का सम्पादन नहीं हो सकता। कम्प्यूटर से भी शब्द सम्पादित नहीं होते किन्तु उसमें जो भी बुद्धिगम्य कार्य होता है वह पहले से उसमें फीड किया जाता है। उसमें संकेत के रूप में सब कुछ डाला जाता है। उसके आधार पर कार्य होता रहता है। कैसिट वगैरह में भी इसी तरह होता है फिर स्विच ऑन होने पर उसमें से आवाज आती है।

कैमरा वगैरह से जो रिफ्लेक्शन होता है वह छाया के अन्तर्गत होता है। कोई भी निर्माण कार्य होता है अजीव में होता है, लेकिन जीव के द्वारा होता है। कैसिट, कम्प्यूटर आदि में जैसी ध्वनि और जैसे स्वर या शब्द फीड कर दिए जाते हैं वैसे ही शब्द और ध्वनि उसमें से निकलती है। कैसिट-कम्प्यूटर आदि में मानसिकता नहीं होती, उनमें कोई चैतन्य तत्त्व नहीं होता।

दृष्टान्त—लौह पुरुष (रोबोट) संकेत के अनुसार काम कर सकता है, परन्तु वह किसी के दर्द में आँसू नहीं बहा सकता। सुना था कि रोबोट की रिपेयरिंग चल रही थी उस समय मालिक की ही गर्दन उसके हाथ से दब गई, मालिक की मृत्यु हो गई, किन्तु उसकी आँखों में पानी नहीं आया। इसका मतलब रोबोट की आँखों में पानी नहीं आता, वह तो मशीन है। जितना संकेत होता है उतना ही काम कर सकती है। एक स्थान पर बहुत अच्छा लिखा है कि ''सामने वाले व्यक्ति की धारणा किस प्रकार

दृढ़ होती जा रही है, उसको देखकर उसके अनुसार कथन कर देना चाहिए, नहीं तो उसकी धारणा मजबूत न होने से आस्था में परिवर्तन आ सकता है।''

कर्म और नोकर्म एक ऐसा रसायन है जिसे भावों के द्वारा ही अलग किया जाता है। किसी भी मशीन के द्वारा कर्मों को अलग नहीं किया जा सकता। भावों के साथ कर्मों में जितनी स्थिति बंधती है, उतने समय तक कर्मों को आत्मा से सामान्य तौर पर अलग नहीं किया जा सकता। वे कर्मप्रदेश उतने समय तक आत्मप्रदेशों में रहते हैं। कर्म और नोकर्म दोनों की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। नोकर्म की स्थिति के साथ कार्मण शरीर का कोई तादात्म्य नहीं होता। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि यह नोकर्म (शरीर) यहीं पड़ा रह जाता है और कार्मण शरीर आगे चला जाता है। जैसे ही अगली आयु का उदय होता है उसी के योग्य शरीर का उदय हो जाता है। जैसे-देवायु का उदय होता है तो वैक्रियिक शरीर का उदय हो जाता है। जीव यहाँ से १-२-३ समय में दूसरी गति में चला जाता है परन्तु नोकर्म (शरीर) बहुत समय तक वैसा का वैसा रह सकता है। अगली गति में पहुँचने पर जीव की मानसिकता परिवर्तित हो जाती है, वह वैसी की वैसी पूर्ववत् नहीं रहती। मानसिकता चेतना के साथ जुड़ी रहती है, कर्म-नोकर्म के साथ नहीं।

आप लोगों को ज्ञात होगा, **राजवार्तिक** में आया है कि-औदारिकशरीर की संख्या असंख्याता-संख्यात है, अनन्त नहीं। शरीर असंख्यात और जीव अनन्त होते हैं। शरीर इतने ही रहेंगे, यह वस्तुस्थिति है। एक-एक साधारण शरीर में अनन्त-अनन्त जीव रहते हैं। इससे फलित होता है कि शरीर असंख्यात और जीव अनन्त होते हैं। जीव के अस्तित्व की प्रस्तुति तर्क के माध्यम से कर सकते हैं किन्तु सामने वालों को संतुष्टि नहीं होती। अनन्त जीव एक शरीर में एक साथ जन्म लेते हैं, एक साथ मरते हैं, एक साथ श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं, परन्तु उनकी अनुभूति और संवेदना अपने-अपने कर्म के अनुसार होती है। कर्मों की संयोजना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की संयोजना के अनुसार होती है।

दृष्टान्त—जैसे रेडियो है, उसे खोलकर देखते हैं तो उसके अन्दर एक-दूसरे से जुड़े हुए हजारों वॉयर होते हैं। इनमें कनेक्शन के अलावा कुछ नहीं होता। थोड़ी सी भी सूई इधर से उधर होती है तो विविधभारती की जगह दूसरा स्टेशन आ जाता है। सारी की सारी तरंगें वायुमण्डल में विद्यमान हैं। इनके माध्यम से ही सारी संयोजना होती है। यह सब आस्था का विषय है। आप दूसरों में इस प्रकार की आस्था जबरदस्ती पैदा नहीं कर सकते। सामने वाला अपने कर्म के उदयस्थान, कषायस्थान के अनुसार ही करेगा। यदि कर्मोदय की तीव्र अवस्था है तो भले ही केवली भगवान् भी प्रस्तुति कर दें तो भी वह नहीं मान सकता। बड़े-बड़े दार्शनिक भी कहते हैं कि अनेकान्त तो छलमात्र है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि अनेकान्त में छल का लक्षण ही घटित नहीं होता अत: उसे छल रूप नहीं कह सकते। पहले आप छल का लक्षण बाँधो, बाद में आगे की बात होगी।

जो अमूर्त है, परोक्ष है, हमारे लिए इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है, उसको हम दूसरों के

सामने कैसे रख सकते हैं ? यदि दूसरों के सामने प्रस्तुत करते भी हैं तो बहुत गड़बड़ी आ जाती है। उसे हम तर्क के माध्यम से नहीं समझा सकते।

दृष्टान्त—जैसे देखो, सूर्य दिख रहा है या नहीं ? आप कहेंगे—सूर्य दिख रहा है। फिर पूछा जाये कि वह गतिमान है या नहीं ? आप कहेंगे—सूर्य नहीं घूमता, पृथ्वी घूमती है। वह तो ज्यों का त्यों स्थिर रहता है। यदि पुनः कहा जाये कि—सूर्य गतिमान है क्योंकि छाया परिवर्तित होती है। आप कहेंगे कि पृथ्वी घूमती है, इसलिए छाया में परिवर्तन दिखता है। फिर तो सूर्य गतिमान है कि नहीं ? यह प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा रहता है। जैनदर्शन पर विश्वास करने वाले बड़े-बड़े दार्शनिक भी ऐसा लिख देते हैं कि—सूर्य गतिमान नहीं है। वस्तुतः यह ज्ञान का विषय नहीं किन्तु आस्था का विषय है। हमारे लिए परोक्ष विषय होने से और जिनेन्द्रदेव को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से उसे हम अपनी अल्पबुद्धि से सिद्ध नहीं कर सकते हैं। यह प्रयोजनभूत तत्त्व नहीं है। सुमेरु पर्वत, चन्द्रमा, सूर्य आदि को आस्था का विषय बनाकर स्वीकार करते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि तो दिखाई देते हैं, लेकिन सूर्य-विमान के बारे में विशेष चर्चा एवं उनकी संख्या आदि के बारे में आस्था का विषय बनाना आवश्यक होता है। तत्त्वों को आस्था के बल पर स्वीकार करना और तत्त्व को तर्क की कसौटी में कसकर ज्ञान के माध्यम से स्वीकार करना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। विज्ञान के बल पर जो सिद्ध नहीं किया जा सकता वह आस्था का ही विषय होता है। अब तो वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं कि सूर्यचन्द्र दो-दो हैं। कल का सूर्य आज नहीं आता है। आज का सूर्य पृथक् होता है। एक दिन पहले का सूर्य आज आता है। इसी प्रकार जीव तत्त्व नेत्र इन्द्रिय का विषय नहीं है, उसे केवलज्ञानी सर्वज्ञ भगवान् भी हाथ में रखकर नहीं दिखा सकते। जैसा कि आगे संवराधिकार में **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** ने स्वयं कहा है कि—

को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं ॥१९८॥

अर्थात् कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि आत्मतत्त्व वर्तमान काल में इस छद्मस्थ के प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान में ही होता है, परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा वह छद्मस्थ ज्ञान से भी जान लिया जाता है।

इस प्रकार चौदह जीवस्थान भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। अर्थात् जहाँ जीव है वहाँ ये रहे, यह नियम नहीं है। एकेन्द्रियादि के शरीर में भी जो वर्णादि हैं वे भी जीव के स्वभाव नहीं है। संसारी प्राणी, रूपी पदार्थ को ही अपने चिन्तन का विषय बनाता आया है। इसलिए यह जीव के चिन्तन में गड़बड़ा जाता है।

जिज्ञासा—जीवतत्त्व अवधिज्ञान का विषय है या नहीं ?

समाधान—अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है। रूपी पदार्थ में ही उसका विषय होने से जीवतत्त्व उसका विषय नहीं बनेगा। **आचार्य विद्यानन्दि** जी ने **श्लोकवार्तिक** में कहा है कि यदि

एकान्त से जीव को अमूर्त मानेंगे तो फिर संसारी जीव भी अवधिज्ञान का विषय नहीं बनेगा। सिद्ध भगवान् तो अवधिज्ञान के विषय बन ही नहीं सकते, क्योंकि वे वास्तव में स्वभावनिष्ठ, कर्ममुक्त होने से अमूर्त ही हैं। अवधिज्ञान अमूर्त को विषय नहीं बना सकता। संसार दशा में भी जीव को एकान्त से अमूर्त स्वरूप स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि संसार अवस्था में जीव-कर्मबन्ध से एकत्व को प्राप्त होने से कथंचित् रूपी या मूर्तिक सिद्ध होता है। आगम कहता है कि-

बंधं पडि एयत्तं दव्वो भावो य होदि दुवियत्तं। (गोम्मटसार)

अर्थात् संसार में जीव बन्ध की अपेक्षा एकत्व को प्राप्त होने से रूपी अवस्था को प्राप्त हो जाता है। पुद्गल के सम्पर्क से जीव में रूपित्व आ जाता है, किन्तु जीव के संसर्ग से पुद्गल में चेतनत्व आता है या नहीं। आलापपद्धति में यह विषय पढ़ा है कि पुद्गल में भी कथंचित् चेतनत्व स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो गड़बड़ हो जायेगा, क्योंकि जिस कर्म को आपने बांधा, वह जब उदय में आयेगा तो आपके उपयोग पर ही उसका प्रभाव पड़ेगा। **तस्सत्ती भावकम्मं तु** यह तथ्य तभी बनेगा। पौद्गलिक कर्म के पास भी जीव को रागी बनाने की क्षमता है, जीव के संसर्ग से ही कर्म में फल देने की शक्ति आती है। जैसे-पेंसिल है, उसे देखकर रागभाव उत्पन्न हो सकता है, लेकिन कर्म का उदय हो तभी हो सकता है, अन्यथा नहीं। उसमें आपको रागी बनाने की क्षमता है, लेकिन हमेशा नहीं। आपके रागरूप कर्म का उदय है तो राग होगा, अन्यथा नहीं। प्रयोगशाला में कुछ नोकर्म हैं-जैसे एक प्रकार की कोई गैस है जिसे सूँघने से हास्यकर्म की उदीरणा होती है, किन्तु ज्यादा सूंघने से पागल भी हो सकता है। यहाँ इस प्रयोगशाला में सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि से कोई मतलब नहीं है। स्वर्गों में ऊपर-ऊपर शरीर, परिग्रह आदि की हीनता पायी जाती है। नोकर्म के पास भी ऐसी शक्ति विद्यमान होती है, कि वह आपको गलत सोचने से रोक सकता है। जैसे कोई कहता है कि यह मुझे देखकर हँस रहा है, मेरी इन्सल्ट कर रहा है इत्यादि। यह सोच गलत है, वह हँस नहीं रहा, किन्तु किसी दैवीय शक्ति से हँसाया जा रहा है। यह भूत का प्रभाव है। उस शक्ति के प्रभाव में बहुत कुछ कहता रहता है। परन्तु बाद में दैवीयशक्ति के अभाव होने पर वह कहता है कि-हमने तो ऐसा कभी नहीं कहा। यदि कोई कहे कि इस पर हम विश्वास नहीं करते जबकि कितना भी कट्टर से कट्टर व्यक्ति क्यों न हो, उसे भी मानना पड़ता है, क्योंकि आगम में भी कहा है-**देवाश्चतुर्णिकायाः** इसे मानते हो कि नहीं, आगम पर विश्वास है या नहीं। मंत्रादि के प्रयोग से दैवीय शक्ति का प्रभाव दूर हो जाता है, ऐसा देखा जाता है। हाँ, तो यह मानना पड़ेगा कि वे एक सीमा तक काम करते हैं।

अतः पुद्गल का ऐसा कार्य है कि जो पुद्गल के रूप में होकर के भी चेतन के संसर्ग से वैसा भाव या वैसी चैतन्य शक्ति से प्रभावित हो जाता है अर्थात् उसमें चैतन्य शक्ति आ जाती है उसे आचार्यों ने स्वीकार किया है, यह भावकर्म है। भावकर्म चैतन्य शक्ति युक्त होता है यदि कर्म का उदय होगा तो जीव को वैसा भाव करना पड़ेगा, लेकिन इसमें भी एकान्त नहीं है कि वैसा भाव हो ही। फिर भी

उसका प्रभाव पड़ता है, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मान लेने पर (जीव और पुद्गल दोनों का एक ही लक्षण होने से) जीव का अभाव हो जायेगा, इस प्रकार का वर्णन करते हुए तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बादर और सूक्ष्म के भेद से एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादि पंचेन्द्रियपर्यन्त जो चौदह जीवसमास हैं वे भी शुद्धनिश्चय नय से जीव के स्वरूप नहीं हैं, तो फिर वर्णादिक जो देहगत धर्म हैं वे जीव के कैसे हो सकते हैं–

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥७०॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥७१॥

अन्वयार्थ–(एक्कं च) एकेन्द्रिय **(दोण्णि य तिण्णि)** द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय **(चत्तारि य)** चतुरिन्द्रिय और **(पंच इंदिया)** पंचेन्द्रिय **(जीवा बादरपज्जत्तिदरा)** जीव बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त हैं, यह **(णामकम्मस्स)** नामकर्म की **(पयडीओ)** प्रकृतियाँ हैं।

(एदाहि करणभूदाहिं य) करण स्वरूप **(पुग्गलमईहिं ताहिं)** उन पुद्गलरूप **(पयडीहिं)** प्रकृतियों से **(णिव्वत्ता)** रचित **(जीवट्ठाणा दु)** जीवस्थान हैं, वे **(जीवो कहं)** जीव कैसे **(भण्णदे)** कहे जा सकते हैं?

अर्थ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय असंज्ञी व संज्ञी, बादर और सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ये सब नामकर्म सम्बन्धी प्रकृतियाँ हैं, जो कि अमूर्त, अतीन्द्रिय और निरंजन ऐसे परमात्मतत्त्व से विलक्षणता लिए हुए हैं। इन पूर्वोक्त पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा निष्पन्न १४ जीवसमास हैं। अतः वे निश्चयनय से जीव कैसे कहे जा सकते हैं ? कभी नहीं कहे जा सकते।

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरादि,
ये नामकर्म प्रकृती विकलेन्द्रियादि।
संसारि जीव बंधता इनसे यदा है,
पूर्वोक्त नाम मिलते उसको तदा हैं ॥७०॥
रूपाभिभूत जड़ पुद्गल कर्म द्वारा,
ये जीव थान सब निर्मित हैं सुचारा।
मानो इन्हें फिर सचेतन जीव कैसा ?
जो है असम्भव, सुसंभव होय कैसा ? ॥७१॥

व्याख्या—जैसे कारणभूत सोने के द्वारा बनाया गया तलवार का म्यान स्वर्णरूप ही होता है। वैसे ही पुद्गलमय प्रकृतियों के द्वारा निष्पन्न हुए जीवसमास भी पुद्गलद्रव्य स्वरूप ही हैं, न कि जीवस्वरूप हैं। ऐसा कहने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जब जीवस्थान ही पुद्गलमय हैं, तो वर्णादिक तो सर्वथा ही पुद्गलाश्रित हैं, अतः फिर वे किसी भी प्रकार जीवस्वरूप न होकर पुद्गल स्वरूप ही हैं। ऐसा इन दोनों गाथाओं को अभिप्राय है।

इस संसार में अनेक जीवसमास की अवस्थाओं में यह संसारी प्राणी कितने ही जीवों के साथ रहा है। वियोग को भी प्राप्त हुआ है। कितने जीव वियोग को प्राप्त हुए हैं। जो वियोग को प्राप्त होते हैं वे इस पर्याय में रहते हुए हमारे सामने एक बार भी यहाँ लौटकर नहीं आते। आप उनको रातदिन याद करते हैं, कि हमने उसके साथ में खाया था, खेला था, सोया था, पढ़ा था, स्वाध्याय की चर्चा की थी, उन्होंने मुझे पढ़ाया था इत्यादि। लेकिन उसने एक बार भी आकर यह नहीं कहा कि–मेरा विकल्प मत करो। मुझे एक बार तो बता देता लेकिन औदारिक शरीर का चोला गया और वैक्रियिकशरीर का चोला मिला कि एक, दो, तीन समय के उपरान्त नाटक ही फेल हो जाता है। स्वर्ग में पहुँचकर मनुष्यगति का सब कुछ नाटक भूल जाता है। बड़ा वैचित्र्य है ! कर्मों का खेल देखो कैसा है ? सब कुछ भुला देता है फिर भी अवधिज्ञान के माध्यम से बहुत भवों के सम्बन्ध को जान लेता है। वहाँ प्राप्त हुए पंचेन्द्रिय के विषयों में अत्यधिक लुब्ध हो जाता है। यहाँ सोचता था कि वहाँ जाकर ऐसा-ऐसा करूँगा, लेकिन वहाँ पहुँचकर कुछ नहीं कर पाता। वहाँ की सभा के अनुसार, वहाँ के वातावरण के अनुसार अपने को ढाल लेता है। रत्नत्रय की आराधना, सल्लेखना की साधना, मन्त्र जाप आदि सब छूट जाता है, वहाँ तो मन्त्र भी याद नहीं आता। उस गति का प्रभाव ही ऐसा होता है, सागरोपम आयु तक वह भोगों में लग जाता है। उसका ज्ञान कहाँ चला गया ? ज्ञान कहीं जाता नहीं किन्तु वहाँ का वर्तमान ज्ञान इतना अधिक होता है कि उसके सामने सब विकल्प शान्त हो जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे भगवान् के पास जाने के पहले सोचते हैं कि भगवान् से यह पूछेंगे, यह पूछेंगे लेकिन उनके विराट् ज्ञान के सामने सब भूल जाते हैं। जैसे–किसी के पास जेब में १००-२०० रुपये हैं और वह बाजार जाता है, वहाँ उसे बहुत सी चीजें दिखती हैं, दुकानदार पूछता है क्या चाहिए ? तो वह कहता है कि अभी घर में पूछकर आता हूँ। दुकानदार कहता है–जाओ, पहले पूछकर आओ। वह उतनी सारी चीजों में निर्णय नहीं कर पाता, अन्ततोगत्वा वह कुछ भी लेने का विचार छोड़ देता है। इसी प्रकार गति, आयु, कर्म, नोकर्म के उदयानुसार सारा का सारा परिवर्तन हो जाता है। वैर, कषाय आदि सब समाप्त हो जाते हैं यह उस व्यक्तित्व का प्रभाव है। एकेन्द्रियादि जीवसमास सारे के सारे मूल में नामकर्म के ही विस्तार हैं। उसी के अनुसार जीवस्थान आदि के भेद बनते हैं। इस कर्म के पास ऐसी शक्ति होती है कि जीव को एकेन्द्रियादि रूप में बना देता है लेकिन उसमें जीव बनाने की शक्ति नहीं होती।

दृष्टान्त—जैसे–नाट्य मंचन में एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न चोला बनाकर, भिन्न-भिन्न पोशाक पहनकर नाटक करता है। एक ही व्यक्ति अनेक पात्र का रूप बनाकर अनेक पात्र का रोल प्रस्तुत करता है उसी प्रकार यह जीव भी संसार रूपी रंगमंच पर अनेक जीवसमास रूप पर्याय को धारण करके अनेक पात्र का रोल प्रस्तुत करता है। संसार में जीव का यह खेल चलता रहता है। अनेक प्रकार की सामग्री के द्वारा किसी को सुख, किसी को दुःख देने में कारण बनता है। यह सब नामकर्म का कार्य है।

जिज्ञासा—नामकर्म क्या काम करता है ?

समाधान—चित्रकार के समान नामकर्म जीव को नाना रूप, नाना आकार-प्रकार धारण कराने का कार्य करता है। इसे निम्न दृष्टान्त से समझें–

दृष्टान्त—जैसे कोई पाषाण (मार्बल) के ऊपर प्रशस्ति लिखता है। प्रशस्ति में २×२ के पाषाण में १०० अक्षरों को टाँकी से उकेरना है तो सर्वप्रथम उस पाषाण में काली या नीली स्याही से लिखा जाता है। पश्चात् उसी स्थान पर हथोड़े से टाँकी लगाता जाता है, जैसे-जैसे हथोड़े की चोट लगती है, वैसे-वैसे उतना-उतना पाषाण उखड़ता जाता है, तो स्याही के अक्षर समाप्त हो जाते हैं। ऐसा होने पर प्रशस्ति पढ़ने में आ जाती है। उसी प्रकार सिद्ध बनने के उपरान्त नामकर्म की स्याही रूप जो वर्णादि थे वे सब समाप्त हो जाते हैं। टाँकी से उकेरी हुई प्रशस्ति पाषाणमय है, स्याहीमय नहीं। स्याही के माध्यम से तो अक्षर उकरने का रास्ता बनाया जाता है। जो अच्छे पेंटर होते हैं, या कलाकार होते हैं, वे पेंसिल या स्याही की रेखाओं के आधार के बिना ही, अपने ब्रुश से ही कलर के माध्यम से सुन्दर-सुन्दर चित्र बना लेते हैं। नामकर्म के कारण शरीर में रंग-रूप, आकार-प्रकार आदि होते हैं। इस कर्म के अभाव होने पर कोरा कागज या शुद्ध आत्मतत्त्व शेष रहता है। देखो, नामकर्म रूपी पेंटर इतना अधिक होशियार है कि खसखस के दाने के समान मिक्कू जीव के भी दो आँखें, दो पंख, दो पैर आदि बना लेता है। यह आत्मा के विभाव भावों के कारण होता है। मिक्कू को देखने के लिए चश्मा लगाना पड़ता है। उसके नाक, आँख, कान, जीभ, हाथ-पैर आदि सभी अवयव होते हैं। वह आपकी आँखों के सामने तैरता रहता है। आँखों के आस-पास उड़ता रहता है। वह अपने पंखों से सफाई भी करता रहता है। यह सब देखकर लगता है कि यह कोई अद्वितीय शक्ति है, जो हमारे देखने में नहीं आ रही है, वह है कर्म की शक्ति। ज्ञान की महिमा भी अपूर्व है, अद्भुत है। ज्ञान के पास कर्म की शक्ति को जानने की शक्ति होती है।

जिज्ञासा—विश्व में छोटे-बड़े अनेक आकार-प्रकार के जीव होते हैं। उनके आकार के अनुसार ही शरीर के अवयव होते हैं इसे दृष्टान्त से स्पष्ट कर दें ?

समाधान—इस बात को समझना कितना आसान है। जैसे–बड़ी घड़ी होती है तो उसके काँटे या स्क्रू उसी अनुपात से होते हैं। यदि छोटी घड़ी होती है तो उसके काँटे छोटे होते हैं। उसी प्रकार जितना छोटा-बड़ा शरीर होता है, उसके उतने ही छोटे-बड़े अवयव, अंग-उपांग आदि होते हैं। इतने छोटे और

सूक्ष्म जीव होते हैं, जिन्हें हम आँखों से चश्मा लगाने के बाद भी देख नहीं पाते। छोटे-बड़े शरीर का मिलना सब कुछ नामकर्म पर आधारित होता है। यह सारा का सारा रसायन कर्म का ही है, उसी का विराट राज्य है। इस प्रकार नामकर्म की उत्पत्ति में जीव का उपयोग और योग कारण होता है।

एक प्रसंग बतलाकर विषय को समाप्त करता हूँ। धवला आदि ग्रन्थों में निगोदिया जीव के बारे में कथन आता है कि ये जीव गुच्छे के गुच्छे, मांस के लोथड़े के समान होते हैं। एक के श्वास लेने से अनन्त जीव श्वास ले लेते हैं। एक जीव के खाने-पीने से, जीने-मरने से अनन्त जीव खाते-पीते एवं जीते तथा मरते हैं क्योंकि ये जीव साधारण शरीर के आश्रित होते हैं। ये सभी जीव एक सामान्य, साधारण नोकर्म अर्थात् शरीर के आश्रित होने के बावजूद भी भीतर के परिणाम भिन्न-भिन्न रहते हैं। परिणामों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मबन्ध होते हैं। किसी ने मनुष्यायु का बन्ध किया, तो किसी ने तिर्यंचायु का। कोई भरतक्षेत्र का मनुष्य बना तो कोई ऐरावत क्षेत्र का, कोई आर्यखण्ड में जन्मा तो कोई म्लेच्छखण्ड में। यह विपर्यास क्यों होता है ? आचार्य कहते हैं कि यह सब अपने-अपने परिणामों के ऊपर आधारित है। सभी जीवों के परिणाम एक समान नहीं होते। सबमें समान रूप से मूर्च्छा नहीं होती। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कर्म का विपाक होता है। उसी के आधार से विपर्यास देखने में आता है। आप भी निगोद कुण्ड से निकलकर यहाँ कैसे आ गये ? आचार्य कहते हैं-अपने-अपने भिन्न-भिन्न परिणामों के कारण यहाँ आये हैं। इसी आधारशिला के माध्यम से हम जीव विज्ञान का ज्ञान कर सकते हैं।

कर्म का उदय होने पर उसी के अनुसार परिणाम होते ही हों ऐसा एकान्त नहीं है। परिणाम होने की भी एक सीमा है और कर्मबन्ध होने की भी एक सीमा है। जीव के पुरुषार्थ की भी एक सीमा होती है। एकान्त से हमारे परिणाम हमारे ही अधीन हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कथंचित् हमारे परिणाम एक दूसरे पर भी आधारित होते हैं। मुक्त अवस्था होने पर भी एक दूसरे का आधार आवश्यक होता है तो फिर संसार अवस्था में तो एक-दूसरे के आधार पर रहेंगे ही रहेंगे।

जिज्ञासा—मुक्तावस्था तो पूर्ण स्वतन्त्रता है, फिर वहाँ किसके आधार की आवश्यकता होती है ?

समाधान—मुक्तावस्था कर्म की अपेक्षा पूर्ण स्वतन्त्र अवस्था है फिर भी उसे गमन करने में धर्मास्तिकाय सहायक होता है, तभी तो धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर मुक्त जीव लोक के अग्रभाग पर जाकर रुक जाते हैं। अर्थात् मुक्त जीव भी गति करने में धर्मद्रव्य के आधीन होता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के परिणमन कराने में काल द्रव्य सहकारी होता है। सिद्धावस्था में भी सिद्धों का परिणमन कालद्रव्य के आधीन होता है। यह कालद्रव्य का उपकार है।

जिज्ञासा—कालद्रव्य के परिणमन में कोई दूसरा काल आपेक्षित होता है क्या ?

समाधान—नहीं, कालद्रव्य के परिणमन में कोई दूसरे काल द्रव्य का आवश्यकता नहीं होती,

क्योंकि वर्तना अर्थात् परिवर्तन करना उसका स्वयं स्वभाव है। जैसे–आकाश सभी पदार्थों को अवकाश (स्थान) देता है लेकिन स्वयं आकाश के अवकाश के लिए कोई अन्य आधार की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि अवगाह देना उसका स्वभाव है। वह स्वयं प्रतिष्ठित रहता है उसे प्रतिष्ठित होने के लिए अन्य आधार आवश्यक नहीं होता। उसी प्रकार काल का वर्तना रूप स्वभाव है उसकी वर्तना में अन्य किसी की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार के दार्शनिक विषयों को किसी पर हठात् नहीं थोपना चाहिए। कुछ हद तक हम इन बिन्दुओं को रख सकते हैं, किन्तु स्वीकारना, नहीं स्वीकारना यह उनके विचारों पर डिपेण्ड करता है।

निगोदिया जीव को कायिक संज्ञा नहीं दी है। यह किसी दूसरे जीव के शरीर को अपनी काया बनाकर निर्वाह नहीं करता है। हाँ, वनस्पति के आधार पर वे रहते हैं, परन्तु उनको शरीर नहीं बनाते। निगोदिया जीव की संरचना ही इस प्रकार की है।

जीव के वर्णादि का व्यवहार नामकर्म के कारण से होता है। यह पूरा का पूरा रहस्य नामकर्म का है। रागद्वेषादि भाव भी जीव का स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि को यह श्रद्धान होता है। श्रद्धान होने पर ही उन्हें छोड़ने का उपक्रम होता है। ये रागद्वेषादि आत्मा में हो रहे हैं परन्तु आत्मा के स्वरूप नहीं है इनके द्वारा कभी भी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसे प्राप्त करना है उस पर श्रद्धान आवश्यक है। जिस ओर हमें जाना है, उस ओर यदि हमारे कदम न उठें तो भी मुख तो उस ओर कर ही लेना चाहिए। 'राग छोड़ो' यह कहने की अपेक्षा राग मेरा स्वभाव नहीं है यह ज्ञान होना आवश्यक है। लाभ–हानि को हमेशा–हमेशा सामने रखना चाहिए। कई स्थानों पर आचार्यों ने ऐसे उपदेश दिये हैं कि–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

अर्थात् राग करोगे तो बन्ध होगा, नहीं करोगे तो नहीं होगा। वैराग्यभाव से जीव कर्मबन्ध से मुक्त होता है, इसलिए कर्मों में राग मत करो, ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। फिर भी संसारी प्राणी को राग करने में ही रस आ रहा है, उसमें ही आनन्द आता है। यदि राग छुड़वाना चाहते हो तो आचार्य कहते हैं कि पहले उसे राग करने से क्या हानि–लाभ है, उसे बता दो, वस्तु स्थिति का ज्ञान करा दो, इसके बिना राग को छुड़वा नहीं सकते।

सभी भक्त अपने–अपने भगवान् बना लेते हैं, किन्तु भगवान् कभी नहीं कहते कि ये हमारे भक्त हैं, क्योंकि भगवान् वीतरागी हैं। आप भक्ति करो तो ठीक, नहीं करो तो ठीक। वे कुछ नहीं कहते हैं कि ये हमारा आज्ञाकारी है, ऐसा है, वैसा है इत्यादि। आप लाभ लेना चाहते हैं और हानि से बचना चाहते हैं तो विश्वासपूर्वक भक्ति कर लो। विश्वास के बिना भक्ति नहीं होती। भगवान् ने किसी को चक्रवर्ती, कामदेव आदि पद नहीं दिये, भगवान् ने किसी को पुरस्कृत नहीं किया, किन्तु जो भगवान् की भक्ति करता है, उनकी शरण को स्वीकार करता है उसे अपने आप सब कुछ मिल जाता है, अन्यथा

कुछ नहीं। लेकिन भगवान् किसी की भक्ति से प्रसन्न नहीं होते और किसी के द्वारा भक्ति नहीं किए जाने पर किसी से रुष्ट नहीं होते, क्योंकि भगवान् वीतरागी हैं। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना कर दी तो भी भगवान् ने खुश होकर कुछ नहीं कहा, किन्तु संसारी प्राणी अपनी सच्ची मंजिल प्राप्त कर ले इसलिए दिव्य उपदेश जरूर देते हैं। समवसरण तीर्थंकर भगवान् की दिव्य धर्मोपदेश सभा होती है। भगवान् अपने उपदेश में मंजिल प्राप्त करने का मार्ग बता देते हैं लेकिन ऐसा नहीं कहते कि यह हमारा मार्ग है।

दृष्टान्त—आप लोगों के समान भगवान् ने ऐसी दुकान नहीं लगाई कि ग्राहक आता है तो खोल देते हैं, अन्यथा बाँध-बूँध कर बैठ जाते हैं। समवसरण की रचना तो इन्द्र की आज्ञा से कुबेर आदि के द्वारा होती है, यह नियोग है। मैं उपदेश दे रहा हूँ, मेरे लिए यह समवसरण की रचना हुई है, भगवान् कभी भी ऐसा नहीं कहते। चौबीस घण्टे उपदेश नहीं देते, किन्तु दिन में तीन या चार बार लगभग ढाई घण्टे तक प्रतिदिन उपदेश होता है। जो उनके मार्ग को स्वीकार करता है, वही प्रमुख पात्र होता है। पात्रता की बात है। दुकान चलना चाहिए इसके लिए माल दिखाते हैं, थान के थान दिखा देते हैं। लेना है तो ले लो, बहुत बड़ी दुकान है। यह दुकान अभी यहाँ रुकी हुई है, ले लो तुम ले लो, भगवान् ऐसा कभी किसी से नहीं कहते। ग्राहक नहीं आता तो अन्यत्र नहीं ले जाते, एडवटाईज नहीं करते। इन्द्र को चिन्ता होती है तो भव्यों के पुण्योदय से यह समवसरण लग जाता है। भगवान् की दिव्यध्वनि मुख्य पात्र गणधर की उपस्थिति में ही खिरती है, क्योंकि अन्य लोग तो उपदेश सुनकर चले जाते हैं, किन्तु गणधर परमेष्ठी द्वारा जो उपदेश ग्रहण होता है वह अन्य श्रोतागण के पास तक भी पहुँचता है, वे ग्रन्थ रचना करते हैं। भगवान् महावीर स्वामी की ६६ दिन तक दिव्य देशना नहीं खिरी। सौधर्म इन्द्र को चिन्ता हुई वह मुख्य श्रोता इन्द्रभूति गौतम को ले आया। **इन्द्रभूति गौतम** ने आते ही जैसे उचित पात्रता को प्राप्त किया। भगवान् की दिव्यध्वनि खिरना प्रारम्भ हो गई। भगवान् की दिव्यध्वनि में सर्वप्रथम अनगार धर्म का वर्णन होता है, बाद में सागारधर्म का वर्णन होता है। ऐसा होना भी चाहिए। भले ही संख्या कम हो, लेकिन सर्वप्रथम महाव्रती को ही पात्र बनाना चाहिए। यदि सामर्थ्य नहीं है तो श्रावक अणुव्रती रूप पात्र बनाना चाहिए।

उत्थानिका—आगे शिष्य प्रश्न करता है कि पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर और सूक्ष्म जीव होते हैं, ऐसा अन्य ग्रन्थों में लिखा हुआ है, वह क्यों ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥७२॥

अन्वयार्थ—**(जे पज्जत्तापज्जत्ता)** जो पर्याप्त और अपर्याप्त **(सुहुमा बादरा य)** सूक्ष्म और बादर आदि **(जे जीवा)** जो जीव हैं और जो **(देहस्स)** देह की **(जीवसण्णा)** जीव संज्ञाएँ कहीं हैं वह सभी **(सुत्ते)** सूत्र में **(ववहारदो)** व्यवहारनय से **(उत्ता)** कहीं हैं।

अर्थ—पर्याप्त, अपर्याप्त एवं सूक्ष्म और बादर ये सब देह की संज्ञायें हैं। उन्हीं को व्यवहारनय से परमागम में अभेद अपेक्षा से जीव की बतलाई हैं।

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरा ये,
हैं वस्तुतः जड़मयी तन की दशायें।
संसारिजीव इनमें तन पा बसे हैं,
ये जीव हैं इसलिए उपचार से हैं ॥७२॥

व्याख्या—जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर कहा गया है। पर्याप्त और अपर्याप्त शरीर को देखकर परमचैतन्य ज्योति लक्षण वाले शुद्धात्मा से पृथक्भूत जो यह देह है उसी की संज्ञा को परमागम में व्यवहारनय से जीव संज्ञा कही गयी है, इसमें कोई दोष नहीं है।

पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, बादर आदि ये जीव के भेद हैं, ऐसा व्यवहारनय से कहा गया है। देह को जीव संज्ञा व्यवहार से दी गई है। जैसे–घी का घड़ा। वस्तुतः घड़ा तो मिट्टी का है या सोने–चाँदी का है, किन्तु उसमें घी रखा है इसलिए घी का घड़ा कहते हैं। इसी प्रकार जीव शरीर में उत्पन्न होते हैं, देहाश्रित होने से देह की पर्याप्त–अपर्याप्त अवस्था होने के कारण जीव को पर्याप्त–अपर्याप्त संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक और साधारण शरीर होने से जीव को भी प्रत्येक और साधारण संज्ञा शरीर की मुख्यता से दी है। इस गाथा में यह नहीं कहा कि इनमें जीव नहीं है, किन्तु ये सभी अवस्थायें जीव के स्वरूप नहीं हैं। जैसे–यह स्वर्ण से विपरीत तत्त्व है फिर भी उसमें स्वर्ण का अस्तित्व रहता है। इसलिए उसे स्वर्ण–पाषाण कहते हैं और जिसमें पाषाण नहीं है वह स्वर्ण है। कोई भी आभरण स्वर्ण से निर्मित होते हैं, स्वर्णपाषाण से नहीं। अतः स्वर्ण, स्वर्णपाषाण और स्वर्ण का आभरण ये तीन चीजें हो गई। १०० टंच सोने को स्वर्ण कहते हैं। स्वर्णपाषाण को स्वर्ण नहीं कहते। जैसे–५० किलो का स्वर्ण पाषाण है, उसमें ५० तोला स्वर्ण है। उस ५० तोले सोने को गले में नहीं पहना जाता। जबतक सोने पर आवरण रहता है, तब तक वह आभरण नहीं माना जाता। उसी प्रकार यह जीव का शरीर है। यह कहते हैं, कि शरीर का जीव है ऐसा नहीं कहते हैं। जब मरण होता है, तो शरीर गया ऐसा नहीं कहते हैं। प्राण गये ऐसा कहते हैं, यह मृतक शरीर है ऐसा कहते हैं।

जीव के रहने से जंगम और जीव निकल जाने से अजंगम (स्थावरशरीर) यहीं पड़ा रह जाता है। शरीर के पास जड़त्व होता है, इसमें जानने की शक्ति नहीं होती। शरीर के माध्यम से जीव चलता है। यह शरीर चलने के स्वभाव वाला नहीं है। इसी के कारण संसारी प्राणी को दुःख उठाना पड़ रहा है। यह आत्मा जाननहारा होकर भी जड़ के पीछे लगा हुआ है, यह मूर्खता है। कोई मर जाता है तो रोना प्रारम्भ कर देते हैं। **अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं** ये कार–गाड़ी आदि अपने आप नहीं चलते हैं। जैसा कि कल कहा था–शब्द का उत्पादन कोई नहीं कर सकता। घड़ी में अलार्म भर देते हैं तो बहुत देर तक वह णमोकार मन्त्र बोलती रहती है। यह मन्त्र कैसिट में भरा जाता है, इसके बिना वह नहीं बोल सकती। इसके द्वारा शब्दों का उत्पादन नहीं किन्तु उद्घाटन

होता है। उत्पादन और उद्घाटन में बहुत अन्तर है। वह घड़ी स्वयं णमोकार मन्त्र का उत्पादन नहीं करती है। शब्दों का उत्पादन योगों के माध्यम से होता है जबकि घड़ी में योग नहीं है। अतः घड़ी शब्दों का उत्पादन नहीं करती किन्तु उद्घाटन करती है। शब्द के माध्यम से अर्थ का उद्घाटन होता है किन्तु शब्द आत्मा के माध्यम से ही उत्पन्न होते हैं।

शब्द दो प्रकार के हैं—१. भाषात्मक और २. अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द के भी दो भेद हैं—१. साक्षर और २. निरक्षर। शब्द की यह विशेषता होती है कि वह स्वयं शब्द नहीं सुनता है, शब्द तो कानों से सुने जाते हैं। लेकिन कान शब्दों को बाँध नहीं सकते। अर्थात् जैसे—रस चखते समय मिठाई को, या कोई भी पदार्थ को मुँह में थोड़ी देर तक रखा जा सकता है। सूंघते समय सूँघने योग्य पदार्थ देर तक नासिका के पास रुका रहता है। देखते व स्पर्श करते समय भी तद्योग्य पदार्थ थोड़ी देर उन-उन इन्द्रियों के निकट रुके रहते हैं, लेकिन शब्द कर्ण इन्द्रिय का विषय है वह कर्ण का विषय बनकर रुकता नहीं है, किन्तु कर्ण को स्पर्श करता हुआ शब्द आगे बढ़ जाता है। फिर भी कैसिट वगैरह से पुनः सुन सकते हैं। कार्बन कॉपी जैसे शब्द होते हैं।

दृष्टान्त—जैसे कार्बन कॉपी करते समय एक कागज के ऊपर एक कार्बन पुनः एक कागज, एक कार्बन रखना होता है। कार्बन के नीचे कार्बन रखने से कॉपी नहीं होती। प्रथम पृष्ठ पर जो शब्द हैं तथा कार्बन कॉपी के जो शब्द हैं उनमें अन्तर होता है। जो प्रथम बार कागज पर शब्द लिखे जाते हैं वे ओरीजनल होते हैं। अथवा जो प्रथम बार बोले जाते हैं वे ओरीजनल होते हैं। पश्चात् जो कैसिट रिकार्डिंग आदि के शब्द हैं वे कार्बन कॉपी की तरह होते हैं। प्रथम बार जो शब्द निकलता है वही खरा होता है। बाकी नहीं। शेष शब्द कार्बन कॉपी रूप हैं।

व्यवहारनय से देह को दृष्टि में रखकर ही जीव को बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञा दी जाती है। ऐसा कहने में कोई दोष भी नहीं है। यह भी जिनवाणी है। व्यवहार से इस पर श्रद्धान करने से व्यवहार सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यदि एकान्त से जिनवाणी को स्वीकार किया जायेगा तो सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? भगवान् शुद्ध-बुद्ध हैं, सजीव हैं, फिर भी स्थापना निक्षेप से अरिहन्त परमेष्ठी को भगवान् कहते हैं। जिनबिम्ब को देखने से तिर्यंच को भी सम्यग्दर्शन होता है। सोचिए, व्यवहार क्या-क्या काम करता है। निश्चय बाद में काम करेगा, व्यवहार पहले काम करता है। भगवान् कौन होते हैं ? जो क्षुधादि अठारह दोषों से रहित होते हैं वे भगवान् होते हैं। आचार्य कहते हैं कि—जीव होते हुए भी जिनमें रागद्वेष आरम्भ-सारम्भ आदि नहीं होते वे वीतरागी होते हैं।

आज बहुत लम्बी-चौड़ी चर्चायें चल रही हैं, सब सिर के ऊपर से जा रही हैं, अर्थात् समझ में नहीं आ रही हैं। आप रागद्वेष सहित हैं, अर्थात् रागी-द्वेषी हैं, अतः आपको भगवान् नहीं कहा जाता है। हमारे भगवान् तो वे हैं जो वीतरागी हैं। व्यवहारनय का जो विषय होता है वह निश्चय से पृथक् होता है।

जिज्ञासा—अरहन्त भगवान् स्वभाव रूप हैं या विभाव रूप ?

समाधान—अरहन्त भगवान् अभी पूर्ण स्वभाव रूप नहीं हैं। अरहन्त परमेष्ठी अभी संसार में हैं ये बात अलग है कि उनके अन्दर संसार नहीं है। वे जिस रूप में हैं उन्हें उस रूप में स्वीकार करना चाहिए। फिर भी अरहन्त परमेष्ठी को स्वरूपनिष्ठ नहीं कह सकते। यदि कोई कहे अरहन्त भगवान् जब स्वभावनिष्ठ नहीं हैं तो विभाव रूप हैं और विभावरूप अरहन्त का चिन्तन करने से सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ? ऐसा उनका कहना ठीक नहीं है। आप्त भगवान् सर्वज्ञ होते हैं।

मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह गुणस्थान जीव के स्वरूप नहीं हैं। आप्त भगवान् १३ वें व १४ वें गुणस्थानवर्ती होते हैं। १३ वें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ बोलते हैं, उपदेश देते हैं। बोलना आत्मा का स्वभाव नहीं है तो फिर क्यों बोल रहे हैं। चूँकि वे हितोपदेशी भी होते हैं अत: दिव्य उपदेश देते हैं। यह सब कथन विवक्षा के अनुसार किया जाता है। विवक्षाओं को समझने का प्रयास करना चाहिए। विवक्षाओं को समझने से सभी समाधान हो जाते हैं।

इस प्रकार जीवस्थान और उसके आश्रित वर्णादिक ये सभी निश्चय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। इस प्रकार के कथन को लेकर तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—अब बाहर में जो वर्णादिक हैं वे शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। इतना ही नहीं किन्तु अन्तरंग में होने वाले मिथ्यात्वादि गुणस्थान रूप रागादिक भी शुद्धनिश्चय से जीव के स्वरूप नहीं है, इसी को बतलाते हैं–

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥७३॥

अन्वयार्थ–(मोहणकम्मस्सुदया) मोहनीय कर्म के उदय से **(जे इमे)** जो यह **(गुणट्ठाणा)** गुणस्थान **(दु वण्णिदा)** वर्णन किये गये हैं **(ते जीवा)** वे जीव **(कह हवंति)** कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि **(ते)** वे **(णिच्चमचेदणा)** सदा अचेतन **(उत्ता)** कहे गये हैं।

अर्थ—मोहनीय कर्म के उदय से जो यह गुणस्थान कहे गए हैं, वे किस प्रकार से जीव हो सकते हैं ? क्योंकि वे सदा ही अचेतन हैं, शुद्ध चेतना से भिन्न हैं।

हों मोह के उदय में गुण थान सारे,
माने गये परम आतप से निराले।
जो हैं अचेतन निकेतन मूर्त्त भाई,
तो जीव होय किस भाँति अमूर्त्त थाई ॥७३॥

व्याख्या—परम चैतन्य परमात्मतत्त्व से विपरीत स्वभाव वाले अनादि अविद्या संतान से प्राप्त हुए मोहकर्म के उदय से होने वाले गुणस्थान हैं, वे जीव के कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते,

क्योंकि वे अचेतनमय हैं। यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से ये गुणस्थान चेतन हैं तथा विकार हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से वे सब सदा अचेतन हैं। अशुद्धनिश्चयनय यद्यपि द्रव्यकर्म आदि की अपेक्षा से अन्तरंग में होने वाले रागादि भावों को चेतन मानकर निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है फिर भी वास्तव में वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है। इस प्रकार का व्याख्यान निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय में सर्वत्र समझना चाहिए।

गुणस्थानों में स्वरूपनिष्ठ ज्ञानचेतना नहीं पायी जाती। मोहनीय कर्म के उदय से गुणस्थान होते हैं, ऐसा जो कहा गया है वह अध्यात्मग्रन्थों में मोहनीय को प्रधान करके कहा गया है। मोहनीय कर्मोदय के साथ जो कर्म बँधते हैं वही टिकते हैं। यह प्रक्रिया दसवें गुणस्थान तक चलती है। आस्रव दो प्रकार का होता है–१. साम्परायिक आस्रव और २. ईर्यापथ आस्रव। ईर्यापथ आस्रव एक समय वाला होता है। तथा साम्परायिक आस्रव कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक ७० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति वाला होता है। १० वें गुणस्थान तक साम्परायिक व ११, १२, १३ वें गुणस्थान में ईर्यापथ आस्रव होता है।

कदलीतरु का अर्थ केले का वृक्ष। इसकी एक विशेषता होती है कि यह एक बार ही फल देता है इसलिए लोग केले की खेती सोच समझकर करते हैं। कितना भी हरा-भरा वृक्ष क्यों न हो वह एक बार ही फल देता है। फल देने के बाद उसको वहीं के वहीं लुढ़का देते हैं। लेकिन यह ध्यान रखना कि वह उसी जगह संतान छोड़ देता है। इसी प्रकार कर्म सन्तान का क्रम भी रात-दिन चला आ रहा है, आज तक यह क्रम मिटा नहीं, इसीलिए **बारह भावना** में कहा है कि–

पहली सबके होय नहीं, कछु सरै काज तेरा,
दूजी करै जु उद्यम करके मिटै जगत् फेरा।

अर्थात् सविपाक निर्जरा हमेशा अन्त में फल देकर कर्मरूप सन्तान देकर जाती है मोह और योग के माध्यम से गुणस्थान होते हैं। जहाँ जीव रहते हैं उसे जीव कह दें यह गलत है। गुणस्थान में जीव रहते हैं, इसलिए ये गुणस्थान जीव के हैं यह कहना व्यवहार है। बड़ा विचित्र है विषय। यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से गुणस्थान जीव के हैं किन्तु शुद्धनिश्चयनय से यह सर्वकाल अचेतन हैं।

दृष्टान्त–जैसे–जहाँ आवाज है, इसका मतलब है कि वहाँ कोई रहता है। कोई रहता है तभी तो आवाज है और आवास है, अन्यथा विमोचितावास है। जहाँ कोई रहता नहीं है वह आगार नहीं शून्यागार है। जहाँ पहले रहते थे लेकिन अब शून्य है कोई रह नहीं रहा है, इसलिए शून्यागार है। श्मशान को न शून्यागार कहते हैं, न ही विमोचितावास, उसे तो भूतों का आवास कहा जाता है। उसी प्रकार जिनमें जीव रहते हैं वे गुणस्थान हैं। वे एकान्त से न जीव रूप हैं न पुद्गल रूप किन्तु मोहकर्म के उदय में होने वाली जीव की विकृतिरूप हैं।

कुछ लोगों को चतुर्थ गुणस्थान कहते ही आनन्द की लहर आ जाती है। सोचना चाहिए कि यह लहर क्यों आती है ? यह व्यवहार की लहर है या निश्चय की लहर है ? चतुर्थगुणस्थान कहते ही चौदहवाँ गुणस्थान भी गौण हो जाता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण है और सम्यग्दर्शन चतुर्थगुणस्थान में होता है, अतः जो मुक्ति का कारण होता है, उसे आदर के साथ, विश्वास के साथ स्वीकारा जाता है। ऐसा करना तो चाहिए, यह गलत नहीं है, लेकिन यह स्वभाव है या विभाव ? जीव का स्वरूप है या नहीं, इस बात को भी उतने ही आदर और विश्वास के साथ स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार जब चतुर्थगुणस्थान जीव का स्वरूप नहीं है तो आगे के गुणस्थान भी जीव के स्वरूप नहीं हैं। मिथ्यात्व भी एक गुणस्थान है वह जीव का स्वरूप कैसे भी नहीं है तो आगे के गुणस्थान चूँकि गुणस्थान होने के कारण जीव का स्वरूप नहीं हैं। ऐसा श्रद्धान करना चाहिए, यदि ऐसा श्रद्धान कर लें तो विसंवाद नहीं होंगे। वस्तुस्थिति जैसी है वैसी समझना चाहिए।

दृष्टान्त—जैसे–एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी को पढ़ा रहा है। पढ़ाने वाला विद्यार्थी अपने आपको मास्टर मानने लगता है तो दूसरा कहता है कि यह विद्यार्थी है और अपने आपको मास्टर मानने लगा है। फिर भी मास्टर ऑफ आर्ट नहीं कह सकते। अभी तो दोनों एम० ए० के छात्र हैं। अभी दोनों ही पढ़ रहे हैं। जब तक उसका प्रमाणपत्र नहीं मिलता तब तक वह छात्र है। दो कक्षा पास करने के बाद ही वह मास्टर होगा। अभी एक कक्षा पास नहीं हुई और अपने आपको मास्टर मान रहा है, यह गलत है। ७३० दिन के उपरान्त जो पद मिलने वाला है वह एक दिन पढ़ा नहीं कि अपने आपको उस पद पर आसीन मानने लग जाए, यह ठीक नहीं, उपाधि तो परीक्षा देने के उपरान्त ही मिलती है। बिना पढ़े परीक्षा देने पर जब रिजल्ट निकलेगा और फेल हो जायेंगे तो सब बच्चे कहेंगे कि फेल हो गया। इस ओर व्यवहार की सीमा है तो उस ओर निश्चय की सीमा है।

अशुद्धनिश्चय से जो वर्णादि जीव के बताये गये हैं उनको स्वरूप से अधिक बहुमान देना भी गलत है। अतिशयोक्ति कुछ सीमा तक चल जाती है, किन्तु वह समीक्षा नहीं मानी जाती। समीक्षा को मीमांसा, निरीक्षण, परीक्षण, समालोचना भी बोल सकते हैं, किन्तु उसमें प्रशंसा का एक भी वाक्य नहीं रह सकता। अतिशयोक्ति समीक्षा के अन्तर्गत नहीं आती। चतुर्थगुणस्थान का बहुमान या प्रशंसा अतिशयोक्ति आदि सब करो, लेकिन शुद्धनिश्चय की अपेक्षा मत करो। चतुर्थ गुणस्थान अशुद्धनिश्चयनय का विषय है अतः अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा करो। अशुद्धनिश्चयनय के विषय को शुद्धनिश्चयनय का मानने वाला निश्चयाभासी माना जायेगा और अशुद्धनिश्चयनय के विषय को एकान्त से व्यवहारनय का मानने वाला व्यवहाराभासी माना जायेगा, क्योंकि वह शुद्ध–अशुद्ध, निश्चय–व्यवहार की समीचीन पद्धति को नहीं जानता है। एक शब्द कहो या हजार शब्द, एक बार कहो या हजार बार कहो, समीक्षा में बार–बार कहने की आवश्यकता नहीं होती। प्रशंसा में बार–बार कहना आवश्यक होता है किन्तु समीक्षा में एक बार एक शब्द या एक वाक्य पर्याप्त होता है जैसे कि इसका

रूप ऐसा होना चाहिए था, इतना कहना काफी होता है। समीक्षा में उद्धरणों की आवश्यकता नहीं होती। उद्धरणों के द्वारा पाठक को विषय की ओर लाया जा सकता है।

इसी प्रकार हमें स्वरूप की ओर देखना है तो कौन-कौन सी चीज स्वरूप नहीं है यह जानना आवश्यक होता है। गुणस्थान आदि जीव के स्वरूप नहीं होते। इनको तद्रूप नहीं कहते तो इन्हें अतद्रूप भी नहीं कहा जा सकता। वे गुणस्थान आदिक दूसरे द्रव्य के रूप नहीं हैं किन्तु जीव के स्वरूप भी नहीं हैं। जो स्वरूप नहीं होता वह अशुद्धनिश्चयनय का विषय होता है।

दृष्टान्त—जैसे लैम्प या दीपक प्रकाश देता है, तेल को जलाता है, धूम्रदान भी करता है। अतः अग्नि का कार्य केवल प्रकाश देना ही नहीं है, किन्तु धूम्रदान देना भी है। इसलिए कहते हैं कि– ''अस्मिन् पर्वते वह्नि, धूमवत्त्वात्'' धूम ज्ञापक कारण है, अग्नि कार्य है? धूम का उत्पन्न होना भी अग्नि का कार्य है। इसी प्रकार गुणस्थान के साथ कर्मनष्ट होकर श्रद्धान उद्घाटित होता है। श्रद्धा उद्घाटित होने में कर्मक्षय कारण होता है। मिथ्यात्व प्रकृति के विनाश के कारण श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा कार्य है प्रकृति का क्षय कारण है। धूम अग्नि का लक्षण नहीं है अतः जहाँ-जहाँ पर अग्नि है वहाँ-वहाँ पर धूम्र हो यह जरूरी नहीं है। उसी प्रकार जहाँ-जहाँ पर जीव है वहाँ-वहाँ गुणस्थान होता ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है, लेकिन जहाँ गुणस्थान होता है वहाँ जीव का अस्तित्व नियम से होता है। अशुद्धनय से संसारी जीव जहाँ-जहाँ पर हैं वहाँ-वहाँ पर निश्चित रूप से गुणस्थान पाये जाते हैं।

श्रद्धान तार्किक एवं आगमिक होता है। आगमिक लक्षण यही है कि गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है, किन्तु गुणस्थान का अस्तित्व जीव के बिना नहीं होता। गुणस्थान वैभाविक परिणति है क्योंकि ये मोह और योग के कारण आत्मा में उत्पन्न होते हैं। द्रव्यकर्म के निमित्त से जो रागादि भाव जीव के होते हैं, वे अशुद्धनिश्चयनय के विषय होने पर भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय के विषय कहे जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे सरोवर है, उसमें तरंगें हैं, पर तरंग उसका स्वभाव नहीं है, क्योंकि जोर से हवा चलने पर ही तरंगें उठती हैं। जब हवा नहीं होती है तो सरोवर तरंग रहित शान्त होता है। तरंग जहाँ है वहाँ सरोवर है किन्तु जहाँ सरोवर है उसमें तरंग हों ही यह अनिवार्य नहीं है। उसी प्रकार सिद्धावस्था में तरंग के समान गुणस्थान नहीं होते हैं, क्योंकि वहाँ गुणस्थान उत्पत्ति का कारण मोह और योग का अभाव होता है। लेकिन अशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत गुणस्थान जहाँ होते हैं, वहाँ संसारी जीव का अस्तित्व नियम से होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि गुणस्थान जीव का स्वभाव नहीं है। अशुद्धनिश्चयनय से वर्णादि या गुणस्थान आदि को चेतना का पुट होने के कारण जीव के कहे जाते हैं। आगम में तो यह भी कहा है कि–कर्म में भी चेतना का पुट होता है, अन्यथा वह जीव में वैभाविक भाव उत्पन्न करने की क्षमता कैसे रखता है। स्पष्ट है कि जीव के वैभाविक परिणामों के निमित्त से कर्म उत्पन्न होते हैं।

धवला में एक प्रकरण बहुत अच्छा आया था, भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय का। जीव का जब से भव (नया जन्म) प्रारम्भ होता है तब से वैसा का वैसा बना रहना यह भवप्रत्यय है। सत्संग के प्रभाव से गुणों में वृद्धि होती है तो सन्त–समागम के अभाव में गुणों में कमी आ जाती है। जैसे–बुद्धि का विकास गुणप्रत्यय रूप होता है। कुछ खाद्य पदार्थ के सेवन से भी बुद्धि का विकास एवं शरीर के रंग आदि में भी परिवर्तन देखा जाता है। जैसे–हमेशा–हमेशा ए॰ सी॰ में रहने से शरीर का रंग अलग होता है। ऐसा भी कहते हैं कि–''जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन''। अर्थात् सात्विक भोजन का बुद्धि पर भी प्रभाव होता है। सात्विक भोजन का परिणाम सात्विक होता है यह गुणप्रत्यय माना जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि के निमित्त से औदयिकभाव होता है। आगम में कहा है–''**द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावादिनिमित्तवशात् कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः**।'' औदयिकभाव से नोकर्म आदि सब परिवर्तित हो जाते हैं, इसलिए रागादि जीव के स्वरूप नहीं हो सकते। रागादि भावों का उपादान अशुद्ध जीव होता है। उनके होने में निमित्त रूप से द्रव्यकर्म रूप पुद्गल काम करता है। अतः रागादि भाव अशुद्धनिश्चयनय से विकारी चेतना के परिणाम हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय शुद्ध जीव के परिणामों को ही कहता है अतः इसके विचार में तो वे सब पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल के निमित्त से होने वाले ही हैं, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार अभ्यन्तर में जैसे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान जीव के स्वरूप नहीं हैं, वैसे ही रागादिक भी शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा कथन करते हुए आठ गाथायें पूर्ण हुईं।

इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा तीसरे अन्तराधिकार का व्याख्यान किया गया।

जिज्ञासा—यहाँ पर कोई शंका करता है कि रागादि जीव के स्वरूप नहीं हैं, ऐसा **जीवाधिकार** में बता चुके हैं, वही बात इस अजीवाधिकार में कही गई है, यह पुनरुक्त दोष नहीं है क्या ?

समाधान—आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं कि यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है, क्योंकि पहले ही प्रतिज्ञा की थी कि यहाँ तक जो बात हुई है उसी को विस्तार रुचि वाले शिष्यों के लिए नव अधिकारों से उसी **समयसार** का व्याख्यान करके विस्तृत विवेचन करेंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ **समयसार** का संक्षेप में व्याख्यान किया था और यहाँ विस्तार से है। हाँ, यदि हमने समयसार को छोड़कर अन्य किसी का व्याख्यान किया होता तो प्रतिज्ञा भंग होती और दोष होता लेकिन यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है अपितु गुण ही है।

किसी भी वस्तु का धारा प्रवाह कथन करने में यह वह नहीं है ऐसा विधि–निषेध रूप से कथन करने में पुनरुक्त दोष नहीं आता। कोई भी वस्तु 'ऐसी है' यह विधि रूप तथा 'ऐसी नहीं है' यह निषेध रूप कथन होता है। यह तो भावनात्मक ग्रन्थ है, इसलिए इसमें **परमात्मप्रकाश, समाधिशतक** आदि ग्रन्थों की भाँति पुनरुक्त दोष नहीं है, किन्तु जो जिसका रसिक होता है उसके लिए उसी का बार–बार

कथन करने पर पुनरुक्त दोष नहीं आता है, किन्तु उसके विषय की पुष्टि होती है। अथवा यूँ समझो कि वहाँ पर जीवाधिकार में जीव की मुख्यता है और यहाँ अजीवाधिकार में अजीव की मुख्यता है। ''जहाँ पर जिसकी विवक्षा होती है वह वहाँ मुख्य समझा जाता है।'' अथवा वहाँ सामान्य कथन है और यहाँ पर उसी का विस्तार है। अथवा वहाँ जीव रागादिक से भिन्न होता है, ऐसा विधिपरक व्याख्यान है। जैसे–एकत्वभावना और अन्यत्वभावना में विधि–निषेध कथन है वैसा ही यहाँ है। एकत्वभावना में अपने अस्तित्व का बोध होता है और अन्यत्व भावना में ये मेरी नहीं है, ये मेरा नहीं है, मेरे में दूसरे का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि ये मेरे से पृथक् हैं, उसमें मेरा कुछ नहीं है, मुझमें उसका कुछ नहीं है। मेरे में दूसरा नहीं आ सकता तो दूसरा मेरा कैसे हो सकता है। यह है अन्यत्व भावना।

इस प्रकार के कथनों के द्वारा एवं इस प्रकार के चिन्तन के द्वारा उत्साह बढ़ता है तथा जागृति आती है, तत्त्व का समीचीन स्वरूप विचार में आता है। जीव में सुख–शान्ति की प्राप्ति होती है। जैसे–कहीं से फोन आया कि आपकी दुकान में आग लग गई है। सुनकर वह घबड़ा जाता है। लेकिन तुरन्त फोन आया कि आपकी दुकान में आग नहीं लगी है, वह तो किसी और की थी तो ऐसा सुनकर वह चैन का अनुभव करता है। अर्थात् वह दुकान मेरी नहीं है, यह ज्ञान होने पर या अन्यत्व का ज्ञान होने पर ही ऐसा हुआ। इसी प्रकार शरीर में गड़बड़ी होने पर पड़ोस में गड़बड़ी हुई है, आत्मा में नहीं ऐसा अन्यत्व भावना से सोचने पर तत्त्वज्ञान के प्रति जागृति आ जाती है। इस प्रकार पूर्व शंका का पाँच प्रकार से परिहार किया गया।

इस प्रकार जीव और अजीव जीवाजीवाधिकार रूप रंगभूमि में श्रृंगार सहित पात्र के समान व्यवहारनय से एकरूपता को प्राप्त हुए प्रविष्ट हुए थे सो निश्चयनय से श्रृंगार रहित पात्र के समान पृथक्–पृथक् होकर निकल गये।

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई गयी शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप लक्षण वाली **तात्पर्यवृत्ति** नामक **समयसार** की व्याख्या में तीन स्थलों के समुदाय रूप तीस गाथाओं द्वारा यह **अजीवाधिकार** समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट

गाथानुक्रमणिका